[प्रवचनरत्नाकर ग्रंथमाला पुष्प ५]

प्रवचनरत्नाकर

भाग-५

समयसार गाथा १४५ से १८० तक
पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचन

सम्पादक :
डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम०ए०, पीएच० डी०

अनुवादक :
पण्डित रतनचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम०ए०, बी०एड०

प्रकाशक :
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२ ०१५

प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी)

भाग १ : प्रथम तीन आवृत्ति : ७४००

भाग २ : प्रथमावृत्ति : ५००० (जून १९८२)

भाग ३ : प्रथमावृत्ति : ५००० (जुलाई, १९८३)

भाग ४ : प्रथमावृत्ति : ५२०० (२६ जनवरी १९८६)

भाग ५ : प्रथमावृत्ति : ५२०० (२६ जनवरी, १९८६)

प्रवचनरत्नाकर (गुजराती)

भाग १ : प्रथमावृत्ति : ५०००

भाग २ : प्रथमावृत्ति : ५०००

भाग ३ : प्रथमावृत्ति : ५०००

भाग ४ : प्रथमावृत्ति : ५०००

भाग ५ : प्रथमावृत्ति : ५०००

भाग ६ : प्रथमावृत्ति : ५०००

भाग ७ : प्रथमावृत्ति : ५०००

भाग ८ : प्रथमावृत्ति : ५०००

भाग ९ : प्रथमावृत्ति : ५०००

भाग १० : प्रथमावृत्ति : ५०००

मूल्य : दस रुपये

मुद्रक :

प्रिन्ट 'ओ' लॅण्ड

मरवा हाऊस, न्यू कालोनी

जयपुर–१

प्रकाशकीय

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्दकृत महान ग्रन्थराज समयसार पर हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का संकलन "प्रवचन-रत्नाकर भाग ५" प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

पूज्य स्वामीजी इस युग के सर्वाधिक चर्चित आध्यात्मिक क्रान्तिकारी महापुरुष हो गए हैं। वर्तमान में दृष्टिगोचर दिगम्बर जैनधर्म की अभूतपूर्व धर्मप्रभावना का श्रेय पूज्य स्वामीजी को ही है। उनका कार्यकाल दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का स्वर्णयुग रहा है।

पूज्य स्वामीजी के उपकारों को दिगम्बर जैन समाज हजारों वर्षों तक भी नहीं भुला सकेगा। उनकी भवतापनाशक वाणी के प्रताप से हम जैसे लाखों पामर प्राणियों ने दिगम्बर जिनधर्म का वास्तविक स्वरूप समझा है। जन्मजात दिगम्बर जैन होते हुए भी हमें धर्म के सच्चे स्वरूप का भान भी न था। धर्म की आत्मा को पहचाने बिना हम बाह्य क्रियाकाण्ड में ही उलझ रहे थे। पूज्य स्वामीजी के निश्चय व्यवहार की सन्धिपूर्वक हुए प्रवचनों ने हमारी आंखें खोल दी हैं। उनके प्रताप से लाखों दिगम्बर जैन भाई-बहिनों ने दिगम्बर जिनधर्म का सच्चा स्वरूप पहचाना है तथा हजारों श्वेताम्बर भाईयों ने भी दिगम्बर धर्म स्वीकार किया है।

यद्यपि आज वे हमारे बीच में नहीं हैं, तथापि उनके प्रताप से निर्मित ६१ दिगम्बर जिन मंदिर एवं लाखों की संख्या में प्रकाशित सत्साहित्य हमें हजारों वर्षों तक सत्य का दर्शन कराता रहेगा।

समयसार ग्रन्थ ने स्वामीजी की जीवनधारा में क्रान्तिकारी मोड़ उत्पन्न किया है। स्थानकवासी साधु अवस्था में वि. सं. १९७८ (सन् १९२१ ई.) की किसी महान मंगलमय घड़ी में समयसार ग्रन्थ को पाकर

उनकी अन्तःचेतना में सुषुप्त संस्कार झनझना उठे। उन्होंने दिगम्बर जिनधर्म की समीचीनता स्वीकार करते हुए वि.सं. १९९१ (सन् १९३४ ई.) में महावीर जयन्ती के दिन सोनगढ़ में मुंहपट्टी त्यागकर दिगम्बर श्रावक के रूप में जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया। तब से ४५ वर्षों तक उनके श्रीमुख से निरन्तर जिनागम का अमृतरस झरता रहा, जिसका पानकर लाखों लोगों के जीवन में आध्यात्मिक क्रान्ति हुई है।

श्री षट्खण्डागम भाग १, समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, बृहद्द्रव्यसंग्रह, मोक्षमार्गप्रकाशक, तत्वार्थसार, आत्मानुशासन, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पद्मनन्दिपंचविंशतिका, समयसारकलशटीका, नाटकसमयसार, छहढाला आदि अनेक ग्रन्थों पर प्रवचनों के माध्यम से उन्होंने अनेकान्त, वस्तुस्वातन्त्र्य, कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध, क्रमबद्धपर्याय, निमित्त-उपादान आदि जैनदर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों की आगम एवं युक्ति संगत व्याख्या करके जिनशासन की अद्वितीय सेवा की है। उनके प्रवचनों के प्रभाव से जिनागम का प्रत्येक सैद्धान्तिक पहलू तथा जिनागम की प्रतिपादन शैली – स्याद्वाद, निश्चय-व्यवहार तथा प्रमाण-नय-निपेक्ष आदि का स्वरूप भी जन-जन में चर्चित हो गया है।

अध्यात्म के गूढ रहस्यों का सांगोपांग विवेचन उनकी वाणी की महत्वपूर्ण विशेषता रही है। उनके द्वारा प्रतिपादित स्वानुभूति का स्वरूप, विषय एवं उसके पुरुषार्थ का विवेचन चिरकाल तक स्वानुभूति की प्रेरणा देता रहेगा।

लगभग ५० वर्ष पूर्व जहां सम्पूर्ण सौराष्ट्र में दिगम्बर जिनबिम्ब के दर्शन भी दुर्लभ थे, वर्तमान में उनके प्रताप से न केवल सौराष्ट्र में, अपितु सारे भारत में ६१ जिनमंदिरों का निर्माण हुआ है। उनके कर-कमलों द्वारा सम्पन्न ३३ पंचकल्याणक एवं ३० वेदीप्रतिष्ठा महोत्सवों के माध्यम से हजारों वीतरागभाववाही दिगम्बर जिनबिम्बों की स्थापना हुई है। उनके प्रभावनाकाल में नैरोबी (अफ्रीका) में हुआ विशाल पंचकल्याणक महोत्सव अविस्मरणीय है। सोनगढ़ में निर्मित सीमन्धरस्वामी दिगम्बर जिनमन्दिर, समवशरण, मानस्तम्भ, कुन्दकुन्द प्रवचन-मण्डप, श्री महावीर कुन्दकुन्द परमागम-मन्दिर आदि उनके हृदय में विद्यमान जिनेन्द्र भक्ति के अमर स्मारक हैं।

स्वाध्याय के क्षेत्र में पू० स्वामीजी ने अभूतपूर्व क्रान्ति की है। उनके प्रवचनों के प्रभाव से समाज में स्वाध्याय की प्रवृत्ति को यथार्थ दिशा मिली है। नयविवक्षापूर्वक जिनवाणी का भावार्थ हृदयंगम करते हुए स्वाध्याय करने की परम्परा का विकास उन्हीं की देन है।

उनके बालब्रह्मचर्य के तेज एवं वैराग्यरस से ओत-प्रोत जीवन, सरल भाषा और प्रवाहमयी व आल्हादपूर्ण प्रवचन शैली से प्रभावित होकर प्रत्येक व्यक्ति उनका हुए बिना नहीं रहता। उनकी वैज्ञानिक एवं तर्कसगत व्याख्या से स्वाध्याय की प्रेरणा पाकर देश-विदेश में सैकड़ों स्थानों पर मुमुक्षु-मण्डलों की स्थापना हुई है, जिसमें संचालित नियमित शास्त्रसभाओं में लाखों भाई-बहन जिनागम का अभ्यास करते हैं।

सत्साहित्य का प्रकाशन स्वामीजी के प्रभावना योग की महत्वपूर्ण देन है। श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर; श्री वीतराग सत्साहित्य ट्रस्ट, भावनगर; श्री कुन्दकुन्द-कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट, बम्बई आदि १५ प्रकाशन संस्थाओं से लगभग ४० लाख की संख्या में विभिन्न प्रकाशन हो चुके हैं, तथा यह क्रम अभी भी निरन्तर जारी है और विशेषता यह है कि इन सभी ग्रंथों का विक्रय मूल्य लागत से भी कम रखा जाता है।

तत्त्वप्रचार के सशक्त माध्यम शिक्षण-शिविर प्रणाली का जन्म भी पूज्य स्वामीजी की देन है। सोनगढ़ में ग्रीष्मावकाश में बाल शिक्षण-शिविरों तथा श्रावण मास में प्रौढ़ शिक्षण-शिविरों का आयोजन प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे सारे देश में शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर लगने लगे। सोनगढ़ में प्रवचनकार प्रशिक्षण शिविर भी आयोजित किये गये। गत दो दशकों में तो सारे देश में सैकड़ों शिक्षण-शिविर आयोजित हुए हैं।

पूज्य स्वामीजी के कर-कमलों द्वारा उद्घाटित श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर इन दिनों तात्त्विक गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र है। इस ट्रस्ट की ओर से पूज्य स्वामीजी की वाणी जन-जन तक पहुँचाने के पावन उद्देश्य से वीतराग-विज्ञान मासिक पत्र प्रकाशित किया जा रहा है, जिसके एक वर्ष के अल्पकाल में ही ६००० ग्राहक बन चुके है। जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक) पत्र का प्रकाशन भी यहाँ से किया जाता है, जिसने समाज में अच्छी ख्याति अर्जित की है। बालकों में तत्त्वज्ञान और सदाचार के संस्कार डालने हेतु देश में लगभग ३७३ वीतराग-विज्ञान पाठशालायें चल रही हैं। विद्यार्थियों की परीक्षा की व्यवस्था के लिए वीतराग-विज्ञान

विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड की स्थापना की गई है, जिसकी परीक्षाओं में प्रतिवर्ष लगभग २०००० विद्यार्थी सम्मिलित होते हैं।

बालकों को वैज्ञानिक पद्धति से धर्म-शिक्षा देने हेतु अध्यापकों को प्रशिक्षित करने के लिए प्रतिवर्ष ग्रीष्मकाल में बीस दिवसीय प्रशिक्षण शिविर आयोजित करने की शृंखला में मई १९८६ तक आयोजित २० शिविरों में ३६२६ अध्यापक प्रशिक्षित किए जा चुके हैं।

दिगम्बर तीर्थों के प्रति अत्यन्त भक्ति से प्रेरित होकर पूज्य स्वामी जी ने वि.स. २०१३ व २०२० में सारे भारत के तीर्थों की ससंघ वन्दना भी की।

पूज्य स्वामीजी के उपदेशों के प्रभाव से तीर्थक्षेत्रों के जीर्णोद्धार एवं जिनवाणी के शोध व प्रकाशन की महती आवश्यकता पूर्ति हेतु उनके मगल आशीर्वाद से श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट की स्थापना की गई। इस ट्रस्ट ने अपने उद्देश्यों और गतिविधियों से अल्पकाल में ही दिगम्बर जैन समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

तीर्थों के जीर्णोद्धार के अलावा समाज में आध्यात्मिक रुचि-सम्पन्न आत्मार्थी विद्वान् तैयार करने हेतु जयपुर में श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय का संचालन इस ट्रस्ट की महत्वपूर्ण गतिविधि है। गत ५ वर्षों में कुल मिलाकर इस विद्यालय के ६२ छात्र शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करके समाज में तत्त्वप्रचार सम्बन्धी कार्य करने लगे हैं। इस ट्रस्ट के माध्यम से जिनवाणी की शोध एवं सुरक्षा हेतु मद्रास और बैंगलोर में शोध-संस्थान कार्यरत हैं। ट्रस्ट की ओर से श्री टोडरमल स्मारक भवन जयपुर में एक "साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग" भी सन् १९८३ में खोला गया है।

इस प्रकार निरन्तर ४५ वर्षों तक पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा जिनशासन को अद्वितीय प्रभावना होती रही है। यद्यपि आज वे हमारे बीच में नहीं हैं, तथापि उनके द्वारा दिखाया गया शाश्वत सुख का मार्ग चिरकाल तक हमें भव-दुखों से बचने की प्रेरणा देता रहेगा, क्योंकि उनके प्रताप से निर्मित जिनमन्दिर एवं प्रकाशित सत्साहित्य उनके स्मारक के रूप में विद्यमान हैं।

यद्यपि टेपों में सुरक्षित उनकी वाणी युगों-युगों तक हमें आत्मानुभूति की प्रेरणा देती रहेगी, तथापि टेपों की लम्बे समय तक सुरक्षा

करना कठिन है तथा उनका जन-जन तक पहुँचना भी सुलभ नहीं है, अतः स्वामीजी की उपस्थिति में ही इस बात की तीव्र आवश्यकता महसूस की जा रही थी कि उनके सभी प्रवचनों का शृंखलाबद्ध प्रकाशन किया जाए।

टेप-रिकार्डर से सुनकर प्रवचन लिखना तथा उन्हें व्यवस्थितरूप में प्रकाशित करना अत्यधिक श्रम एवं व्यय-साध्य कार्य है। अतः इस कार्य हेतु स्वामीजी की ९०वीं जयन्ती के अवसर पर श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट की स्थापना की गई। इस ट्रस्ट ने श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर के सहयोग से अल्प समय में ही प्रवचन-रत्नाकर के नाम से समयसार के अठारहवीं बार के प्रवचनों को गुजराती में प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया है जिनके १० भागों में सर्वविशुद्धि ज्ञान अधिकार तक के प्रवचन छप चुके है। गुजराती प्रवचन-रत्नाकर के दो भागों को पूज्य स्वामीजी की उपस्थिति में ही उन्हें समर्पित करने का गौरव प्राप्त करने के उपलक्ष्य में उक्त ट्रस्ट बधाई का पात्र है।

पूज्य गुरुदेवश्री की इक्यानवें वीं जयन्ती के अवसर पर बम्बई में परमागम प्रवचन ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित गुजराती प्रवचनों के हिन्दी प्रकाशन पर विचार-विमर्श करते समय पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने यह दायित्व वहन करना सहर्ष स्वीकार किया। इस अवसर पर उपस्थित मुमुक्षु भाईयों ने हिन्दी प्रवचन प्रकाशन हेतु पांच लाख रुपये का फण्ड एकत्र करने का संकल्प किया तथा उसी समय दो लाख रुपये के वचन भी प्राप्त हो गए।

इसी अवसर पर माननीय पं० रतनचन्दजी भारिल्ल ने गुजराती प्रवचनों के हिन्दी अनुवाद का तथा माननीय डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने इसके सम्पादन का दायित्व निस्पृह भाव से स्वीकार किया, एतदर्थ हम दोनों विद्वानों के अत्यन्त आभारी हैं।

प्रवचन-रत्नाकर भाग १ का प्रकाशन सन् १९८१ में ३००० की संख्या में मुद्रित कराया गया था। उस समय हमने यह अनुमान किया था कि इनका विक्रय दो वर्ष में हो पावेगा, लेकिन यह जानकारी देते हुए हमें हर्ष होता है कि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों की यह पुस्तक मात्र पांच माह में ही समाप्त हो गई। अतः भाग १ की द्वितीय आवृत्ति पुनः २२०० की संख्या में मुद्रित कराई गई।

प्रवचन-रत्नाकर भाग १ की अत्यधिक मांग देखते हुए प्रवचन-रत्नाकर भाग २, ३ एवं ४ की प्रथम आवृत्ति पाँच-पाँच हजार की संख्या में

प्रकाशित की गई। इसी शृंखला में भाग ५ की प्रथम आवृत्ति भी ५२०० की सख्या में प्रकाशित की जा रही है।

पूज्य स्वामीजी के प्रवचन जन-जन तक कम से कम मूल्य में पहुँचाने की भावना से ट्रस्ट ने निर्णय किया है कि कीमत कम करने हेतु १०,००१ रुपये देने वाले महानुभावों का २,००० प्रतियों में फोटो प्रकाशित किया जाएगा तथा १० प्रतियाँ निःशुल्क भेंट दी जायंगी। ५,००१ रुपये देने वाले महानुभावों का १००० प्रतियों में फोटो प्रकाशित किया जाएगा तथा २ प्रतियाँ निःशुल्क भेंट की जायेंगी।

पाँचवें भाग की कामत कम करने हेतु राशि प्रदान करने वालों की सूची xv पर दी गई है। एतदर्थ मैं उन सभी महानुभावों को धन्यवाद देता हूँ।

प्रवचन-रत्नाकर का प्रथम भाग सन् १९८१ में रक्षाबन्धन के अवसर पर प्रकाशित किया गया था। दूसरा भाग भी एक वर्ष के अन्दर ही तैयार होकर सन् १९८२ में तथा भाग तीन जुलाई १९८३ में प्रकाशित हुआ एवं चतुर्थ भाग २६ जनवरी १९८५ को प्रकाशित किया जा चुका है तथा पाँचवा भाग आपके समक्ष प्रस्तुत है। पूज्य गुरुदेवश्री की अनुपस्थित में यह ग्रंथ प्रकाशित करते हुए मैं यही भावना व्यक्त करता हूँ कि शीघ्र ही उनके सभी प्रवचन प्रकाशित होकर जन-जन के आत्म-कल्याण में निमित्त बनें।

प्रथम भाग में १ से २५ गाथाओं के, द्वितीय भाग में गाथा २६ से ६८ तक, तृतीय भाग में ६९ से ९१ तक, चतुर्थ भाग में ९२ से १४२ तक तथा पाँचवें भाग में गाथा १४५ से १८० तक के प्रवचन संकलित हैं।

ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण हेतु मैं श्री सत्यनारायणजी प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड वालों को तथा इसकी प्रूफ रीडिंग में सहयोग देने हेतु श्री शान्तिकुमार पाटिल जैनदर्शनाचार्य तथा प्रकाशन व्यवस्था हेतु श्री अखिल बंसल को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने स्वयं रुचि लेते हुए अत्यन्त लगन एवं श्रम से ग्रन्थ को इतना सुन्दर और शुद्ध रूप प्रदान किया है।

सभी जीव पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी का मर्म समझकर शुद्धात्मतत्त्व के आश्रयपूर्वक स्वसमयदशा – स्वानुभूतिदशा प्रगट करें व आत्मकल्याण करें – यही भावना व्यक्त करता हूँ।

– नेमीचन्द पाटनी
मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

सम्पादक की ओर से

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर परम्परा में सर्वोपरि है। भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद उन्हें ही स्मरण किया जाता रहा है। दो हजार वर्ष पूर्व लिखे गये आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथ दिगम्बर परम्परा के परमागम हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रथों पर उनके रहस्य को उद्घाटित करनेवाली अद्भुत टीकाएँ आचार्य अमृतचन्द्र ने आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले सस्कृत भाषा में लिखी थी। यद्यपि उनके अनुवाद भी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा जैसे विद्वानों द्वारा लिखे गये थे, तथापि इस युग में उनका प्रचार व प्रसार नगण्य ही था। जनसाधारण की तो बात हा क्या करें, बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान भी उनसे अपरिचित ही थे।

आज जो समयसार जन-जन की वस्तु बना हुआ है, उसका एकमात्र श्रेय पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी को है। उन्होंने इसपर आद्योपान्त १६ बार तो सभा में प्रवचन किए हैं, स्वय ने तो न मालूम कितनी बार इनका गहराई से अध्ययन किया होगा।

इस संदर्भ में पण्डित कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य वाराणसी का कथन द्रष्टव्य है, जो कि इसप्रकार है :—

"आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्र-सभा में शास्त्र बांचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाममात्र तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म-ग्रंथों की चर्चा करने वाले अत्यन्त विरले थे। आज भी दि० जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले हैं। हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा, जब श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ, अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्र० शीतलप्रसाद जी की हसी उड़ाया करते थे। यदि कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता, तो दिगम्बर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।"[1]

---

1 जैन सन्देश, ४ नवम्बर १९७६, सम्पादकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का हम जैसे उन लाखों लोगों पर अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होंने साक्षात् उनके मुख से समयसार आदि ग्रंथों पर प्रवचन सुने हैं और समझ में न आने पर अपनी शंकाओं का सहज समाधान प्राप्त किया है।

आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर उनके वे प्रवचन जो उन्होंने अपने जीवनकाल में अनवरत रूप से किये थे, हमें टेपों के रूप में उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व हैं।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री के हजारों प्रवचन प्रकाशित रूप में भी हमें उपलब्ध थे और हैं भी; फिर भी यह आवश्यकता गुरुदेवश्री की उपस्थिति में भी निरन्तर अनुभव की जा रही थी कि उनके उपलब्ध समस्त प्रवचन प्रकाशित होने चाहिये। एक तो टेप सबको सहज सुलभ नहीं होते, दूसरे लम्बे काल तक उनकी सुरक्षा संदिग्ध रहती है। हमारी यह निधि पूर्ण सुरक्षित हो जाने के साथ-साथ जन-जन की पहुँच के भीतर हो जानी चाहिए – इस उद्देश्य से सम्पूर्ण प्रवचनों के प्रकाशन की आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जा रही थी।

परिणामस्वरूप पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में ही श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट की स्थापना हुई। उक्त ट्रस्ट ने बड़ी ही तत्परता से अपना काम आरम्भ किया और बहुत ही कम समय में 'प्रवचन-रत्नाकार' के नाम से सर्वप्रथम समयसार परमागम पर १८वीं बार हुये प्रवचनों का प्रकाशन आरम्भ किया। चूंकि गुरुदेवश्री के मूल प्रवचन अधिकांश गुजराती भाषा में ही हैं, अतः उनका प्रकाशन भी सर्वप्रथम गुजराती भाषा में ही आरम्भ हुआ। २६ अप्रैल, १९८० ई० को बम्बई (मलाड़) में आयोजित पूज्य गुरुदेवश्री की ९२वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर प्रवचन-रत्नाकर का प्रथम भाग गुजराती भाषा में प्रकाशित होकर आ गया था तथा पूज्य गुरुदेवश्री को प्रत्यक्षरूप से समर्पित किया गया था।

उसी अवसर पर इसके हिन्दी प्रकाशन की चर्चा आरम्भ हुई। पर्याप्त ऊहापोह के उपरान्त इसके हिन्दी अनुवाद का कार्य पण्डित रतनचंदजी भारिल्ल को, सम्पादन का कार्य मुझे एवं प्रकाशन का भार पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर को सौंपा गया।

गुरुदेवश्री के मंगल-आशीर्वाद से ही सुगठित अनेक तत्त्व-प्रचार सम्बन्धी गतिविधियों के सक्रिय संचालन में पहले से ही व्यस्त रहने के

कारण यद्यपि मैं इस स्थिति में नहीं था कि कोई नया भार लूँ, क्योंकि इस कारण मेरा स्वयं का अध्ययन, मनन, चिंतन एवं लेखन अवरुद्ध होता है; तथापि गुरुदेवश्री के प्रवचनों का गहराई से अध्ययन करने के इस सुअवसर का लोभ-संवरण मुझसे नहीं हो सका।

इसके सम्पादन में मैंने आत्मधर्म के सम्पादन से प्राप्त अनुभव का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। आत्मधर्म में सात वर्ष से लगातार प्रतिमाह गुरुदेवश्री के प्रवचनों के लगभग २०-२२ पृष्ठ तो जाते ही हैं। उनके सम्पादन से गुरुदेवश्री के प्रतिपाद्य और प्रतिपादनशैली से मेरा घनिष्ट परिचय हो गया है। तथा प्रवचन-रत्नकार भाग १ के सम्पादन कार्य के अवसर पर सम्पादन सम्बन्धी बहुत कुछ ऊहापोह हो जाने के कारण इसके सम्पादन में यद्यपि मुझे अधिक श्रम नहीं उठाना पड़ा है; तथापि इन पाँचों भागों के सम्पादन में मुझे अभूतपूर्व वचनातीत लाभ मिला है, गुरुदेवश्री के हृदय को अन्तर से जानने का अवसर मिला है। जो लाभ उनकी वाणी को पढ़ने और सुनने से भी सम्भव न हुआ था, वह लाभ इनके सम्पादन से प्राप्त हुआ है। इसका कारण यह है कि उपयोग की स्थिरता जितनी इनके सम्पादन के काल में रहती है, उतनी सहज पढ़ने या सुनने में नहीं रहती; क्योंकि जितनी गहराई में जाकर पूज्य गुरुदेवश्री ने आचार्य कुन्दकुन्द व आचार्य अमृतचन्द्र के मर्म को खोला है, उतनी गहराई में उपयोग के न पहुँच पाने से वह मर्म सहज पकड़ में नहीं आता है। अपने इस अनुभव के आधार पर तत्त्वप्रेमी पाठकों से पुनः अनुरोध करना चाहूंगा कि वे यदि इस रत्नाकर के रत्न पाना चाहते हैं, तो उपयोग को सूक्ष्म कर, स्थिर करके इसका स्वाध्याय करें, अन्यथा उनके हाथ कुछ न लगेगा।

इसके सम्पादन में गुजराती में प्रकाशित प्रवचन-रत्नाकर के मूल माल को अक्षुण्ण रखते हुए कुछ आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन भी किए गए हैं, उनका उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि जिससे गुजराती से मिलान करके अध्ययन करनेवाले पाठकों को कोई असुविधा न हो।

सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि गुजराती में जीवाजीवाधिकार को तीन भागों में बांटा गया है, जबकि हिन्दी प्रवचन-रत्नाकर में दो भागों में ही विभाजित किया गया है। आगे भी भागों का विभाजन गुजराती भागों को आधार न बनाकर स्वतंत्ररूप से किया गया है। इस विभाजन में विषयवस्तु को तो ध्यान में रखा ही गया है; साथ में यह भी

उचित लगा कि इतने विशाल ग्रन्थ का, जो कि अनेक भागों में प्रकाशित किया जाना है, प्रत्येक भाग चार सौ पृष्ठों के आस-पास तो होना ही चाहिए। छोटे-छोटे वाल्यूम (भाग) बनाने में विषयवस्तु तो बार-बार टूटती ही है, साथ में जिल्द का अनावश्यक खर्च भी बढ़ता है।

प्रवचन की भाषा में अनावश्यक टेढ़े भी बहुत हैं और पुनरुक्ति भी बहुत पाई जाती हैं, तथा सामान्य लोगों को सरलता से समझ में आ जाय – इस दृष्टि से जहां तक सम्भव हुआ, वाक्यों का गठन सीधा व सरल कर दिया गया है; पर इस प्रक्रिया में गुरुदेवश्री के प्रवचन की टोन (शैली) समाप्त न हो जावे, इस बात का भी पूरा–पूरा ध्यान रखा गया है। पुनरुक्ति भी कम की गई है, पर बहुत कम। जहाँ बहुत अधिक पिष्ट-पेषण था, वहाँ ही कुछ कम किया गया है।

हिन्दी प्रकाशन में मूलग्रंथ संस्कृत व हिन्दी टीकासहित दिया गया है, जबकि गुजराती में संस्कृत टीका नहीं दी गई है। साथ में हिन्दी पद्यानुवाद भी दिया गया है और भी छोटी-छोटी बहुत सी बातें हैं, जिनका उल्लेख सम्भव नहीं है, वे सब अध्ययन करने पर पैनी दृष्टिवाले पाठकों को सहज समझ में आ जावेंगी।

मैंने इस अनुवाद को मूल से मिलान करके बहुत गहराई से देखा है, इसके मर्म की गहराई को पाने के लिए भी और इसके प्रामाणिक प्रकाशन के लिए भी; फिर भी छद्मस्थों से त्रुटियाँ रह जाना असम्भव नहीं है, अतः सुधी पाठकों से सावधानीपूर्वक अध्ययन करने का अनुरोध है।

प्रकाशन सम्बन्धी छोटी-मोटी त्रुटियों की उपेक्षा की अपेक्षा के साथ-साथ सविनय यह अनुरोध है कि यदि कोई भाव सम्बन्धी भूल दिखाई दे, तो मुझे सुझाने की अनुकम्पा अवश्य करें, जिससे आगामी संस्करणों में आवश्यक सुधार किया जा सके।

—(डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल

अनुवादक की ओर से

जब परमपूज्य आचार्यों के आध्यात्मिक ग्रन्थों पर हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के गूढ़, गम्भीर, गहनतम, सूक्ष्म और तलस्पर्शी प्रवचनों का गुजराती से हिन्दी भाषा में अनुवाद करने के लिए मुझसे कहा गया, तो मैं असमंजस में पड़ गया। मैंने यह सोचा ही नहीं था कि यह प्रस्ताव मेरे पास भी आ सकता है।

अब एक ओर तो मेरे सामने यह मंगलकारी, भवतापहारी, कल्याणकारी, आत्मविशुद्धि में निमित्तभूत कार्य करने का स्वर्ण अवसर था, जो छोड़ा भी नहीं जा रहा था; तो दूसरी ओर इस महान कार्य को आद्योपान्त निर्वाह करने की बड़ी भारी जिम्मेदारी। मेरी दृष्टि में यह केवल भाषा परिवर्तन का सवाल ही नहीं है, बल्कि आगम के अभिप्राय को सुरक्षित रखते हुए, गुरुदेवश्री की सूक्ष्म कथनी के भावों का अनुगमन करते हुए, प्रांजल हिन्दी भाषा में उसकी सहज व सरल अभिव्यक्ति होना मैं आवश्यक मानता हूँ; अन्यथा थोड़ी सी चूक में ही अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है।

इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार करके तथा दूरगामी आत्मलाभ के सुफल का विचार कर, प्रारंभिक परिश्रम और कठिनाइयों की परवाह न करके 'गुरुदेवश्री के मंगल आशीर्वाद से सब अच्छा ही होगा' – यह सोचकर मैंने इस काम को अन्ततोगत्वा अपने हाथ में ले ही लिया। इस कार्यभार को सँभालने में एक संबल यह भी था कि इस हिन्दी प्रवचन-रत्नाकर ग्रन्थमाला के प्रकाशन का कार्य पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर ने ही सँभाला था और सम्पादन का कार्य डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल को सौंपा जा रहा था।

यद्यपि गुजराती भाषा पर मेरा कोई विशेष अधिकार नहीं है, तथापि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रसाद से उनके गुजराती प्रवचन सुनते-सुनते एवं उन्हीं के प्रवचनों से सम्बन्धित सत्साहित्य पढ़ते-पढ़ते उनकी शैली और

भावों से सुपरिचित हो जाने से मुझे इस अनुवाद में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। जहाँ कहीं गुजराती भाषा का भाव समझ में नहीं आया, वहाँ अपने अनुज डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल से परामर्श करके गुजराती भाषा के भाव को स्पष्ट करता रहा हूँ।

मैं अनुवाद करते समय इसलिए भी निश्चिन्त रहा कि सम्पादन का कार्य एक ऐसी प्रतिभा को सौंपा गया है, जिसके द्वारा सारा विषय हर दृष्टि से छन-छन कर ही पाठकों तक पहुँचता है।

इस अनुवाद से मुझे जो आशातीत लाभ मिला है; उसे मैं व्यक्त नहीं कर सकता। पूज्य गुरुदेवश्री के अभिप्राय को तथा समयसार के गम्भीर रहस्यों को जो गुरुदेवश्री ने खोले हैं, उन्हें गहराई से समझने का अवसर मिला। गुरुदेवश्री के माध्यम से भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्यदेव के सूक्ष्म भावों तक पहुँचने में सहायता मिली। इस काम में अत्यधिक आत्म-सन्तोष मिला, आनन्द भी आया; अतः यह कार्य भारभूत न होकर स्वान्तःसुखाय बन गया। आत्मशान्ति व सन्तोष ही गुरुदेवश्री का परमप्रसाद है और यही जिनवाणी की सेवा का सुफल है।

अनुवाद में गुरुदेवश्री के अभिप्राय को अक्षुण्ण रखा गया है। प्रवचनों का अनुवाद मुख्यतः शाब्दिक है, किन्तु हिन्दी वाक्यविन्यास की दृष्टि से वाक्यों का गठन हिन्दी भाषा के अनुरूप करने का प्रयत्न रहा है तथा अति आवश्यक यत्किञ्चित् परिवर्तन भी हुए हैं, किन्तु उनसे विषय-वस्तु और भावों में कहीं कोई अन्तर नहीं आया है। जब पाठक धारा-प्रवाहरूप से इसका अध्ययन करेंगे तो भाषा की दृष्टि से भी उन्हें साहित्यिक गद्य का आनन्द आयेगा और विषयवस्तु को समझने में सुगमता भी रहेगी।

यद्यपि इसके अनुवाद में मैंने पूर्ण सतर्कता एवं सावधानी से काम किया है, फिर भी 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे' अर्थात् शास्त्रसमुद्र में कौन विमोहित नहीं होता – इस लोकोक्ति के अनुसार कहीं स्खलना हुई हो तो मेरा ध्यान आकर्षित करने का सानुरोध आग्रह है।

सभी पाठकगण इस ग्रन्थ का पुनः पुनः पारायण करके पूरा-पूरा लाभ उठायेंगे – ऐसी आशा एवं अपेक्षा के साथ विराम लेता हूँ।

– रतनचन्द भारिल्ल

प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल्य कम करने वाले दातारों की सूची

१.	श्री भगवानजी भाई कचराभाई शाह, लन्दन	१०००१/-
२.	श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, धांगध्रा (सौराष्ट्र) स्व० ब्र० चन्द्राबेन की स्मृति में, हस्ते-शाह छोटालाल दामरदास एवं वकील केशवलाल कामदार	५००१/-
३.	श्री कान्तिलाल ए० कामदार, मद्रास स्व० श्री अमीचन्द गोपालजी कामदार की स्मृति में	५०००/-
४.	श्री मनसुखलाल छोटालाल जोवालिया, बम्बई	१००१/-
५.	श्री शुभकरण अभयकरण सेठिया, सरदारशहर	५६१/-
६.	श्री भूपेन्द्र प्लास्टिक एण्ड भायाणी परिवार, मद्रास	५०१/-
७.	श्रीमती हंसाबेन जयवंतभाई जवेरी, घाटकोपर, बम्बई	५०१/-
८.	श्रीमती मोहिनी देवी ध०प० रंगूलालजी जैन, दिल्ली	५००/-
९.	श्रीमती बसन्तीदेवी ध०प० हरकचन्दजी छाबड़ा, सीकर	५००/-
१०.	श्री मदनराजजी छाजेड़, जोधपुर	३०२/-
११.	श्री दि० जैन मन्दिर नागोरी गेट, हिसार	२५१/-
१२.	श्री प्रकाशचन्दजी गंभीरचन्दजी, अहमदाबाद	२५१/-
१३.	श्री सनतकुमारजी बण्डी, इन्दौर	२५०/-
१४.	श्री सुरेश भाई देसाई, अहमदाबाद	२०१/-
१५.	मै नन्दराम सूरजमल, दिल्ली	२०१/-
१६.	गुप्तदान हस्ते ब्र० हीराबेन इन्दौर वाली, सोनगढ़	१७१/-
१७.	सरिता शाह C/o वर्धमान प्रेस, सोलापुर	१५१/-
१८.	श्री प्रेमचन्दजी महावीर टैण्ट वाले, अजमेर	१५१/-
१९.	श्री शुभकरणजी दुगड, सरदारशहर	१५१/-
२०.	स्व० श्रीमती कुसुमलता सुनन्द बंसल, अमलाई	१११/-
२१.	श्रीमती सुलोचनादेवी C/o एस.सी. जैन, ग्वालियर	१११/-
२२.	श्री सागरचन्दजी जैन विचारक, भोगां	१११/-
२३.	जयन्तीभाई धनजी भाई दोशी, दादर-बम्बई	१११/-
२४.	पं० श्री चिन्तामणि जिनेशचन्द शाह, मौ	१०१/-
२५.	श्री पन्नालाल सुधीरकुमार सरावगी, लाडनूँ	१०१/-

२९. श्री अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, टीकमगढ़	१०१/-
३०. श्री कपूरचन्द महावीरकुमार जैन, लवाण	१०१/-
३१. श्री नथमलजी झांझरी, जयपुर	१०१/-
३२. श्री गुप्तदान	१०१/-
३३. श्रीमती शान्तिदेवी जैन, दिल्ली	१०१/-
३४. श्रीमती रतनवाई पाण्डया, इन्दौर	१०१/-
३५. श्रीमती कपूरीदेवी, लवाण	१०१/-
३६. श्रीमती धूड़ीबाई खेमराज गिदिया, खैरागढ़	१०१/-
३७. डा. रतनचन्द जैन, शहपुरा (जवलपुर)	१०१/-
३८. श्री इन्दरचन्द विजयकुमार जैन, छिन्दवाड़ा	१०१/-
३९. श्री भानुकुमार बड़जात्या, इन्दौर	१०१/-
४०. श्री शैलेशकुमार कैलाशचन्द वैद्य, इन्दौर	१०१/-
४१. श्री शिखरचन्द त्रिलोकचन्द सोनी, अजमेर	१०१/-
४२. श्री सी०एल० शाह, बम्बई	१०१/-
४३. श्रीमती जैनादेवी ध.प. श्री जयकुमारजी, दिल्ली	१०१/-
४४. चौधरी फूलचन्द जैन, बम्बई	१०१/-
४५. ब्र० अम्बालाल जैन, उदयपुर	१०१/-
४६. श्री प्रेमचन्द जैन C/o कपूरचन्द राजमल जैन, सवाई माधोपुर	१०१/-
४७. श्री रतनलाल बालचन्द गंगवाल ट्रस्ट, इन्दौर	१०१/-
४८. श्री तोतालाल जैन, इन्दौर	१०१/-
४९. श्री कैलाशचन्द जैन, दिल्ली	१०१/-
५०. श्रीमती शीलादेवी जैन, दिल्ली	१०१/-
५१. सिंघई मुलायमचन्द जैन, शहपुरा	१०१/-
५२. श्री डालचन्द जैन, शहपुरा	१०१/-
५३. श्रीमती शशीकान्ता ध०प० डालचन्द, शहपुरा	१०१/-
५४. श्रीमती राजकुमारी गोधा, जयपुर	१०१/-
५५. श्री जयचन्द मातादीन जैन, मौ	१०१/-
५६. श्री माणकचन्द धर्मेन्द्र कुमार जैन, मौ	१०१/-
५७. श्रीमती गंगाबेन रतिलाल पारेख, जामनगर	१०१/-
५८. डॉ० आनन्दकुमार जैन, रतलाम	१०१/-
५९. कु० सन्ध्या C/o डॉ० रतनचन्द जैन, शहपुरा	१०१/-
६०. सुरेन्द्र नरेन्द्रकुमार जैन, दिल्ली	१०१/-
फुटकर राशि	२२३/-

प्रवचन-रत्नाकर

[भाग ५]

पुण्य-पाप अधिकार

अथैकमेव कर्म द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति-

(दोहा)

पुण्य-पाप दोऊ करम, बन्धरूप दुर्मानि ।
शुद्ध आतमा जिन लह्यो, नमूं चरण हित जानि ।

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब एक ही कर्म दो पात्ररूप होकर पुण्य-पाप रूप से प्रवेश करता है ।

जैसे नृत्यमंच पर एक ही पुरुष अपने दो रूप दिखाकर नाच रहा हो तो उसे यथार्थ ज्ञाता पहिचान लेता है और उसे एक ही जान लेता है, इसीप्रकार यद्यपि कर्म एक ही है तथापि वह पुण्य-पाप के भेद से दो प्रकार के रूप धारण करके नाचता है, उसे सम्यक्दृष्टि का यथार्थ ज्ञान एकरूप जान लेता है ।

उत्थानिका एवं हिन्दी मंगलाचरण पर प्रवचन

देखो पण्डित जयचन्दजी दोहा में स्पष्ट करते हैं कि पुण्य व पाप दोनों भाव-कर्म हैं और ये बन्धरूप हैं, बुरे हैं । जिसने इन्हें बन्धरूप जानकर छोड़ा है और शुद्धात्मा को ग्रहण किया है, उन्हें मैं अपना हितरूप जानकर उनके चरण कमल में नमन करता हूँ ।

एक ही कर्म पुण्य-पाप रूप से दो पात्र रूप होकर प्रवेश करता है । कर्म तो अनादि से एक ही है । यद्यपि पुण्य व पाप कर्मरूप से एक ही वस्तु है, तथापि जब वह पुण्य-पाप के भेद से दो प्रकार का रूप धारण कर प्रगट होता है तो अज्ञानी उसे दो भिन्न-भिन्न रूप से यानि पुण्य भला एवं पाप बुरा – ऐसे दो रूप में देखता है; परन्तु जिनका ज्ञान यथार्थ परिणमा

है, वे दोनों कर्मों को एक ही मानते हैं, क्योंकि दोनों में से एक भी आत्मा नहीं है। दोनों ही भाव राग हैं, एक भी वीतराग परिणाम नहीं है।

(द्रुतविलम्बित)

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो
द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन्।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं
स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥ १०० ॥

श्लोकार्थः—[अथ] अब (कर्त्ताकर्म अधिकार के पश्चात्) [शुभ-अशुभभेदतः] शुभ और अशुभ के भेद से [द्वितयतां गतं तत्कर्म] द्वित्व को प्राप्त उस कर्म को [ऐक्यम् उपानयन्] एकरूप करता हुआ, [ग्लपित-निर्भर-मोहरजा] जिसने अत्यन्त मोहरज को दूर कर दिया है ऐसा [अयं अवबोधसुधाप्लवः]यह (प्रत्यक्ष-अनुभवगोचर' ज्ञानसुधांशु (सम्यक्ज्ञानरूपी चन्द्रमा [स्वयम्] स्वयं [उदेति] उदय को प्राप्त होता है।

भावार्थ :—अज्ञान से एक ही कर्म दो प्रकार दिखाई देता था, उसे सम्यक्ज्ञान ने एक प्रकार का बताया है। ज्ञान पर जो मोहरूपी रज चढ़ी हुई थी उसे दूर कर देने से यथार्थ ज्ञान प्रगट हुआ है; जैसे बादल या कुहरे के पटल से चन्द्रमा का यथार्थ प्रकाश नहीं होता, किन्तु आवरण के दूर होने पर वह यथार्थ प्रकाशमान होता है; इसीप्रकार यहाँ भी समझना चाहिये।

कलश १०० एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

कर्त्ता-कर्म अधिकार के बाद इस पुण्य-पाप अधिकार को प्रारंभ करते हुए सर्वप्रथम आचार्य देव ने मोहरज का नाश करनेवाले तथा अज्ञान के कारण एक ही कर्म में उत्पन्न हुए पुण्य-पाप या शुभ-अशुभ-भाव के भेद (द्वैत) को समाप्त करनेवाले सम्यग्ज्ञान को स्मरण किया है।

चाहे तीर्थंकर नामक कर्मप्रकृति को बाँधनेवाला शुभभाव हो या नरकगति कर्मप्रकृति को बाँधनेवाला अशुभ भाव हो, दोनों ही प्रकार के भाव बन्धनरूप हैं, अतः दुःखरूप ही हैं – ऐसा जानता हुआ सम्यग्ज्ञानी सभी शुभाशुभभावों को एक कर्मरूप ही मानता है, उनमें उसे द्वैत भासित नहीं होता।

इसप्रकार शुभ व अशुभ भावरूप भेद के कारण द्वैत को प्राप्त हुए कर्म को एकरूप करते हुए जिसने मोहरज को अर्थात् मिथ्यात्वभाव को अत्यन्त दूर किया है – ऐसा सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्रमा स्वयं उदित होता है।

यहाँ जो 'मोहरज' शब्द आया है, उसका अर्थ मिथ्यात्व किया गया है। गाथा १६० में भी 'रज' शब्द का यही अर्थ किया है। वहाँ गाथा में ऐसा कथन आया है कि आत्मा स्वरूप से तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, सबको जानने देखनेवाला है; तथापि अपने कर्ममल से लिप्त होता हुआ – व्याप्त होता हुआ संसार को प्राप्त हुआ सबप्रकार से सर्व को नहीं जानता। 'कर्मरज' द्वारा अर्थात् अपने पुरुषार्थ के अपराध से प्रवर्तमान कर्ममल के द्वारा लिप्त या व्याप्त होने से ही, बन्ध अवस्था में अपने को न जानता हुआ अज्ञानभाव से रह रहा है। इसप्रकार वहाँ 'रज' शब्द का अर्थ अपने पुरुषार्थ के अपराधरूप (मलिन) भाव किया है।

इसतरह अज्ञानीजीव अपने विपरीत पुरुषार्थ से अज्ञानभाव को उत्पन्न करके पुण्य व पाप में भेद मानता है। पुण्य को अच्छा तथा पाप को बुरा मानता है, परन्तु इसतरह दोनों में भेद करना ठीक नहीं हैं; क्योंकि भले ही कोई मिथ्यादृष्टि जीव नग्न दिगम्बर (द्रव्यलिंगी) साधु बनकर मंद कषायरूप शुभभावों से पुण्य बाँधकर नवग्रैवेयक चला जावे, तथापि मिथ्यात्व के कारण चारगति में परिभ्रमण ही करता है तथा इसके विपरीत अन्य कोई जीव भले ही पाप के फल में सातवें नरक गया हो और वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त करले तो वह अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करेगा। बात बहुत सूक्ष्म है, पुण्य की रुचिवालों को कठोर भी लगती है, परन्तु क्या करें, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

ऐसे वस्तुस्वरूप का यथार्थज्ञान प्रगट करता हुआ और मोहरज (मिथ्यात्व) का नाश करता हुआ प्रत्यक्ष अनुभवगोचर ज्ञानरूपी चन्द्रमा उदित होता है।

देखो! यहाँ आचार्यदेव ने चैतन्यस्वभाव को शीतल चन्द्रमा की उपमा दी है। वीतरागस्वभावरूप शान्ति से भरा हुआ भगवान आत्मा किसी अन्य की अपेक्षा बिना मोह को दूर करके स्वयं उदित होता है अर्थात् आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होता है जो ज्ञान अब तक राग का वेदन करता था, वही ज्ञान अब पुण्य-पाप के भाव को एक बन्धरूप जानकर, मोह से मुक्त होकर अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होता हुआ आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभव करता है। अहाहा.............! ज्ञानरूप चन्द्रमा है और उसके आश्रय से उत्पन्न हुआ सम्यग्ज्ञान भी पर्याय-रूप ज्ञानचन्द्रमा है। देखो, सम्यज्ञान को भी चन्द्रमा की उपमा दी है,

क्योंकि सम्यग्ज्ञान शीतलता व शान्तिमय है और पुण्य-पाप के दोनों ही भाव तो परिताप व अशान्तिमय हैं।

यहाँ 'स्वयमेव' शब्द कहने का आशय यह है कि वह ज्ञानसुधांशु व्यवहाररत्नत्रय के कारण नहीं, बल्कि अपनी तत्समय की योग्यता से स्वयमेव उदित होता है। जिससमय आत्मज्ञान उदित होता है, उससमय व्यवहाररत्नत्रय होता अवश्य है; परन्तु उसके कारण वह प्रगट नहीं होता है। व्यवहाररत्नत्रय तो निमित्तमात्र है। जिसप्रकार किसी द्रव्य के कार्यकाल में बाह्य अन्य निमित्त होते हैं, परन्तु वे निमित्त द्रव्य के कार्यरूप परिणमन में कुछ करते नहीं हैं, उसीप्रकार व्यवहाररत्नत्रय बाह्यनिमित्त है, परन्तु वह निश्चयरत्नत्रय स्वरूप आत्मज्ञान की उत्पत्ति में कुछ करता नहीं है। अहो! आचार्य भगवन्तों ने ऐसा स्वतन्त्रता का सिद्धान्त बतलाकर जगत को निहाल कर दिया है।

भाई! यह बात तीनलोक के नाथ देवाधिदेव अरहंत परमात्मा की दिव्यध्वनि में आई हुई बात है। सत्य के शोधार्थी से आचार्यदेव कहते हैं कि थोड़ा मध्यस्थ होकर पहले यह निश्चय तो कर कि यही सत्य मार्ग है, वस्तुस्वरूप ऐसा ही है, तभी स्वभाव का लक्ष्य होने से उसमें दक्षता आ सकेगी। लक्ष्य बिना पक्ष नहीं होता, पक्षबिना दक्षता नहीं आती। जहाँ पक्ष ही नहीं हो और गन्तव्य का निश्चय ही नहीं हो पाया हो, रास्ता ही उल्टा (विपरीत) पकड़ रखा हो, वहाँ तत्त्व की प्राप्ति कैसे होगी? सन्मार्ग कहाँ से मिलेगा?

प्रभु! यह तेरे हित की बात है। व्यवहार से अर्थात् पुण्य के परिणामों से सम्यग्ज्ञान प्रगट नहीं होता, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा नहीं है।

अहा! एक कलश में ही कितना स्पष्टीकरण कर दिया है। अहो! संतों की जगत पर कैसी अपार करुणा होती है! वे कहते हैं – भाई! तू पाप-पुण्य में हेयोपादेयपना मानकर अर्थात् पुण्य को भला व पाप को बुरा मानकर दुःख के पहाड़ के तले दब गया है। प्रभु! पुण्य-पाप के दोनों ही भाव स्वयं दुःखरूप हैं तथा दुःख के कारण हैं, आकुलतामय हैं; क्योंकि दोनों ही भाव स्वभाव से विरुद्धभाव हैं। ऐसे स्वभाव विरुद्ध भावों में जो भेद न देखकर एक कर्मरूप ही मानता है, उसे परकी अपेक्षा बिना स्वतः सम्यग्ज्ञानरूप चन्द्रमा उदित होता है। भगवान! तेरा स्वभाव ही ऐसा

है कि तुझे शुद्धात्मा की उपलब्धि के लिए व्यवहार रत्नत्रय के शुभराग के सहारे की या मदद की आवश्यकता ही नहीं होती।

शुभराग आत्मा का रोग है। जिसे व्यवहार कहते हैं, वह वस्तुतः संसार है। आगे १४५वीं गाथा में आवेगा कि जो संसार में प्रविष्ट कराये अर्थात् जिसके कारण यह जीव जन्म-मरण ही करता रहे और आकुलताजनित दु.ख भोगता रहे उसको भला (अच्छा) कैसे कहा जा सकता है ?

देखो, पाँचों पाण्डव मुनि अवस्था में शत्रुञ्जय पर्वतपर ध्यानस्थ थे। वहाँ उनपर उपसर्ग हुआ, अग्नि से धग-धगाते लोहे के कड़े उनके हाथ-पैरों में पहना दिये गए। ऐसा भयंकर उपसर्ग होने पर भी उनमें से तीन पाण्डव (युधिष्ठिर, भीम व अर्जुन) तो आत्मध्यान में ऐसे अविचल-स्थिर हुए कि उपसर्ग उन्हें डिगा नहीं पाया। वे आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में ऐसे निमग्न हुए कि केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो गये; परन्तु दो (सहदेव व नकुल) को साधर्मी के नाते से ऐसा शुभभावरूप विकल्प आ गया कि अरे ! महान तपस्वी साधर्मी साक्षात् साधु परमेष्ठी युधिष्ठिर भीम व अर्जुन के ऊपर जो यह उपसर्ग हुआ, वह अच्छा नहीं हुआ। ऐसे साधक धर्मात्माओं पर ऐसा संकट ? बस, इस शुभ विकल्प के कारण उन्हें ३३ सागर की सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग की आयु बँध गई। इतने काल तक संसार में – सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग में, असंयम की दशा में रहना पड़ेगा। यद्यपि वहाँ अब भी उन्हें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व स्वरूपाचरणचारित्र से अतीन्द्रिय-आनन्द वर्तता है, तथापि असंयमजनित खेद व दुःख भी है। वहाँ से चयकर मनुष्य के रूप में भी नौ माह तक माता के पेट में उल्टा लटकना पड़ेगा। देखो, यह शुभभाव का फल ! अरे भाई ! जैसे अशुभभाव बंध का कारण है, उसीतरह शुभभाव भी बंध का कारण है। बंधन की अपेक्षा से दोनों को ही समान गिना है।

अहाहा ! भगवान आत्मा नित्यानन्दमय सच्चिदानन्दघनस्वरूप परमात्मा है। मात्र उस एक को ही दृष्टि में लेकर उसी का अनुभव करना धर्म है। उस आनन्द के नाथ भगवान आत्मा की प्राप्ति के लिए राग की मंदता की या व्यवहाररत्नत्रय के राग की किञ्चित भी अपेक्षा नहीं है।

प्रश्न :—यहाँ कोई यह पूछ सकता है कि 'निर्पेक्षा नया मिथ्या' अर्थात् निर्पेक्ष नय तो मिथ्या होते हैं। यदि दोनों नयों को न माने, केवल एक निश्चयनय को ही माने, व्यवहारनय को नहीं माने, तो क्या मिथ्यात्व नहीं है ?

उत्तर :—बापू ! इस कलश में अपेक्षा की बात आ गई। कहा है न ? 'ग्लपितनिर्भर मोहरजा' अर्थात् जिसने अन्तर में से मोहभाव (मिथ्यात्व) को दूर कर दिया है अर्थात् राग का व पर का लक्ष्य छोड़ दिया है। देखो, यहाँ यह पर की अपेक्षा आई है कि नहीं ? जब निश्चयनय के विषयभूत निज आत्मा में आया है, तब व्यवहार की उपेक्षा की, बस इसमें व्यवहारनय की अपेक्षा आ गई, अतः एकान्त नहीं है। पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री ने 'जैनतत्त्व मीमांसा' में इसका सरस खुलासा किया है। यहाँ तो 'स्वयं उदेति' अर्थात् 'स्वयं उदित होता है' इस बात पर बल (वजन) दिया गया है।

अज्ञान के कारण जो एक ही कर्म अब तक दो प्रकार का दिखाई देता था, उसे ज्ञान ने यथार्थ दर्शा दिया है। जिसप्रकार नाटक के रंगमंच-पर एक ही पुरुष अलग-अलग समय में बदल-बदल कर दो व्यक्तियों के भेष धर कर दो पार्ट (डबल रौल) करता है, वहाँ व्यक्ति तो एक ही है, मात्र भेष बदलता है, उसीप्रकार एक ही कर्म पुण्य व पाप के भेष में रंग-मंचपर आता है। यहाँ भी कर्म तो एक ही है, पुण्य व पाप ऐसे कोई अलग-अलग दो कर्म नहीं हैं।

प्रश्न—यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि जब दोनों के फल में अन्तर है तो एक ही कैसे रहे ?

उत्तर—भाई ! दोनों का फल भी एक ही है। दोनो के ही फलों में संयोग मिलते हैं। पुण्य से स्वर्गादिक व पाप से नरकादिक मिलते हैं, परन्तु ये सब गतियाँ दुःखरूप ससार ही हैं।

आचार्य यहाँ कहते हैं कि अज्ञान के कारण एक ही कर्म दो प्रकार का दिखाई देता है। भाई ! पुण्य हो या पाप हो, शुभभाव हो या अशुभभाव हो, दोनों एक ही जाति के हैं, एक ही बाप के दो बेटे हैं, दोनों ही बन्धन के कारण हैं। दोनों में एक भी धर्म या मोक्ष का कारण नहीं है। जो अज्ञान से अच्छा-बुरा प्रतीत होता है, वह शुद्ध चैतन्य-स्वभाव के भान से एकरूप दिखाई देने लगा अर्थात् भेदज्ञान (आत्मज्ञान) होनेपर दोनों ही कर्म बन्धस्वरूप हैं, दुखःरूप हैं – इसप्रकार एकरूप दिखाई देने लगे हैं।

अब कहते हैं कि ज्ञान में जो मोहरूपी रज लग रही थी, वह स्वरूप-सन्मुखता के पुरुषार्थ से जब दूर हुई तो यथार्थ भान हो गया। आत्मा तो

त्रिकाल ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान ही है, परन्तु उसकी पर्याय में अनादि-काल से मोहरूपी रज लग रही थी अर्थात् मिथ्यात्वभाव हो रहा था, उस मिथ्यात्व की दशा में एक ही कर्म पुण्य-पाप रूप से दो प्रकार का दिखाई दे रहा था, किन्तु निजस्वरूप की सन्मुखता द्वारा मोहभाव दूर हुआ तो कर्म के यथार्थ स्वरूप का भान हो गया। पुण्य-पाप रूप से भला-बुरा दिखाई देनेवाला दो प्रकार का कर्म एक ही है – ऐसा स्पष्ट प्रतिभासित होने लगा।

जिस प्रकार सूय-चन्द्रमा के नीचे बादल या राहू-केतू गृह आड़े आ जाने से सूर्य-चन्द्रमा का यथार्थ प्रकाश प्रकाशित नहीं होता, उसीप्रकार यहाँ आत्मा की पर्याय में पुण्य पाप के जो भाव होते है, उनसे बन्धन होता है। वह बन्धन बादलों की भाँति आवरणरूप है। ये पुण्य-पाप के भाव आत्मा के बन्धन के कारण हैं। इन्हें दूर करके ज्ञान की निर्मल पर्याय द्वारा आत्मा का ज्ञानप्रकाश होने से आत्मा चन्द्रमा की भाँति शीतल, शान्त व उज्वल प्रकाशित होता है।

देखो, पुण्य-पाप के दोनों ही भाव अशान्त हैं। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग अशान्त है, आकुलतामय है। लोगों को यह बात कड़क लगती है परन्तु इससे क्या हो ? पुण्य-पाप से रहित शुद्धज्ञानघन-स्वरूप भगवान आत्मा को निर्मल चैतन्य की परिणति द्वारा ग्रहण करके उस एक का ही अनुभव करना धर्म है, वही वीतरागी शान्ति है।

अब पुण्य-पाप के स्वरूप का दृष्टान्तरूप काव्य कहते हैं:—

(मन्दाक्रान्ता)

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्य तयैव।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥१०१॥

श्लोकार्थः (शूद्रा के पेट से एक ही साथ जन्म को प्राप्त दो पुत्रों में से एक ब्राह्मण के यहाँ और दूसरा उसी शूद्रा के यहाँ पला उनमें से) [एक] एक तो [ब्राह्मणत्व-अभिमानात्] 'मैं ब्राह्मण हूँ' इसप्रकार ब्राह्मणत्व के अभिमान से [दूरात्] दूर से ही [मदिरां] मदिरा का [त्यजति] त्याग करता है, उसे स्पर्श तक नहीं करता; तब [अन्यः] दूसरा [अहम् स्वयम् शूद्रः इति] 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' यह मानकर [नित्यं] नित्य [तया

एव] मदिरा से ही [स्नाति] स्नान करता है अर्थात् उसे पवित्र मानता है। [एतौ द्वौ अपि] यद्यपि वे दोनों [शूद्रिकायाः उदरात् युगपत् निर्गतौ] शूद्रा के पेट से एक ही साथ उत्पन्न हुए हैं, इसलिये [साक्षात् शूद्रौ] (परमार्थतः) दोनों साक्षात् शूद्र हैं, [अपि च] तथापि वे [जातिभेद-भ्रमेण] जातिभेद के भ्रम सहित [चरतः] प्रवृत्ति (आचरण) करते हैं। (इसीप्रकार पुण्य और पाप के सम्बन्ध में समझना चाहिये।)

भावार्थः—पुण्य-पाप दोनों विभावपरिणति से उत्पन्न हुए हैं, इसलिये दोनों बन्धरूप ही हैं। व्यवहारदृष्टि से भ्रमवश उनकी प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न भासित होने से, वे अच्छे और बुरे रूप से दो प्रकार दिखाई देते हैं। परमार्थदृष्टि तो उन्हें एकरूप ही, बन्धरूप ही, बुरा ही जानती है।

कलश १०१ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

यद्यपि इस कलश का अर्थ अत्यन्त सरल है, तथापि श्री पाण्डे राजमलजी ने इस कलश का बड़ा ही सरस स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने लिखा है कि कोई जीव दया, व्रत, शील, संयम में मग्न है; उसको शुभकर्म का बन्ध होता है, कोई जीव हिंसा, विषय, कषाय में मग्न है; उसे पापकर्म का बन्ध होता है। वे दोनों अपनी-अपनी क्रिया में मग्न हैं, वे मिथ्यात्व के कारण ऐसा मानते हैं कि शुभकर्म भला है तथा अशुभकर्म बुरा है; इसकारण ये दोनों ही मिथ्यादृष्टि हैं, दोनों ही प्राणी कर्मबन्ध करनेवाले हैं।

देखो, शुभराग को भला जाननेवाले सभी जीव ऐसा सोचते हैं कि हमें विषय-कषाय सेवन नहीं करना, हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील आदि का सेवन नहीं करना। हमें तो दया का पालन करना है, व्रतों का पालन करना है – ऐसा मानकर वे परपदार्थ के त्याग का मिथ्या अभिमान करते हैं, परन्तु ये दया-दान-व्रत, ब्रह्मचर्य आदि के परिणाम भी विभाव-परिणाम हैं, अशुद्ध परिणाम हैं; इन्हें भला (धर्मरूप) जानना और मानना मिथ्यादर्शन है।

वहाँ आगे कहा है—"भावार्थ इसप्रकार है कि मैं शूद्रा के पेट से जन्मा हूँ, इस मर्म को वह नहीं जानता। जिसप्रकार 'मैं ब्राह्मण हूँ, मेरे कुल में मदिरा निषिद्ध है – ऐसा जानकर जिसने मदिरा छोड़ी है, वह भी विचार करने पर चाण्डाल ही है; उसी प्रकार जो कोई जीव शुभोपयोगी होता हुआ यतिक्रिया मात्र में मग्न रहता हुआ शुद्धोपयोग को नहीं जानता, केवल यतिक्रिया मात्र में मग्न रहता है, वह ऐसा मानता है कि

'मैं तो मुनीश्वर हूँ, मुझे विपय-कपाय सामग्री निषिद्ध है' [ऐसा मानकर विषय-कषाय सामग्री को छोड़ता है,] ऐसा करता हुआ स्वयं को धन्य मानता है, मोक्षमार्गी मानता है; परन्तु विचार करने पर वह जीव मिथ्यादृष्टि ही है, कर्मबन्ध को ही करता है, इसमें कुछ भी भलापना (अच्छाई) नहीं है।"

यहाँ यह कहा गया है कि जो आत्मा त्रिकाल शुद्ध चैतन्यस्वभावमय वस्तु है, उसके लक्ष्य से प्रगट हुए चैतन्य के निर्मल उपयोग शुद्धोपयोग को तो जानता नहीं है और केवल दया-दान-व्रत-तप आदि बाह्य यतिक्रिया में अर्थात् २८ मूलगुण आदि के पालन में ही मग्न है तथा उससे स्वयं को मोक्षमार्गी मानता है, परन्तु वस्तुतः वह मिथ्यादृष्टि है, वह कर्मबन्ध को ही करता है। उसे किंचित् भी धर्म नहीं होता, क्योंकि ये सभी शुभोपयोग चंडालिनी के पुत्र की तरह विभाव से उत्पन्न हुई दशा है, स्वभावजनित दशा नहीं है।

आजकल यह बात जगत के लोगों को कठोर लगती है, सुहाती नहीं है; क्योंकि वे ऐसा मानते हैं कि जिन्होंने हिंसादि पापकार्य छोड़ दिए हैं और विपय-कषाय सेवन नहीं करते हैं, स्त्री-पुरुप-कुटुम्ब परिवार सब कुछ त्याग दिया है, वे मोक्षमार्गी हैं? उन्हें मोक्षमार्गी न कहना उनके साथ अन्याय है।

ऐसी मान्यतावाले जगत के जीवों का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि अरे भाई! परवस्तु का त्याग व ग्रहण तो आत्मा में है ही नहीं। अनुभवप्रकाश शास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि यदि आत्मा में परवस्तु का ग्रहण-त्याग होवे तो फ़िर वह ग्रहण-त्याग निरन्तर हुआ ही करेगा, आत्मा किसी भी समय ग्रहण-त्याग से मुक्त नहीं रह सकेगा।

समयसार में ४७ शक्तियों के वर्णन में आता है कि आत्मा में त्यागोपादानशून्यत्व नामक शक्ति है; इससे आत्मा परवस्तु के त्याग व ग्रहण से शून्य है। यह न मानकर इसके स्थान पर कोई ऐसा माने कि मैंने यह छोड़ा, वह छोड़ा अथवा यह ग्रहण किया, वह ग्रहण किया, तो यह उसका मिथ्या अभिप्राय है। ऐसे मिथ्या अभिप्राय से वह कर्मबन्ध ही करता है। भाई! स्वरूप से ही आत्मा ग्रहण-त्याग से रहित है अतः कोई भी जीव पर का ग्रहण-त्याग नहीं करता। अहा! अज्ञानी ने पर्याय में उल्टी मान्यता से ही राग का ग्रहण किया है और ज्ञानभाव से

ही, वह उसे छोड़ता है। जब ज्ञानी जीव स्वयं निज चैतन्य स्वभाव की दृष्टि करके उसमें एकाग्र होकर रहता है तो उसको रागादि उत्पन्न ही नहीं होते; तब व्यवहार में यह कहा जाता है कि उसने राग को छोड़ा है।

भाई! यह जन्म-मरण से मुक्त होने का मार्ग बहुत सूक्ष्म है।

कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि अभी तो शुभभाव करो व व्रतादि व्यवहाररत्नत्रय को पालो, तब कहीं धीरे-धीरे निश्चयरत्नत्रय प्रगट होगा, परन्तु भाई! ऐसा नहीं है। यहाँ तो आचार्य अत्यन्त स्पष्ट कहते हैं कि शुभभाव से बन्ध ही होगा। निश्चयस्वरूप की प्राप्ति तो शुभाशुभभाव रहित अपने त्रिकाली शुद्ध चैतन्य-स्वभाव में अपना उपयोग लगाने से ही होगी। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

अहाहा....! वस्तु तो स्वयं शुद्ध चैतन्यघन ही है, परन्तु उसी में उपयोग रमे व जमे तो ही शुद्ध है। शेष परद्रव्यों के लक्ष्य से जो भी परिणाम होते हैं, वे सब शुभाशुभभावरूप मलिन परिणाम ही हैं तथा वह बन्धन के कारणरूप है। भाई! यह भगवान की दिव्यध्वनि में आई हुई बात है, जिसे कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने यहाँ जाहिर किया है।

व्यवहार की अपेक्षा शुभ-अशुभ भाव में अन्तर है। दोनों में परस्पर अन्तर देखने से अन्तर दिखाई देता है, परन्तु बन्धन की अपेक्षा विचार करने पर निश्चय से दोनों एक से ही (बन्धस्वरूप ही) है, कोई अन्तर नहीं है। टीकाकार ने २००वें कलश में कहा है – दया-व्रत तप-शील-संयमादि जितनी भी देहरूप शुभक्रियायें हैं तथा इन शुभक्रियाओं के अनुरूप शुभोपयोगरूप परिणाम है तथा उन परिणामों के निमित्त से बंधे जो साताकर्म आदि पुण्यरूप पुद्गल पिण्ड हैं, वे सब भले हैं, जीव को सुखकारी हैं। हिंसा विषय-कषायरूप जितनी क्रियायें हैं, वे तथा उन क्रियाओं के अनुसार अशुभोपयोगरूप संक्लेश परिणाम और उन परिणामों के निमित्त से होने वाले असाताकर्म पापबन्ध रूप पुद्गलपिण्ड बुरे हैं, जीव को दुःखकारी हैं – ऐसा अज्ञानी मानता है। ज्ञानी तो ऐसा जानते हैं कि जैसा अशुभकर्म जीव को दुःखकारी है, वैसा ही शुभकर्म भी जीव को दुःखकारी है; कर्मों में भला तो कोई भी कर्म नहीं है।

भाई! व्रत, दया, तप, शील, संयम आदि सभी शुभक्रियायें शुभपरिणामरूप हैं। इनसे स्वर्गादि के कारणरूप पुण्यबन्ध होता है, मोक्षमार्ग नहीं और इनका फल संसार है, मोक्ष नहीं।

अरे ! अनादि से जीव चौरासी के अवताररूप चारगति में ही रखड़ रहा है। इस परिभ्रमण के कारण वह महादुःखी है। पुण्य के फल में बड़ा देव हो या करोड़पति बड़ा सेठ हो, परन्तु ये सब तो जड़ का वैभव है। विषय कषाय की यह सम्पूर्ण सामग्री अनुकूल होने पर भी हेय हैं; त्यागने योग्य है। 'त्यागनेयोग्य' जो कहा, इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि इनका त्याग ही है, परन्तु इनकी तरफ जो लक्ष्य है, वह त्यागने योग्य है तथा 'इनसे मुझे सुख होता है' – यह मान्यता त्यागने योग्य है।

'पुण्य-पाप दोनों विभाव परिणति से उत्पन्न होने से बन्धरूप ही हैं।' चाहे वे दया-दान-व्रत-तप-भक्ति या पूजा के शुभ भाव हों अथवा हिंसा-झूठ-चोरी एवं विषयभोग की वासना के अशुभ परिणाम हों; दोनों ही विभाव परिणति से उत्पन्न हुए हैं, अतः दोनों बन्धरूप ही हैं।

पुण्य-पाप तो विभाव परिणति से उत्पन्न हुए क्षणिक भाव हैं और अन्दर में विराजमान आनन्दकन्द स्वरूप चैतन्यमय महाप्रभु भगवान आत्मा त्रिकाली तत्त्व है, अतः पुण्य-पापरूप परिणति उसका स्वभाव नहीं है। यह शुभाशुभभावरूप विकार तो उदयजनित दशा है, विभाव भावरूप परिणाम मलिन तथा बन्धनरूप है।

जिनवाणी में इतना स्पष्ट कथन होने पर भी आज के कुछ पण्डितजन भी यह कहते हैं कि व्यवहार करते-करते अर्थात् शास्त्रों को पढ़ते पढ़ाते, बाह्यव्रत-नियम पालते-पालते निश्चयधर्म प्रगट हो जायगा, शुद्ध रत्नत्रय प्रगट हो जायगा; परन्तु भाई ऐसा नहीं है। पिछले १००वें कलश में भी कह आये हैं कि यह ज्ञानसुधांशु स्वयं उदित होता है। इसी १००वें कलश का अध्यात्मतरंगणी में यह अर्थ किया है कि सम्यग्दर्शन होने में शुद्ध रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग होने में परको कोई अपेक्षा है ही नहीं। वहाँ संस्कृत में 'कर्मनिरपेक्ष' शब्द आया है, जिसका अर्थ यह है कि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान आत्मा के आश्रय से प्रगट होता है, किसी कर्म या व्यवहार के कारण नहीं।

बापू ! इस शुभ की ओर के झुकाव के कारण ही तू अनादि से संसार सागर में गोते खा रहा है, भव-वन में भटक-भटक कर दुःखी हो रहा है। छहढाला में भी कविवर पं० दौलतरामजी ने यही कहा है—

'मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रीवक उपजायो ।
पै निज आतम ज्ञान बिना सुखलेश न पायो ।।'

अर्थात इस जीव ने अनंत बार मुनिव्रत धारण करके निरतिचार पाच महाव्रतों का पालन किया, प्राण जाय तो भी अपने लिए वनाया गया (उद्दिष्ट) आहार ग्रहण नहीं किया। चमड़ी उतार कर नमक-मिर्च छिड़का तो भी क्रोध नहीं किया, मन्दकषाय में ऐसी-ऐसी कठोर असह्य वाह्य क्रियाएं अनंतवार कीं, और उनके फल में अनंतवार नवग्रैवेयक तक भी गया; परन्तु अन्तरंग में से शुभभाव का पक्ष नही छूटने से आत्मज्ञान उदित नहीं हुआ तथा आत्मज्ञान उदित हुए बिना इस जीव को लेश मात्र भी सच्चा सुख प्राप्त नहीं हुआ ।

भाई ! यदि तुझे धर्म करना है तो शुभाशुभभाव से रहित अन्दर जो निर्मलानंद त्रिकाल परमात्मस्वरूप प्रभु आत्मा विराजता है, अपने उपयोग को उसमें जड़ दे – खचित कर दे । उससे ही तुझे शुद्धोपयोगरूप सच्चा धर्म प्राप्त होगा । शुभोपयोग तो अशुभोपयोग की भांति ही स्वभाव के विरुद्ध विभावरूप विपरीत दशा ही है, अतः उससे धर्म नहीं होता ।

दया, दान, व्रत, शील, संयम आदि जो गृहस्थ धर्म व मुनिधर्मरूप व्यवहारधर्म कहलाता है, वह सब शुभभावरूप ही है। वह आत्मा के स्वभावरूप-शुद्धोपयोगरूप धर्म नहीं है । प्रवचनसार की १७२वीं गाथा के १७वें अलिंगग्रहण बोल में आता है कि लिंगों का अर्थात् धर्म चिह्नों का ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है । इस प्रकार आत्मा को वहिरंग यतिलिंगों का अभाव है – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। देखो यह सब व्यवहार धर्म आत्मा के स्वरूप में नहीं है। परमात्मप्रकाश में तो इससे भी विशेष बात कही है । वहाँ कहा है कि भावलिंग जो निर्विकल्प मुनिदशा आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुई शुद्धरत्नत्रयरूप वीतरागी चारित्रदशा को भी आत्मा का स्वरूप नहीं कहा, क्योंकि वह पर्याय है । सच्चे मोक्षमार्गरूप निर्मल पर्याय भी आत्मद्रव्य का अन्तरंग स्वभाव न होने से निषेध की गई है, आत्मधर्म से भिन्न की गई है; तब यति के द्रव्यलिंगरूप व्यवहारधर्म की क्रिया, जो आत्मस्वरूप से अत्यन्त भिन्न है, बाह्य ही है, उसकी क्या बात कहें ?

भाई ! तुझे आत्मकल्याण करना है या नहीं ? बापू ! तू अनत काल से प्रतिक्षण भावमरणरूप से मर-पच रहा है । तेरे अंतरग में चैतन्य

का परम निधान पड़ा है। परन्तु तू ने अब तक अन्तर्दृष्टि नहीं की। प्रभु ! तू अन्दर में अनन्त शक्तियों का अखण्ड एक ज्ञानानन्दस्वरूप गुप्त भडार है। इसे ज्ञान की परिणति द्वारा खोल यह शुभरागरूप परिणति से नहीं खुलता, शुभराग की परिणति से तो ताला लग जाता है, क्योंकि शुभराग स्वयं बंधरूप ही है।

अब कहते हैं कि व्यवहारदृष्टि से अर्थात् बाह्यदृष्टि से देखने पर पुण्य-पाप की प्रवृत्ति जुदी-जुदी भासित होने के कारण एक अच्छेपने का और दूसरे में बुरेपने की भ्रान्ति उत्पन्न होती है, परन्तु परमार्थदृष्टि से वह उन्हें एक रूप ही जानता है, बन्धरूप ही मानता है। देखो, कोई एक व्यक्ति तो गृहस्थाश्रम में स्त्री कुटुम्ब-परिवार के साथ रहता हुआ और विषय-कषाय का सेवन करता हो और दूसरे ने राजपाट त्यागकर नग्न दिगम्बर दीक्षा धारण की हो; तो इस प्रकार बाहर से दोनों की प्रवृत्ति स्पष्टतया भिन्न-भिन्न भासित होने से अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि अवश्य ही इन दोनों के अन्तरंग में अन्तर (फेर) होना चाहिए। वह एक को पापी और दूसरे को धर्मात्मा माने बिना नहीं रहेगा।

बापू ! जब तक अन्तर्दृष्टि नहीं हुई, दृष्टि में चैतन्य का निधान नहीं आया, आनन्द का नाथ सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वज्ञस्वभावी प्रभु दृष्टि में नहीं आया, तब तक वस्तुत: कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा, शुभाशुभ दोनों ही भाव मात्र बंध के ही कारणरूप हैं। यद्यपि भले-बुरे दिखाई देते है, परन्तु यह तो कोरा भ्रम है। शुभाशुभ प्रवृत्ति के भेद से वे अच्छे या बुरे लगते हैं, परन्तु वास्तव में दोनों ही बंधरूप हैं, दोनों ही ससार हैं, उनमें एक भी मुक्ति का कारण नहीं है।

समयसार नाटक, मोक्षद्वार के ४०वें छन्द में यहाँ तक कह दिया है कि सच्चे भावलिंगी मुनिवरों को, जिन्हें कि प्रचुर स्वसंवेदन सहित पर्याय में आनन्द की उर्मियां उठ रही हैं, उन्हें भी छठवे गुणस्थान में (प्रमत्तदशा में) जो महाव्रतादि का विकल्प उठता है, वह जगपथ है।

सच्चे मुनियों को भी समय-समय जितने शुभभावरूप विकल्प उठते हैं, उतना संसार है तथा सातवें गुणस्थान में अप्रमत्त दशा में जो अन्तर में आनन्द का रमण होता है, वह मोक्षमार्ग है। कोई सम्यग्दर्शन से रहित मात्र बाह्य व्रत-तप करके ही धर्म माने तो उसकी वह मान्यता मिथ्यात्व ही है और जिनकी केवल ऐसी ही कथनपद्धति है कि व्रत करो,

इसमें ही धर्म है; वे तो वस्तुतः यथार्थ उपदेशक ही नहीं है। भाई! यह बात जो सर्वज्ञ परमेश्वर ने कही है, वही बात कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्य तथा नाटक समयसार में पं. बनारसीदास ने कही है।

यही बात यहाँ पण्डित जयचन्दजी कह रहे हैं कि अज्ञानी को भ्रम से पुण्य अच्छा व पाप बुरा प्रतीत होता है। परमार्थ-दृष्टि से देखने पर तो दोनों एक बन्धरूप ही दिखाई देते हैं।

सममसारकलश टीका के एक सौ आठवें कलश में श्री पं. राजमलजी कहते हैं कि यहाँ कोई प्रश्न करेगा कि जो शुभाशुभ क्रियारूप या आचरण-रूप चारित्र है वह यदि करने योग्य भी नहीं है तो निषेध करने योग्य भी नहीं हैं। उसका उत्तर इस प्रकार है कि निषेध करने योग्य हैं, क्योंकि व्यवहार चारित्र निषिद्ध है। जैसे विषयकषाय का निषेध करनेयोग्य है, उसी प्रकार शुभक्रियारूप चारित्र का निषेध ही है। ज्ञान व आनन्द का निधान भगवान आत्मा अपने अन्तर्मुख ज्ञान की परिणति से स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा वेदन में तो प्रत्यक्ष माना जा सकता है, इन्द्रियज्ञान में कदापि नहीं माना जा सकता। उस भगवान आत्मा का स्व-संवेदन ज्ञान में अनुभव करते-करते प्रत्यक्ष केवलज्ञान हो जाता है, परन्तु व्यवहार की क्रिया करते-करते केवलज्ञान का प्रकाश कदापि नहीं हो सकता है। ऐसा ही वस्तु-स्वरूप है।

यातैं ग्यानवंत नहि कोउ अभिलाख्यौ है ।।

जैसैं काहू चंडाली जुगल पुत्र जनें तिनि,
एक दीयो बांभनकै एक घर राख्यौं है।
बांभन कहायौ तिनि मद्य मांस त्याग कीनौ,
चंडाल कहायौ तिनि मद्य मांस चाख्यौ है ।।
तैसैं एक वेदनी करमके जुगल पुत्र,
एक पाप एक पुन्न नाम भिन्न भाख्यौ है।
दुहूं मांहि दौर धूप दोऊ कर्मबंधरूप,
यातैं ग्यानवंत नहि कोउ अभिलाख्यो है ।।३।।

— समयसार नाटक, पुण्य-पाप एकत्व द्वार

समयसार गाथा १४५

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५॥

कर्म अशुभं कुशीलं शुभकर्म चापि जानीथ सुशीलम् ।
कथं तद्भवति सुशीलं यत्संसारं प्रवेशयति ॥१४५॥

शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तत्वे सति कारणभेदात्, शुभाशुभपुद्गलप.रणाममयत्वे सति स्वभावभेदात्, शुभाशुभफलपाकत्वे सत्यनुभवभेदात्, शुभाशुभमोक्षबन्धमार्गाश्रितत्वे सत्याश्रयभेदात् चैकमपि कर्म किंचिच्छुभं किंचिदशुभमिति केषांचित्किल पक्षः। स तु सप्रतिपक्षः।

अब शुभाशुभ कर्म के स्वभाव का वर्णन गाथा में करते हैं :—

है कर्म अशुभ कुशील अरु जानो सुशील शुभकर्म को ।
किस रोत होय सुशील जो संसारमें दाखिल करे ? ॥१४५॥

गाथार्थ:—[अशुभं कर्म] अशुभ कर्म [कुशीलं] कुशील है (—बुरा है) [अपि च] और [शुभकर्म] शुभ कर्म [सुशीलम्] सुशील है (—अच्छा है) ऐसा [जानीथ] तुम जानते हो ! (किन्तु) [तत्] वह [सुशीलं] सुशील [कथं] कैसे [भवति] हो सकता है [यत्] जो [संसारं] (जीव को) संसार में [प्रवेशयति] प्रवेश कराता है ?

टीका.—किसी कर्म में शुभ जोवपरिणाम निमित्त होने से और किसी में अशुभ जीवपरिणाम निमित्त होने से कर्म के कारणों में भेद होता है; कोई कर्म शुभ पुद्गलपरिणाममय और कोई अशुभ पुद्गलपरिणाममय होने से कम के स्वभाव में भेद होता है; किसी कर्म का शुभ फलरूप और किसी का अशुभ फलरूप विपाक होने से कर्म के अनुभव में (स्वाद में) भेद होता है; कोई कर्म शुभ (अच्छे) मोक्षमार्ग के आश्रित होनेसे और कोई कर्म अशुभ (बुरे) बन्धमार्ग के आश्रित होने से कर्म के आश्रय में भेद होता है। (इसलिये) यद्यपि (वास्तव में) कर्म एक ही है तथापि कई लोगोंका ऐसा पक्ष है कि कोई कर्म शुभ है और कोई अशुभ है परन्तु वह

तथाहि—शुभोऽशुभो वा जीवपरिणामः केवलाज्ञानमयत्वादेकः, तदेकत्वे सति कारणाभेदात् एकं कर्म। शुभोऽशुभो वा पुद्गलपरिणामः केवलपुद्गलमयत्वादेकः, तदेकत्वे सति स्वभावाभेदादेकं कर्म। शुभोऽशुभो वा फलपाकः केवलपुद्गलमयत्वादेकः, तदेकत्वे सत्यनुभवाभेदादेकं कर्म। शुभाशुभौ मोक्षबन्धमार्गौ तु प्रत्येकं केवलजीवपुद्गलमयत्वादनेकौ, तदनेकत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमयबन्धमार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म।

(पक्ष) प्रतिपक्ष सहित है। वह प्रतिपक्ष (अर्थात् व्यवहारपक्ष का निषेध करनेवाला निश्चयपक्ष) इसप्रकार है :—

शुभ या अशुभ जीवपरिणाम केवल अज्ञानमय होने से एक है और उनके एक होने से कर्म के कारणों में भेद नहीं होता; इसलिये कर्म एक ही है। शुभ या अशुभ पुद्गलपरिणाम केवल पुद्गलमय होने से एक है; उसके एक होने से कर्म के स्वभाव में भेद नहीं होता; इसलिये कर्म एक ही है। शुभ या अशुभ फलरूप होनेवाला विपाक केवल पुद्गलमय होने से एक है; उसके एक होने से कर्म के अनुभव में (स्वाद में) भेद नहीं होता; इसलिये कर्म एक ही है। शुभ (अच्छे) मोक्षमार्ग केवल जीवमय है और अशुभ (बुरे) बन्धमार्ग केवल पुद्गलमय है, इसलिये वे अनेक (भिन्न-भिन्न दो) हैं; और उनके अनेक होने पर भी कर्म केवल पुद्गलमय-बन्धमार्ग के ही आश्रित होने से कर्म के आश्रय में भेद नहीं है; इसलिये कर्म एक ही है।

भावार्थः— कोई कर्म तो अरहन्तादि में भक्ति-अनुराग, जीवों के प्रति अनुकम्पा के परिणाम और मन्द कषाय से चित्त की उज्ज्वलता इत्यादि शुभ परिणामों के निमित्त से होते हैं और कोई कर्म तीव्र क्रोधादिक अशुभ लेश्या, निर्दयता, विषयासक्ति और देव, गुरु आदि पूज्य पुरुषों के प्रति विनयभाव से नहीं प्रवर्तना इत्यादि अशुभभेद हो जाते हैं। सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र—इन कर्मों के परिणामों (प्रकृति इत्यादि) में भेद है; इसप्रकार स्वभावभेद होने से कर्मों में शुभ और अशुभ दो भेद हैं। किसी कर्म के फल का अनुभव सुखरूप और किसी का दुःखरूप है; इसप्रकार अनुभव का भेद होने से कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हैं। कोई कर्म मोक्षमार्ग के आश्रित है और कोई कर्म बन्धमार्ग के आश्रित है; इसप्रकार आश्रय का भेद होने से कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हैं। इसप्रकार हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय—ऐसे चार प्रकारसे कर्म में भेद होने से कोई कर्म शुभ और कोई अशुभ है; ऐसा कुछ लोगों का पक्ष है।

अब इस भेद पक्ष का निषेध किया जाता है – जीव के शुभ और अशुभ परिणाम दोनों अज्ञानमय हैं, इसलिये कर्म का हेतु एक अज्ञान ही है; अतः कर्म एक ही है। शुभ और अशुभ पुद्गलपरिणाम दोनों पुद्गलमय ही है, इसलिये कर्म का स्वभाव एक पुद्गलपरिणामरूप ही है; अतः कर्म एक ही है। सुख-दुःखरूप दोनों अनुभव पुद्गलमय ही हैं इसलिये कर्म का अनुभव एक पुद्गलमय ही है; अतः कर्म एक हो है। मोक्षमार्ग और बन्धमार्ग में, मोक्षमार्ग तो केवल जीव के परिणाममय ही है और बन्धमार्ग केवल पुद्गल के परिणाममय ही है, इसलिये कर्म का आश्रय मात्र बन्धमार्ग ही है (अर्थात् कर्म एक बन्धमार्ग के आश्रय ही होता हैं – मोक्ष-मार्ग में नहीं होता); अतः कर्म एक ही है।

इसप्रकार कर्म के शभाशुभ भेद के पक्ष को गौरग करके उसका निषेध किया है; क्योंकि यहाँ अभेद पक्ष प्रधान है, और यदि अभेद पक्ष से देखा जाये तो कर्म एक ही है, दो नहीं।

समयसार गाथा १४५ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब इस गाथा में शुभाशुभ कर्म के स्वभाव का वर्णन करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि जो कर्म जीवों को जन्म-मरण के दुःख भोगने के लिए संसार में प्रविष्ट करावे वह कर्म सुशील कैसे हो सकता है? और यह शुभकर्म जीवों को संसार में दाखिल करानेवाला है, जन्म-मरण के दुःखों में यह भी निमित्त होता है, अतः इसे सुशील कैसे कहा जा सकता है? अर्थात् यह सुशील नहीं है।

कितने ही तत्त्व से अपरिचित – नासमझ लोग कहते हैं कि शुभकर्म की बात पुण्यबन्धरूप जड़कर्मो की बात है; परन्तु भाई! यहाँ टीका में तो आचाय अमृतचन्द्र देव ने स्पष्ट लिखा है कि शुभकर्म का कारण जो शुभभाव है, वह भी संसार में प्रवेश करानेवाला है।

देखो, यहाँ टीका में अज्ञानी ने तर्क दिए हैं—

(१) किसी कर्म में शुभ जीवपरिणाम निमित्त होने से और किसी में अशुभ जीवपरिणाम निमित्त होने से कर्म के कारणों में भेद होता है। जिसका ऐसा पक्ष है कि पुण्य भला है, वह कहता है कि जो शुभ-कर्म बंधता है, उसमें पुण्यभाव का निमित्त है और जो अशुभ कर्म बंधता है, उसमें पापभाव का अर्थात् पुण्यबन्ध में जीव के शुभ परिणाम निमित्त

हैं और पापवन्ध में जीव के संक्लेश परिणाम निमित्त हैं। इसप्रकार दोनों के कारण भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए दोनों में अन्तर है। अर्थात् पुण्य अच्छा है पाप बुरा है, आप दोनों को एकसा कैसे कह सकते हो ?

(२) दूसरा तर्क यह है कि – कोई कर्म शुभ पुद्गल परिणाममय और कोई अशुभ पुद्गल परिणाममय होने से कर्म के स्वभाव में भेद होता है।

एक कर्म तो सातावेदनीय आदि रूप वंधता है और दूसरा असाता वेदनीय आदि रूप वंधता है। इसप्रकार शुभाशुभ रूप कर्म के स्वभाव में भी स्पष्ट अन्तर है। दोनों जड़कर्मों के स्वभाव एक समान नहीं हैं।

(३) तीसरा तर्क यह है कि—किसी कर्म का शुभफलरूप एवं किसी कर्म का अशुभफलरूप विपाक होने से कर्म के अनुभव में (स्वाद में) भेद होता है।

पुण्यकर्म के फल से स्वर्गादि गतियाँ मिलती हैं, उच्च आयु, उच्च गोत्र वंधता है और पापकर्म के अशुभ फलरूप नरकादि गतियों को प्राप्त होता है। इसप्रकार दोनों के फल में भी फर्क या अन्तर है।

देखो भाई ! पुण्य के फल ने करोड़ों की सम्पत्ति का स्वामी-वड़ा सेठ होता है और पाप के फल में वही सेठ दरिद्री हो जाता है।

(४) चौथे तर्क में अज्ञानी कहता है कि कोई कर्म शुभ या मोक्षमार्ग के आश्रित होने से होता है और कोई कर्म अशुभ यानि वंधमार्ग के आश्रित होने से, अतः आश्रय की अपेक्षा भी इन दोनों पुण्य-पाप में स्पष्ट अन्तर है।

इसलिए यद्यपि वस्तुतः कर्म एक ही है, तथापि अज्ञानी का ऐसा पक्ष है कि कोई कर्म शुभ है और कोई अशुभ है, परन्तु वह पक्ष प्रतिपक्ष सहित है। वह प्रतिपक्ष अर्थात् व्यवहारपक्ष का निषेध करने वाला निश्चयपक्ष इसप्रकार है—

(१) शुभ या अशुभ जीवपरिणाम केवल अज्ञानमय होने से एक है और उनके एक होने से कर्म के कारणों में भेद नहीं होता, इसलिए कर्म एक ही है।

अज्ञानी ने कहा था कि पुण्यवन्ध में जीव का शुभ परिणाम निमित्त है, कहते हैं कि शुभाशुभरूप दोनों ही परिणाम केवल अज्ञानमय होने से

कर्म एक ही प्रकार का है। यहाँ अज्ञानमय का अर्थ मिथ्याज्ञानमय नहीं है, बल्कि ज्ञान के या चैतन्य के अभावमय है अर्थात् दोनों में ही चैतन्य का या ज्ञान का अभाव है।

देखो ! भगवान आत्मा तो ज्ञान का घनपिण्ड है, चैतन्य-सूर्य है और शुभाशुभ भाव में तो चैतन्य का अंश भी नहीं है। इसकारण वे दोनों ही भाव अज्ञानमय है। गाथा ७२ में भी यह बात आ चुकी है कि शुभाशुभ भाव अशुचि हैं, जड़ हैं, दुःख के कारण हैं। शुभाशुभ कर्म अज्ञानमय हैं, क्योंकि उनमें चैतन्य की जागृति का सर्वथा अभाव है।

भले ही ये भाव चाहे पांच महाव्रत के हों या दया-दान-भक्ति के हों, सभी शुभराग रूप हैं और शुभराग अज्ञानमय है, अर्थात् शुभराग में चैतन्य (ज्ञान-दर्शन) स्वभाव का अभाव है। अर्थात् ये दोनों ही भाव जड़ हैं, अचेतन हैं, इनमें चैतन्य का अंश नहीं है, अजीव हैं। जीव-अजीव अधिकार में इन्हें स्पष्ट अजीव कहा है और यहाँ इन्हें अज्ञानमय अर्थात् जड़ कहा है क्योंकि इनमें चैतन्य के विलास का अभाव है। इनमें चैतन्य की जागृति का प्रकाश नहीं है।

प्रभु ! यह समझे बिना तू अनंत काल से जन्म-मरण के दुःख भोग रहा है। बापू ! तुझे खबर नहीं है। नरकों में शीत-उष्ण की ऐसी पीड़ा होती है कि उसका एक कण भी यहाँ आ जावे तो उससे यहाँ दश-दश योजन तक के मनुष्य मर जावेंगे। भाई। ऐसे नरकों के संयोग में सभी अज्ञानी अनंत बार गए हैं, परन्तु यहाँ आकर हम सब वह पीड़ा भूल गए हैं। यहाँ थोड़ी सी अनुकूलता मिल गई तो अपने को सुखी मान बैठे हैं, परन्तु इसमें किंचित् भी सुख नहीं है। भाई ! यह सब सामग्री तो अंजुली के जल के समान और आकाश में चमकती बिजली के समान क्षणिक — नाशवान है। ये शुभभाव का फल हलाहल-जहर है।

अहाहा ! सच्चिदानन्द स्वरूप प्रभु अकेला आत्मा ही अमृत का पिण्ड है, अतः इसकी दृष्टि (श्रद्धा) हुए बिना अर्थात् स्वानुभूति का आनन्द पाये बिना अज्ञानी जीव जगत में चौरासी लाख योनियों में भटकता रहा है। भाई ! शुभराग रूप व्रत-तप तो तूने अनंतबार किये हैं, परन्तु उसमें तो चैतन्यामृत का अंश भी नहीं था। वह सब तो मात्र अचेतन के ही परिणाम हैं। बापू ! तेरे स्वरूप में शुभाशुभ परिणाम कहाँ हैं। तेरा स्वरूप तो केवल पवित्र ज्ञान-अमृत से भरा है और ये शुभाशुभ परिणाम

तो अपवित्र, अज्ञानमय आत्मा के घात करने वाले जहररूप हैं, अतः हे भाई ! यदि तुम्हें सुखी होना हो तो इन दोनों ही परिणामों को छोड़कर शुद्धात्मस्वभाव को जानो, पहिचानो, उसी की श्रद्धा करो तो तुम्हें अवश्य ही सुख की प्राप्ति होगी।

इसप्रकार शुभ व अशुभ जीव परिणाम केवल अज्ञानमय होने से एक ही है, इनमें कोई अन्तर नहीं है।

(२) अब स्वभाव की अपेक्षा बात करते हैं – शुभ या अशुभ पुद्गलपरिणाम केवल पुद्गलमय होने से एक हैं, उनके होने से कर्म के स्वभाव में भेद नहीं है, इसलिए कर्म एक ही है, देखो जड़कर्म प्रकृति चाहे वह सातावेदनीय का बध हो या असातावेदनीय का, यशकीर्ति का बन्ध हो या अयशकीर्ति का हो – ये सभी पुद्गलपरिणाम होने से केवल पुद्गलमय होने से एक है। वह एक होने से कर्म के स्वभाव में भी अन्तर नहीं है। पुण्य या पाप, साता या असाता – सभी पुद्गल के परिणाम होने से कम के स्वभाव में भेद नहीं है, अत. कर्म एक ही है।

(३) अब फल की अपेक्षा पुण्य-पाप का एकत्व समझाते हैं। शुभ या अशुभ फलरूप होनेवाला विपाक केवल पुद्गलमय होने से एक कर्म के अनुभव में (स्वाद में) भेद नहीं होता, इसलिए कर्म एक ही है।

शुभ का फल और अशुभ का फल केवल पुद्गलमय है। शुभ के फल से लक्ष्मी आदि अथवा स्वर्गादि मिलते हैं और अशुभ के फल में नरकादि मिलते हैं। ये सभी पुद्गलमय हैं, इनमें एक में भी आत्मा नहीं है। पाप के फल में भी पुद्गल ही मिलता है और पुण्य के फल में भी पुद्गल ही मिलता है, इस कारण वे एक होने से कर्म के अनुभव में – फल में भेद नहीं है। दोनों का ही स्वाद-वेदन दुःख रूप है। इसलिए कर्म एक ही है।

(४) शुभ (अच्छा) मोक्षमार्ग केवल जीवमय है और अशुभ (बुरा) बंधमार्ग केवल पुद्गलमय है, इसलिए वे अनेक (भिन्न-भिन्न दो) हैं और उनके अनेक होने पर भी कर्म केवल पुद्गलमय बंधमार्ग के ही आश्रित होने से कर्म के आश्रय में भेद नहीं है, इसलिए कर्म एक ही है।

देखो, इसमें थोड़ा अन्तर है। ज्ञानानंदस्वभावी भगवान आत्मा में सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान व चारित्र – ऐसा जो निश्चय मोक्षमार्ग है, उसे यहाँ शुभ अर्थात् अच्छा कहा है। यहाँ पुण्य को शुभ व पाप को अशुभ नहीं कहा

है। यहाँ तो मोक्षमार्ग को शुभ कहा तथा शुभाशुभभावरूप बंधमार्ग को अशुभ कहा है। शुभाशुभभावरूप जो बंधमार्ग है वह केवल पुद्गलमय है। अहा ! जो अज्ञानमय है वह जीवमय कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। शुभ अर्थात् अच्छी शुद्ध रत्नत्रयरूप जो मोक्षमार्ग की वीतरागी पर्याय ही केवल जीवमय है और इसी कारण वह शुभ अर्थात् अच्छी है, उत्तम है, श्रेष्ठ है तथा शुभाशुभ कर्मरूप जो बंधमार्ग है, वह केवल अज्ञानमय है, पुद्गलमय है, अतः अशुभ है, अजीव है।

वे दोनों शुभाशुभ कर्म (अनेक) दो होते हुए भी एक कर्म की ही जाति होने से केवल बधमार्ग का आश्रय ही है। (भाई) जो तू ऐसा कहता है कि शुभकर्म मोक्षमार्ग का आश्रय है, सो वस्तुतः यह बात नहीं है। यह तो तेरी मिथ्या कल्पना है। शुभकर्म भी बधमार्ग का ही आश्रय है।

प्रश्नः—जिनवाणी में शुभभावों को व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है न ?

उत्तरः—भाई ! यह तो आरोपित कथन है। जब अन्तर आत्मा में निश्चय मोक्षमार्ग – वीतरागभावरूप यथार्थ मोक्षमार्ग होता है तो उसके साथ में रहने वाले शुभभाव को व्यवहार मोक्षमार्ग कहा जाता है। जैसे वर के साथ घोड़े पर बैठे बालक को अनवर कहते हैं, परन्तु अनवर को कहीं दुल्हन नहीं मिलती; इसीप्रकार निश्चय के साथ रहे शुभभाव को व्यवहार से मोक्षमार्ग तो कहा जाता है, पर वह वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं है।

इसप्रकार शुभाशुभ कर्म केवल बंधमार्ग के आश्रय होने से कर्म के आश्रय में भेद नहीं है, इसलिए कर्म एक ही है।

इसतरह यहाँ केवल व्यवहार पक्ष के कारण अज्ञानी को शुभाशुभ कर्म में जो एक अच्छा व दूसरा बुरा – ऐसा भेद प्राप्त होता था, उसका निराकरण करके दोनों एक ससार के ही हेतु हैं, अतः कोई भेद नहीं है – यह स्पष्ट किया।

गाथा १४५ के भावार्थ पर प्रवचन

"कोई कर्म तो अरहन्तादि में भक्ति-अनुराग, जीवों के प्रति अनुकम्पा के परिणाम और मदकषाय से चित्त की उज्ज्वलता इत्यादि शुभ परिणामों के निमित्त से होते हैं और कोई कर्म तीव्र क्रोधादि अशुभ लेश्या, निर्दयता, विषयासक्ति और देव-गुरु आदि पूज्य पुरुषों के प्रति विनयभाव

से नहीं प्रवर्तना इत्यादि अशुभ परिणामों के निमित्त से होते हैं। इसप्रकार हेतुभेद होने से कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हो जाते हैं।"

देखो, जो कर्म अरहन्तादि में – अर्थात् पंचपरमेष्ठी में भक्ति-अनुराग के निमित्त से होते हैं, वे यद्यपि शुभरूप होते हैं; तथापि ये रागजनित होने से आकुलता रूप ही हैं। यह पंचपरमेष्ठी का राग अपने आत्मा की आनन्द दशा के प्रगट करने में सहायक अर्थात् निमित्त भले हों पर "सहायक" अर्थात् मददगार नहीं होते। यहां "सहायक" का अर्थ सहचारी या साथ में रहनेवाले ही है, मददगार नहीं; क्योंकि अरहन्तादि पंचपरमेष्ठी भगवान एवं उनके प्रति हुआ अनुराग – दोनों ही परद्रव्य हैं और परद्रव्य किसी अन्य द्रव्य की मदद या सहायता करे – ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है।

प्रश्न:—ये राग की पर्याय तो जीव की ही है न ?

उत्तर:—भाई ! यह राग की पर्याय वस्तुत: तो आत्मद्रव्य की है ही नहीं। यह तो पूर्व में भी कह आये हैं कि पुण्य व पाप – ये दोनों ही विभावपरिणतिरूप चाण्डालनी के ही पुत्र हैं। जैसे चाण्डालिनी का एक पुत्र ब्राह्मणी के घर में पल-पुसकर बड़ा हुआ, इसलिए वह कहता है कि मैं मदिरा-पानादि क्रियायें नहीं करता, उसी प्रकार शुभभाव रूप व्यवहार क्रिया में आया, इसलिए कहता है कि मैं हिंसा आदि पाप एवं विषयभोग आदि पाप भाव नहीं करता, परन्तु ये सब वास्तव में तो विभाव परिणति चाण्डालनी के पुत्रवत ही हैं। अशुभ की तरह शुभ परिणाम भी विभाव परिणति जन्य परिणाम ही हैं, ये शुद्ध चैतन्यस्वभावजन्य परिणाम नहीं हैं; इसलिये ये रागादि आत्मपरिणतिरूप नहीं हैं।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि अरहंतादि पंच परमेष्ठी में भक्ति का अनुराग शुभभाव है और शुभभाव आत्मा का स्वभाव नहीं है तथा आत्मा के श्रद्धान-ज्ञान होने में सहायक अर्थात् मददगार भी नहीं है।

प्रश्न:—शास्त्र में जो ऐसा कथन आता है कि व्यवहार (साधन) से निश्चय (साध्य) की प्राप्ति होती है, उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर:—हां, आचार्य जयसेन की समयसार की टीका में बहुत जगह ऐसे कथन आये हैं, परन्तु वे सब व्यवहार के कथन हैं। जब यह सिद्ध करना हो कि जिसे निश्चय धर्म प्रगट हुआ हो, उसका उसकी भूमिकानुसार व्यवहार कैसा होता है ? तब इसप्रकार के व्यवहारनय के कथन जिनवाणी

में आते हैं, परन्तु अरहंतादि में भक्ति का अनुराग आदि शुभभाव पुण्यबंध के ही कारण हैं। ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अबंध परिणामों में सहायक या मददगार नहीं होते।

सम्यग्दशन आदि वीतरागी अबन्ध परिणाम हैं। अबन्ध परिणामों का कारण अबन्धस्वभाव ही हो सकता है, राग का बन्धरूप परिणाम अबन्ध परिणामों का कारण नहीं हो सकता। भगवान आत्मा त्रिकाल अबन्ध स्वभावी है। "जो पस्सदि अप्पाणं अबद्ध पुट्ठ" आदि १४वीं व १५वीं गाथा में जो "अबद्ध" शब्द आया है, वह तो "नास्ति" का कथन है। यदि अस्ति से कहें तो भगवान आत्मा त्रिकाल मुक्त स्वरूप ही है। अहाहा...... ऐसे त्रिकाल मुक्तस्वरूप भगवान आत्मा में अन्तर्दृष्टि करके उसका अनुभव करने का नाम ही जैनशासन है। दया, दान, भक्ति आदि के राग का अनुभव जैनशासन नहीं है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जो प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्तिक्य आदि को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा गया है, क्या वह जैनशासन का कथन नहीं है?

उत्तर : अरे भाई! वह अनुकम्पा अरागी – वीतरागी अनुकम्पा है तथा सम्यग्दर्शन के साथ रहनेवाले शुभराग को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहना उपचार है।

अनुभव प्रकाश में पं० दीपचन्दजी शाह ने अनादिकाल से अपने को भूले हुये अज्ञानी जीवों को समझाते हुये उदाहरण दिया है कि एक चांपा था, जो एकबार धतूरा पीकर इतना उन्मत्त हो गया कि वह यह भी भूल गया कि मैं चांपा हूँ, घर जाकर अपने ही दरवाजे के किवाड़ खटखटाते हुये आवाज लगाता है कि घर में चांपा है? तब अन्दर से उसकी पत्नी उसकी आवाज पहचानते हुये आश्चर्यचकित होकर कहती है कि अरे! तुम स्वय कौन हो? और किसे आवाज दे रहे हो? क्या तुम स्वयं चांपाजी नहीं हो तब उसे होश आया और कहने लगा—हां, हां, मैं ही तो चांपा हूँ। इसीप्रकार अनादि से अज्ञानी जीव अपने स्वभाव को भूला हुआ है और पूछता है कि आत्मा कौन है? उसका क्या स्वरूप है और वह हमें कैसे प्राप्त होगा? आचार्यदेव उसे समझाते हुये पूछते हैं कि तू स्वयं कौन है? क्या तू आत्मा नहीं है? अरे भाई! यह बता कि 'ये सब

हैं, हैं, हैं' – ऐसा जो जानता है, वह कौन जानता है ? जाननेवाला जो पर को व स्वयं जानता है, वह आत्मा ही तो है ।

अनुभवप्रकाश में यह भी कहा है कि – जहाँ-जहाँ ज्ञान, वहाँ-वहाँ आत्मा और जहाँ-जहाँ आत्मा, वहाँ-वहाँ ज्ञान – ऐसा दृढ़ प्रतीतिभाव ही सम्यक्त्व है, क्योंकि आत्मा ज्ञानमय है और वह ज्ञान की सम्यक् परिणति द्वारा जाना जाता है ।

अहाहा ··· ! सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा त्रिकाल परमानन्द स्वभावी है । वह आनन्द के स्वादरूप स्वसंवेदन परिणति से ही जाना जा सकता है । परमानन्द स्वभावी प्रभु आत्मा त्रिकाल अस्तिरूप है, परन्तु पर्याय में परमानन्द के परिणमन बिना, आनन्द का स्वाद आये बिना, स्वसंवेदन हुये बिना अस्ति स्वरूप भगवान आत्मा की प्रतीति कैसे आ सकती है ?

भाई ! यह आत्मा के स्वरूप की बात चल रही है, इसलिये यहाँ कहते हैं कि अनुकम्पा शुभराग है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है । इस शुभरागरूप व्यवहार के द्वारा आत्मा का निश्चयस्वरूप प्राप्त नहीं होता । यह छह:काय के जीवों की अनुकम्पा एवं महाव्रतादि के शुभ परिणाम भी दु:खरूप हैं । इन दु:ख के, आकुलता के परिणामों से सुखस्वरूप आत्मा की प्राप्ति कभी भी सम्भव नहीं है । अपनी अन्तर्मुखाकार आनन्द की परिणति से ही सुखस्वरूप भगवान आत्मा की प्राप्ति होती है ।

अब यहाँ अज्ञानी की ओर से पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुये आचार्यदेव कहते हैं कि अनुकम्पा, मन्दकषाय, चित्त की उज्वलता आदि सभी शुभराग हैं, उपदेश देना या सुनना भी शुभराग है । इन परिणामों के निमित्त से पुण्यकर्म का बन्ध होता है और अशुभपरिणाम के निमित्त से पापकर्म बंधता है, इसप्रकार हेतु में भेद होने से कर्म के भी शुभ व अशुभ – दो भेद हो जाते हैं ऐसी अज्ञानी की दलील है । तथा वह कहता है कि कर्म की प्रकृति में या स्वभाव में शुभ व अशुभ – ऐसे दो भेद हैं । "जैसे कि सातावेदनीय, शुभ-आयु, शुभनाम व शुभगोत्र में तथा चार घातिया कर्म, आसातावेदनीय, अशुभ-आयु, अशुभनाम व अशुभगोत्र – इन कर्मों के परिणाम में भेद है ।" यह अज्ञानी के भेद का पक्ष है । एक में साता कर्म बंधता है तो दूसरे में असाताकर्म बंधता है । एक में उच्च (स्वर्गादि) आयुकर्म बंधता है । एक में यशकीर्ति बंधती है तो दूसरे में अयशकीर्ति

वंधती है – इसप्रकार कर्म की प्रकृति के स्वभाव में भेद है। तथा किसी कर्म के फल का अनुभव सुखरूप है और किसी का दुःखरूप है – इसप्रकार अनुभव का भेद होने से कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हैं।

देखो, पुण्यकर्म के फल में स्वर्ग मिलता है, करोड़पति सेठ हो जाता है और पापकर्म के फल में तेतीस-तेतीस सागर तक सातवीं नरक के भारी भयंकर दुःख भोगता है। तो क्या कर्म के फल में ये कोई अन्तर नहीं है ? है, है, अवश्य है। ऐसा अज्ञानी का पूर्वपक्ष है।

तथा वह कहता है—"कोई कर्म मोक्षमार्ग के आश्रित है और कोई कर्म वन्धमार्ग के आश्रित है। इसी प्रकार आश्रय का भेद होने से भी कर्म के शुभ व अशुभ दो भेद हैं।"

देखो, मोक्षमार्ग के प्रसंग में (साधकदशा में) धर्मीजीव को शुभभाव होते हैं। इस कारण अज्ञानी को ऐसा भ्रम हो जाता है कि शुभभाव जिसका निमित्त है – ऐसा शुभकर्म मोक्षमार्ग के आश्रय से वंधता है तथा अशुभकर्म वंधमार्ग के आश्रय से होता है। ऐसे आश्रय के भेद होने से कर्म शुभ व अशुभ – ऐसे दो भेदवाला है।

इसप्रकार हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय – ऐसे चार प्रकार से कर्म में भेद होने से कोई कर्म शुभ है तथा कोई कर्म अशुभ है – ऐसा अज्ञानियों का पक्ष है।

अब इस भेदपक्ष का निषेध करके आचार्यदेव सत्यपक्ष की स्थापना करते हैं।

"जीव के शुभ व अशुभ दोनों ही परिणाम अज्ञानमय हैं, अतः कर्म एक ही है।"

भाई ! इन शुभाशुभ परिणामों में चैतन्य की या ज्ञान की किरण नहीं है ? ये तो तीनों ही अंधे हैं, अज्ञानमय हैं, अतः दोनों एक ही हैं, इनमें भेद कैसा ? शुभ कुछ कम अज्ञानमय हो व अशुभ कुछ अधिक अज्ञानमय हो – ऐसा भी नहीं है। दोनों ही समानरूप से एक से अज्ञानमय हैं, इसलिये इन दोनों में एक भी धर्मरूप नहीं है। शुभाशुभभाव से रहित जो ज्ञान (चैतन्य परिणाम) है; वह धर्म है तथा शुभाशुभभाव अज्ञानमय होने से अधर्म है।

ये दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, सामायिक, प्रतिक्रमरा, प्रोषध आदि सब राग की मन्दतारूप शुभभाव हैं, धर्म नहीं। ये पुण्यभाव हैं और भगवान त्रिलोकीनाथ ने इन्हें यहाँ अज्ञान कहा है।

भगवान ! तेरा स्वरूप तो चिदानन्दस्वरूप है, सदा ही जागृत चैतन्य ज्योतिमय है, ज्ञानस्वभावी है और ये शुभाशुभभाव तेरे चैतन्य-स्वभाव से विपरीत भाववाले हैं। इसकारण इन दोनों ही भावों को अज्ञानमय कहा जाता है।

देखो, शुभभाव स्वयं अज्ञान तो हैं, किन्तु अज्ञान से होने से उसे मिथ्यात्व नहीं मान लेना चाहिये। यहां अज्ञान शब्द मिथ्यात्व के अर्थ में नहीं है। हां, यदि शुभभाव को कोई धर्म माने तो उसकी वह मान्यता मिथ्यात्व होगी। शुभभाव स्वयं मिथ्यात्व नहीं है। देव-शास्त्र-गुरु की भेदरूप श्रद्धा शुभराग है, यद्यपि यह शुभराग मिथ्यात्व नही है और धर्म भी नहीं है, तथापि इसे धर्म मानना या इस शुभराग से धर्म होगा – ऐसा मानना मिथ्यात्व है। भाई ! यह तो न्याय की (युक्तिसंगत) वात है।

अहा हा....! भगवान ! तेरा द्रव्य तीनकाल में कभी भी शुभा-शुभभाव के विकल्प से तन्मय नहीं हुआ। मैं शुभ हूँ या अशुभ हूँ – ऐसा तूने अज्ञानवश माना है, परन्तु तू कभी भी शुभाशुभभावरूप नहीं हुआ। छठवीं गाथा में आया है कि यह त्रिकाली एक ज्ञायक भाव कभी शुभा-शुभभाव के स्वभावरूप नहीं हुआ, क्योंकि यदि वह शुभाशुभभावरूप हो जाय तो आत्मा जड़ हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि शुभाशुभभाव में ज्ञान का अंश नहीं होने से वे जड़ हैं, अचेतन हैं, अजीव हैं; जवकि आत्मा शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप नित्य ज्ञायकरूप विराजमान चैतन्य महाप्रभु है। अहा हा....! ऐसा एक पूर्ण ज्ञायकस्वभावी आत्मा शुभाशुभभाव के स्वभाववाला कैसे हो सकता है ?

प्रभु ! तू तो त्रिकाल भगवत्स्वरूप चैतन्यस्वरूप देव है। तुझे अपने इस भगवत्स्वरूप की खबर नहीं है। यदि स्वरूप से ही भगवत्स्वरूप न हो तो भगवत्ता प्रगट कहाँ से होगी ? क्योंकि प्राप्त की ही प्राप्ति होती है। अतः जिन्हें यहाँ तथा गाथा ६ में अज्ञानमय भाव कहा है, उन शुभा-शुभभावों का लक्ष्य छोड़कर अन्तर्दृष्टि कर, तभी तुझे निराकुल सुख की प्राप्ति होगी, धर्म प्रगट होगा।

बापू ! तू अब तक शुभाशुभ भावों में अटक करके ही दु:खी हो रहा है तथा इस दुनिया की बाहरी चकाचौंध में भरमा गया है। अनादि से पुण्य के फलस्वरूप सुन्दर रूपवाला शरीर, करोड़ों की सम्पत्ति एवं मनपसन्द पत्नी व अनुकूल आज्ञाकारी पुत्र-मित्र एवं नौकर-चाकर, बस इन्हीं सब में तू मोहित हो गया है, ये सब तुझे ठीक लगते हैं; परन्तु भाई ! ये सब क्षणिक संयोग हैं, देखने मात्र के सुहावने हैं। कभी इन्हीं को प्रतिकूल मानकर नाराज होता है, क्षण में हंसता है, क्षण में रोता है, मिरगी के रोग की भांति क्रियायें करता है। भगवान ! यह क्या हो गया है तुझे ? इसमें तेरा स्वरूप नहीं है, तेरे स्वरूप में ये सब नहीं है। जब ये शुभाशुभभाव ही तेरे स्वरूप में नहीं है, तो इनके फल जो अनुकूल-प्रतिकूल संयोग हैं, वे तेरे कैसे हो सकते हैं ? बापू ! ये तो तेरे ज्ञान के ज्ञेयमात्र हैं। भाई ! वस्तु तो वस्तु है, उसमें अनुकूल-प्रतिकूल कुछ नहीं है। इसप्रकार जो शुभाशुभभाव एवं शुभाशुभकर्म एक है, उनमें दो भाग करना ही मिथ्या है।

बाहर की अनुकूलता हो, सुन्दर शरीर हो, इन्द्रियाँ सशक्त हो, आयु लम्बी हो, शरीर निरोग हो, स्त्री-पुत्र परिवार अनुकूल हो, परन्तु इन सबसे क्या है ? ये सब तो जड़ की क्रियायें है, अज्ञान व अज्ञान के ही फल हैं। अनुकूता प्रतिकूलतारूप सभी शुभाशुभभाव अज्ञान के ही फल हैं। भाई ! इसमें तुझे जो भेद दिखायी देता है, यह तेरा मिथ्या भ्रम ही है।

प्रश्न:—शास्त्रों में ऐसा कथन बारम्बार आता है कि—"जौलों न रोग जरा गहे, तौलों झटति निज हित करो"—अर्थात् जब तक तेरे शरीर को किसी बीमारी ने नहीं घेरा, बुढ़ापा नहीं आया, इन्द्रियाँ शिथिल नहीं हुईं, तब तक धर्मसाधन कर लो, क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि शरीर निरोग हो तो धर्मसाधन विशेष हो सकता है ?

उत्तर:—भाई ! शरीर तो जड़-अचेतन है और धर्म तो आत्मस्वरूप है, इसलिये यह बिल्कुल निराधार है कि शरीर निरोग हो तो धर्मसाधन विशेष हो सकता है। शास्त्र में जो उपदेश है, वह तो प्रमाद टालकर उग्र पुरुषार्थ द्वारा तत्काल धर्मसाधन में प्रवृत्ति कराने के लिये है। उपदेश में तो जीवों को प्रमाद टालने की बात है। उस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि रोगग्रस्त अवस्था में धर्म होता ही नहीं है। धर्म तो आत्मा की चीज है और रागादि शरीर के विकार हैं, वस्तुत: उनसे धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है।

देखो, सातवें नरक का नारकी, जिसके प्रतिकूल संयोगों की, दुखों की क्या कथा कहें ? जन्म से ही सोलह रोग – श्वास, दमा, कैन्सर, शीत, भूख, प्यास इत्यादि की भारी पीड़ा – वेदना होती है । वहाँ की शीत का एक कण भी मनुष्य लोक में आ जावे तो उसके प्रभाव से योजन तक के मनुष्य एवं पशु-पक्षी मर जावें । तेतीस-तेतीस सागर पर्यन्त अनाज का दाना नहीं मिलता, पानी की बूंद न मिले और भूख ऐसी कि तीन लोक बराबर अन्न खा जावें तो भी न मिटे । ऐसी भयंकर पीड़ा के संयोग में रहकर भी कोई-कोई नारकी जीव आत्मभान प्रगट करके सम्यग्दर्शन प्रकट कर लेते हैं, भाई ! शरीर निरोग हो व बाह्य संयोग अनुकूल हों तो ही धर्मसाधन हो सके और अनुकूल साधनों के द्वारा ही धर्मसाधन हो सकेगा ऐसी मान्यता सर्वथा मिथ्या है ।

अहा ! ऐसे पीड़ाकारक संयोगों में जाकर अनेक वार तेतीस-तेतीस सागर तक नारकीय दुख सहे तथा अनंतबार देव भी हुआ । बापू ! यह सब अज्ञान का फल है । ज्ञान का फल तो वीतरागी शान्ति व आनन्द है । ये सभी अनुकूल व प्रतिकूल संयोग शुभाशुभभावरूप अज्ञान के फल हैं, इसलिये आचार्य कहते हैं कि कर्म का हेतु एक अज्ञान ही है । शुभ या अशुभ जो कर्मबंधन होता है, उनका कारण एकमात्र अज्ञान है ।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है कि समकिती संतों को जो शुभभावों से तीर्थंकर प्रकृति बंधती है, वह भाव भी अपराध है । यहाँ उसे भी अज्ञान कहा है, क्योंकि उसमें ज्ञान का अंश नहीं है । जिसमें ज्ञान का अंश नहीं है, वह भी अज्ञान कहा जाता है ।

यहाँ अज्ञान का अर्थ मिथ्याज्ञान नहीं है, बल्कि इस शुभराग में चैतन्यप्रकाश के परिपूर्ण पुंज भगवान आत्मा के चैतन्यप्रकाश की एक भी किरण नहीं है, इसलिये अज्ञान कहा है । भाई ! यह अज्ञानमय शुभराग स्वयं मिथ्यात्व नहीं है, परन्तु इससे धर्म होता है, यह मान्यता मिथ्यात्व है । इसप्रकार अज्ञान व मिथ्यात्व में अन्तर है ।

प्रश्न—भावपाहुड़ में सम्यग्दृष्टि को जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति बंधती है, ऐसी धर्ममय सोलह कारण भावना भाने का कथन आता है, उस कथन का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—हां, यह सत्य है, परन्तु वह तो वहाँ व्यवहार दर्शाया है । अर्थात् सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीवों को समय-समय पर जो सोलह कारण

भावना भाने रूप भाव होता है, उसका यथास्थान ज्ञान कराया है, तथापि वह सभी व्यवहार-राग अज्ञानभाव है, बंध का कारण है, अधर्म है।

यद्यपि यह बात कर्णकटु है, सुनने में थोड़ी कड़वी लगती है, तथापि क्या करें ? भाई ! जिस भाव से बंध होता है, वह भाव धर्म नहीं है और जो भाव धर्म नहीं है, वही अधर्म है।

भगवान आत्मा तो सदा अबंधस्वरूप – मुक्तस्वरूप ही है। श्रीमद् राजचन्द्र के ग्रन्थ में आया है कि दिगम्बर आचार्यों ने ऐसा नहीं माना कि आत्मा को मोक्ष होता है, बल्कि ऐसा माना है कि आत्मा तो मोक्षस्वरूप ही है। जब उस मुक्तस्वरूप आत्मा की प्रतीति की, तब यह प्रतीति में आया, कि यह आत्मा तो सदैव मोक्षस्वरूप ही है। "मोक्ष होता है" – यह कथन तो पर्याय की अपेक्षा है। निश्चय से वस्तु में (आत्म द्रव्य में) तो बंध मोक्ष है ही नहीं। पर्याय में भले हों, किन्तु वस्तु तो सदा मुक्त ही है। ऐसा मुक्तस्वभाव शुभभावों में नहीं आता, इसलिये उस बंधभाव को अज्ञानभाव कहा गया है। इसप्रकार अशुभ की तरह शुभभाव भी अज्ञानमय होने से कर्मबंध का ही हेतु है।

"शुभ व अशुभ पुद्गल परिणाम-दोनों पुद्गलमय ही हैं। इस कारण कर्म का स्वभाव एक पुद्गल परिणामरूप ही है, इसलिये कर्म एक ही है।

देखो, साता हो या असाता – दोनों पुद्गल ही हैं, ऐसा क्यों कहा है ? दोनों कर्म पुद्गल स्वभावमय ही हैं, क्यों कि दोनों पुद्गल परिमाणुओं की पर्यायें हैं।

भाई ! कर्म की सभी १४८ प्रकृतियों को जहर का झाड़ कहा है, क्योंकि इनका फल जहर है। एक भगवान आत्मा ही मात्र अमृतस्वरूप है। पुण्य बंधरूप जो पुद्गल रजकण हैं, वे सब जहररूप हैं। जब शुभभाव जहरस्वरूप है तो इससे जो बन्धनरूप फल प्राप्त होता है, क्या वह जहरस्वरूप नहीं होगा ?

भाई ! यद्यपि यह बात व्यवहार पक्ष वालों को चुभेगी, क्योंकि वे ऐसा ही व्यवहार (क्रियाकाण्ड) करके उसे धर्म व मोक्षमार्ग मान बैठे हैं। यहाँ उस सब व्यवहार (क्रियाकाण्ड) का निषेध किया गया है। अतः बात तो चुभने जैसी ही है, परन्तु करें क्या ? सत्य का ज्ञान कराना भी तो जरूरी है, बुरे लगने के भय से सत्य बात से मुख मोड़ना भी तो ठीक नहीं है। भाई ! जो तुम मानते हो, उसमें तो किंचित् भी धर्म या मोक्षमार्ग

नहीं है। सुनो तो सही, ऐसे शुभभावों से अज्ञानी जीव अनंतबार नव ग्रैवेयक तक गया, वहाँ शुक्ललेश्या जैसे शुभभाव भी हुए, अभी तो वैसे हैं भी नहीं, तो भी यानि शुक्ललेश्या के परिणामों से भी धर्म नहीं हुआ। पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला में कहा भी है।

"मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो।
पै निजआतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।।"

यह बात सत्य है कि वीतराग मार्ग की यह सूक्ष्म बात चित्त में बैठना समझ में आना कठिन है, क्योंकि अनादि से जीवों को शुभभाव की ही पकड़ रही है, तत्व की बात अभी तक कान में पड़ी ही नहीं तो कठिन क्यों न लगे? कहा भी है—"अनभ्यासे विषम विद्या" अर्थात् अनभ्यास से विद्या की प्राप्ति विषम हो जाती है, कठिन हो जाती है।

एक बन्दर को चने से भरा सकड़े मुंह वाला घड़ा दिखायी दिया। चने खाने के लिये बन्दर ने घड़े में हाथ डालकर मुट्ठी भर ली, परन्तु घड़े का मुंह छोटा होने से मुट्ठी बंधा हाथ बाहर नहीं निकला, बन्दर के द्वारा अनेक प्रयत्न करने पर भी जब हाथ नहीं निकला तो बन्दर को यह भ्रान्ति हो गयी कि घड़े ने या किसी मंत्र-जंत्र-तंत्रवाले ने मुझे पकड़ लिया है। बन्दर यदि मुट्ठी छोड़ देवे तो हाथ बाहर निकल सकता है, परन्तु वह मुट्ठी तो स्वयं नहीं छोड़ता है और मानता यह है कि मुझे किसी ने पकड़ लिया है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव स्वयं राग को पकड़कर बैठा है, इस कारण छूटता नहीं है और मानता यह है कि राग ने मुझे पकड़ लिया है, कर्म ने बांध रखा है। यदि कर्म या राग मुझे छोड़ दे तो मैं मुक्त हो जाऊँ। जब तक ये स्वयं राग को नहीं छोड़ेगा, तब तक मुक्त नहीं हो सकता।

यहाँ कहते हैं कि शुभाशुभ राग के निमित्त से जो शुभाशुभ कर्म बंधते हैं, वे सभी कर्म पुद्गल स्वभावमय ही है, इस कारण कर्म एक ही है।

अब कहते हैं कि –"सुखरूप व दुःखरूप अनुभव दोनों पुद्गलमय ही हैं, इसलिये भी कर्म एक ही है।"

देखो, ये स्वर्ग के सुख या सेठों के सुख सभी पुद्गलमय हैं तथा तिर्यंच व नरकों के दुःख भी पुद्गलमय हैं। सुख-दुःख का सब अनुभव जो रागादिरूप हैं, वे सभी पुद्गलमय ही हैं, जीवमय नहीं हैं। इस प्रकार कर्म जनित सुख व दुःखरूप अनुभव दोनों पुद्गलमय ही हैं – इस कारण भी कर्म एक ही है। तीन बोल हुये।

अब चौथे बोल में कहते हैं कि—"मोक्षमार्ग व बन्धमार्ग में मोक्ष-मार्ग तो केवल जीव के परिणाममय ही है और बन्धमार्ग केवल पुद्गल के परिणाममय ही है, इस कारण कर्म का आश्रय केवल बन्धमार्ग ही है, अर्थात् कर्म एक बन्धमार्ग के आश्रय से ही होता है, मोक्षमार्ग में नहीं होता, इसलिये भी मोक्षमार्ग एक ही है।

अज्ञानी से ऐसा कहा था कि शुभभाव मोक्षमार्ग के आश्रय से अर्थात् मोक्षमार्ग में होता है, इसलिये अच्छा है; परन्तु पाठ में तो मोक्षमार्ग को केवल जीवमय कहा है। त्रिकाली शुद्ध द्रव्य के आश्रय से जो निर्मल रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग का परिणाम प्रगट होता है, वह जीवमय है एवं शुभ है और शुभाशुभभाव तथा उससे उत्पन्न हुआ बन्ध पुद्गलमय है, अशुभ है।

मोक्षमार्ग तो केवल जीव के परिणाममय ही है। जिस भाव से बन्धन हो, वह जीव का परिणाम नहीं है, अर्थात् शुभाशुभभाव अजीव हैं, अज्ञानमय है एव पुद्गलमय हैं। केवल एक शुद्ध चैतन्यस्वभावमय आत्मा के आश्रय से प्रगट हुये निर्मल-श्रद्धा-ज्ञान रमणता ही जीव के परिणाम है तथा ये ही शुभ अर्थात् भले है। शेष शुभाशुभ परिणाम सभी अशुभ अर्थात् बुरे है।

अरे! नरक व निगोद के भवों में जीव कितना दुखी हुआ होगा तथा अभी भी वह कितना दुखी है। ये सभी राजागण तथा करोड़पति या अरबपति सेठ सभी विषयों के भिखारी हैं, बिचारे भारी दुखी हैं; क्योंकि इन्हें अन्तर की निज निधि स्वरूप लक्ष्मी की खबर नहीं है। अतः सुख के लिये बिचारे पराधीन हुये मृग-तृष्णा की भांति तृष्णावंत होकर दीनता के साथ बाहर पर की ओर ताकते हैं।

मृग की नाभि में कस्तूरी होती है। पवन के झकोरों से उस कस्तूरी की सुगंध दूर-दूर तक फैलती है, परन्तु मृग को यह भ्रम होता है कि यह सुगन्ध कहीं दूर जंगल में से आ रही है, जब कि कस्तूरी की गन्ध उसी की नाभि में है, वह उसे पाने के लिये जंगल में यत्र-तत्र भटकता है, दौड़ता है, अन्त में हताश होकर एवं थककर खेद-खिन्न होता है। इसीप्रकार भगवान आत्मा अन्दर आनन्द का परमनिधान आनन्द का धाम है, परन्तु उसे अपने अन्दर के आनन्द की खबर नहीं है, अतः पैसे में से, स्त्री-पुत्र में से या राज्य में से, विषयभोगों से और यश प्राप्ति में से सुख आता है, आनन्द आता है—ऐसा जानकर यत्र-तत्र भटकता है और खेद-खिन्न होता

है। इसप्रकार अपने परमनिधान सुख के सागरस्वरूप आत्मा को छोड़कर बाहर में सुख की तलाश करता है, वह मृग जैसे ही मूढ़ है। नीतिकार ने कहा भी है कि ऐसे लोग "मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति" अर्थात् मनुष्य के रूप में मानो पशु ही विचरण कर रहे हैं।

यहाँ कहते हैं कि मोक्ष का मार्ग केवल जीव के परिणाममय ही है। तात्पर्य यह है कि शुभाशुभभाव जीव के परिणाम नहीं, अर्थात् वे पुद्गल के परिणाम हैं, इसलिये कर्म का आश्रय केवल बंधमार्ग ही है।

जिस निर्मल रत्नत्रय को यहाँ समयसार में जीव का परिणाम कहा उसे ही नियमसार में परद्रव्य कहा, सो वहाँ वह दूसरी अपेक्षा से कहा है। जैसे परद्रव्य में से जीव की नवीन पर्याय नहीं आती, उसीतरह मोक्षमार्ग की पर्याय में से नवीन पर्याय नहीं आती। नवीन पर्याय उत्पन्न होने का भंडार तो त्रिकाली द्रव्य है। वहाँ द्रव्य का आश्रय करवाने के प्रयोजन से त्रिकाल द्रव्य को स्वद्रव्य कहा और निश्चय मोक्षमार्ग के परिणाम को परद्रव्य कहा है।

यहाँ इस मोक्षमार्ग के परिणाम को जीव का कहा है और शुभाशुभ भावों को पुद्गल में डाला है तथा तत्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय के प्रथमसूत्र में शुभाशुभ भावों को जीव के स्व-तत्त्व कहे हैं - पांचों ही भावों को जीवतत्त्व कहा है। वहाँ यह अपेक्षा है कि शुभाशुभभाव जीव की पर्याय में ही होते हैं, इसलिये उन्हें जीवतत्त्व कहा है। वह व्यवहारनय, पर्यायनय का ग्रन्थ है न? अतः उसमें व्यवहारनय से शुभाशुभ भावों को जीव का कहा है। जबकि यहाँ राग-द्वेषरूप शुभाशुभ परिणामों को अज्ञानमय होने से जीव के न कहकर पुद्गलमय परिणाम कहा है।

देखो आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव आचार्य श्री उमास्वामी के गुरु थे। गुरु शुभाशुभ भावों को पुद्गल का कहते हैं और शिष्य उन्हें जीवतत्त्व कहते हैं, तो क्या उनमें परस्पर मतभेद था? नहीं भाई! उनमें कहीं कोई विरोध नहीं है। गुरु का कथन निश्चयनय के आश्रय से है और शिष्य का कथन व्यवहारनय के आश्रय से है। दोनों की अपेक्षायें भिन्न-भिन्न हैं। जिनवाणी में जहाँ जो नय-विवक्षा हो, उसे उसी विवक्षा से समझना चाहिये। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" यह जो सूत्र है, यह पर्यायार्थिकनय का कथन है, निश्चयनय का नहीं। निश्चयनय से तो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य के आश्रयरूप एक ही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-

चारित्र के परिणाम जिन्हें यहाँ जीव के परिणाम कहें वे भेदरूप पर्यायार्थिकनय के कथन हैं। प्रवचनसार गाथा २४२ में आता है कि "वे भेदात्मक होने से 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग हैं' ऐसा पर्यायप्रधान व्यवहारनय से उसका प्रज्ञापन है, वह मोक्षमार्ग अभेदात्मक होने से एकाग्रता मोक्षमार्ग है' – ऐसा द्रव्यप्रधान निश्चयनय से उसका प्रज्ञापन है।"

समयसार कलश टीका कलश १६ में कहा है कि "निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के जो निर्मल परिणाम हैं, वे भेद हैं, पर्याय हैं, अतः मेचक हैं मलिन है और इसकारण व्यवहार हैं तथा अभेद से जो आत्मा एकस्वरूप है, वह अमेचक है, निर्मल है। भाई, शैली तो देखो! कहाँ क्या कहा है – इसकी खबर बिना एकान्त से खेंचातानी करे तो नहीं चलेगी। कलश टीकाकार ने मोक्षमार्ग के परिणाम को भेदरूप होने से मेचक कहा और सम्यग्ज्ञान दीपिका में श्री धर्मदासजी क्षुल्लक ने इसी को अशुद्ध कहा है। मोक्ष के परिणाम भेदरूप हैं, मेचक हैं, अतः अशुद्ध हैं।

यहाँ कहते हैं कि मोक्षमार्ग तो केवल जीव के परिणाममय ही हैं। यह अभेद से बात कही है तथा बंधमार्ग केवल पुद्गल के ही परिणाममय हैं। तात्पर्य यह है कि कर्म एक बंधमार्ग के आश्रय से ही होता है, मोक्षमार्ग में नहीं होता, अत: कर्म एक ही है। इसप्रकार कर्म के शुभाशुभ भेदरूप पक्ष को गौण करके उसका निषध किया है।

गजब की भाषा है "गौण करके" कहा, तात्पर्य यह है कि भेद है तो अवश्य, परन्तु केवल अभेद की दृष्टि कराने के लिये भेद को गौण किया है। भेद का ज्ञान कराने के लिये तो भेद है ही, परन्तु फिर भी उसका निषेध जो किया, उसका हेतु अभेद पक्ष को प्रधान करना ही है। दृष्टि के विषय में पुण्य-पाप का पक्ष नहीं है, इसकारण अभेद पक्ष से देखने पर तो कर्म एक हो है, दो नहीं। इस तरह भेद का निषेध करके स्वभाव का आश्रय कराया है।

अब इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(उपजाति)

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः।
तद्बंधमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बंधहेतुः ॥१०२॥

श्लोकार्थ :—[हेतु-स्वभाव-अनुभव-आश्रयाणां] हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय इन चारों का [सदा अपि] सदा ही [अभेदात्] अभे

होने से [न हि कर्मभेदः] कर्म में निश्चय से भेद नहीं है; [तद् समस्तं स्वयं] इसलिये, समस्त कर्म स्वयं [खलु] निश्चय से [बन्धमार्ग-आश्रितम्] बन्धमार्ग के आश्रित हैं और [बन्धहेतुः] बन्ध का कारण हैं, अतः [एकम् इष्ट] कर्म एक ही माना गया है – उसे एक ही मानना योग्य है।

कलश १०२ पर प्रवचन

देखो, वर्तमान में कुछ विद्वानों द्वारा ऐसा कहा जाता है कि ये बाह्य व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि जो व्यवहाररूप शुभ आचरण है, उससे शुद्धता प्रगट होती है। उनके उक्त कथन का इस कलश में स्पष्ट खुलासा है।

'अशुभभाव से शुद्धता नहीं होती' – यह तो यथार्थ और सर्वमान्य तथ्य है ही, परन्तु शुभभाव के काल में शुभभावों से शुद्धता होना मानते हैं, उनका मानना भी यथार्थ नहीं है; क्योंकि शुभभाव भी अशुभ की तरह ही अशुद्ध है।

इस कथन के संदर्भ में व्यवहारी जनों का एक प्रश्न यह भी है कि सम्यग्दर्शनरूप निर्विकल्प अनुभव के पहले जो अन्तिम शुभभाव होता है, वह शुभभाव शुद्धभाव का कारण है कि नहीं ?

इसका समाधान करते हुये आचार्य कहते हैं कि भाई, उस अन्तिम शुभभाव का भी अभाव होकर सम्यग्दर्शन की निर्विकल्प अनुभूति होती है, शुभभाव से नहीं। शुभभाव तो विभाव स्वभाव है, जड़स्वभाव है, चैतन्य-स्वभाव नहीं है।

यहाँ कलश में कहते हैं कि 'हेतु-स्वभाव-अनुभव-आश्रयाणां' अर्थात् हेतु, स्वभाव, अनुभव एवं आश्रय – इन चारों में सदा ही अभेद होने से कर्म में निश्चय से भेद नहीं है।

पुण्य-पाप के परिणाम जो बन्धन के हेतु हैं, सबका एक ही प्रकार है। बन्ध में शुभ परिणाम निमित्त हो या अशुभ परिणाम निमित्त हों – दोनों एक ही प्रकार के अज्ञानमय एवं अशुद्ध हैं। शुभ परिणाम पुण्य बंध में निमित्त है व अशुभ परिणाम पाप बंध में निमित्त है, इसकारण दोनों परिणामों में अन्तर है – यह बात यथार्थ नहीं है; क्योंकि दोनों ही अज्ञान-मय है, अशुद्धरूप हैं और बंध के कारण हैं।

अरे भाई ! शुभभाव यदि वस्तु का स्वरूप हो तो वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में मदद रूप हो सके, परन्तु शुभ या अशुभ दोनों में से एक भी

चैतन्य के स्वभाव रूप नहीं है, किन्तु विभावरूप ही हैं। इसकारण सम्यग्दर्शनरूप निर्मलस्वभाव परिणति का साधन कैसे हो सकते हैं।

प्रश्नः—पंचास्तिकाय ग्रन्थ में भिन्न साध्य-साधन की बात कही गयी है, उसकी क्या अपेक्षा है ?

उत्तरः—पंचास्तिकाय का कथन आरोपित कथन है। निश्चय से जिसे निज शुद्ध आत्मतत्त्व की दृष्टि व अनुभव हुआ है, उसे (सहचारी-रूप) शुभभाव भी किस जाति का होता है, इस बात का ज्ञान कराने के लिये राग पर आरोप करके कथन किया है।

शास्त्रों का अर्थ समझना भी सहज काम नहीं है। इसके लिये भी आगे-पीछे की सभी अपेक्षाओं को ध्यान में रखना आवश्यक है। जैसे कि निश्चय सम्यग्दर्शन के काल में जो देव-शास्त्र-गुरु की भेदरूप श्रद्धा का राग होता है, उसे भी समकित कहा जाता है। वास्तव में तो वह राग है, परन्तु व्यवहार से उसे समकित कहा जाता है। क्या वह शुभराग सम्यक्त्व की पर्याय है ? नहीं, यह तो चारित्र गुण की दोषरूप पर्याय हैं, तो भी सहचारी होने से उपचार से उसे समकित कहा है; उसीप्रकार पंच महाव्रत के परिणाम भी हैं तो राग ही, तथापि उन्हें चारित्र व मोक्षमार्ग कहा जाता है। वास्तविक दृष्टि से देखा जावे तो यह चारित्र नहीं है, परन्तु शुद्धोपयोगरूप वीतराग निर्विकार चारित्र का सहचारी व निमित्त देखकर उसमें उपचार से मोक्षमार्ग का उपचार किया है।

इसप्रकार जो कथन के अभिप्राय को तो न पकड़े और केवल शब्दों को ही पकड़े तो उसे समग्र जिनवाणी को समझने में इसीप्रकार की कठिनाइयाँ आवेंगी तथा वह यथार्थ भाव ग्रहण नहीं कर सकेगा, अतः जिनवाणी में जहाँ जो विवक्षा हो, उसे यथार्थ ग्रहण करना चाहिये।

यहाँ कहते हैं कि शुभ व अशुभ – दोनों ही भाव बन्धन के कारणरूप अशुद्ध भाव हैं, स्वभाव से विपरीत विभाव भाव हैं। भाई ! स्वभाव के सन्मुखता का भाव तो शुद्ध चैतन्यमय होता है और ये दोनों भाव चैतन्य-रहित अज्ञानमय भाव हैं, इसलिये दोनों ही भेदरहित एक ही जाति के हैं।

प्रश्नः—क्या मुक्तिमार्ग में व्यवहार का कोई स्थान ही नहीं है ?

उत्तरः—मुक्तिमार्ग में भूमिकानुसार व्यवहार होता तो अवश्य है, व्यवहार होता ही न हो, ऐसा नहीं है; परन्तु इस व्यवहार से – शुभराग से

सम्यग्दर्शन या निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता। राग से धर्म या मोक्ष-मार्ग मानना यथार्थ नहीं है। इसीप्रकार निमित्त होते हैं, परन्तु निमित्तों से कार्य नहीं होता।

देखो, निमित्त को सिद्ध करने के लिये शास्त्र में ऐसा कथन भी आता है कि यदि कालद्रव्य न हो तो जीवादि सर्व द्रव्यों में परिणमन नहीं हो सकेगा और जब परिणमन नहीं होगा तो द्रव्य में द्रव्यपना न रहने से द्रव्य का ही नाश सिद्ध होगा।

उपरोक्त कथन का तात्पर्य केवल कालद्रव्य के अस्तित्व की सिद्धि करना है, एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य को कर्ता बताना या पराधीनता बताना नहीं है। जीवादि द्रव्य अपने परिणमन के लिये कालद्रव्य की अपेक्षा नहीं रखते। भाई! परिणमन तो प्रत्येक द्रव्य का स्वतःसिद्ध स्वभाव है। क्या कोई द्रव्य कभी भी परिणमन से खाली होता है? परिणमन की धारा तो प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय अनादि से स्वतः चल रही है और अनन्तकाल तक चलेगी, कालद्रव्य के कारण नहीं; कालद्रव्य तो निमित्तमात्र है। निमित्त से किसी द्रव्य में कार्य नहीं होता। इसतरह जैसा वस्तु का स्वरूप है, उसे यथार्थ समझना चाहिये।

प्रश्नः—यदि ऐसा माने कि कोई-कोई कार्य निमित्त से भी होते हैं तो क्या बाधा है?

उत्तरः—भाई, निमित्त से कोई भी कार्य कभी नहीं होता। पंचास्ति-काय गाथा ६२ में ऐसा कथन आता है कि एकसमय के विकाररूप परिणाम में पर्याय स्वयं ही कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण – षट्कारकरूप से परिणमती है। इसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है। वहाँ पर्याय का स्वतंत्र परनिर्पेक्ष अस्तित्व सिद्ध किया है। अहाहा.........! पर्याय का अस्तित्व अपने आप में अपने से स्वतंत्र है, किसी पर के कारण उसका अस्तित्व नहीं है।

अब कहते हैं कि पर के लक्ष्य से हुये विकारी परिणमन को भी जब पर (अन्य कारकों) की अपेक्षा नहीं है तो स्व के लक्ष्य से हुये सम्यग्दर्शन आदि निर्विकारी परिणमन को पर की (राग की या निमित्त की) अपेक्षा कैसे हो सकती है? भाई! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय अपने षट्कारक के परिणमन से स्वतःसिद्ध अपने जन्मक्षण में, अपनी उत्पत्ति के काल में उत्पन्न होती है – ऐसा ही वस्तु का सहजसिद्ध स्वरूप है।

तथा कर्ता कर्म अधिकार में सम्यग्दर्शन के प्रकरण में ऐसा आता है कि आत्मा कर्ता व सम्यग्दर्शन का निर्विकार परिणाम उसका कर्म है। सम्यग्दर्शन का विषय परिपूर्ण अखण्ड एक शुद्ध आत्मद्रव्य है। शुद्ध चैतन्य-स्वभावमय आत्मा के आश्रय से जो सम्यग्दर्शन आदि धर्म का परिणाम प्रगट होता है, उसका कर्ता आत्मा है और वह धर्मरूप निर्मल कार्य आत्मा का कर्म है। तथा जो अशुद्धता है, वह कर्मकृत पुद्गल का परिणाम है।

गाथा ७५-७६ में अशुद्धता के निमित्तरूप कर्म (पुद्गल) को अशुद्धता का कर्ता व अशुद्धता को उसका कर्म कहा गया है। विकार आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुई वस्तु नहीं है, इसकारण वहाँ कर्म को व्यापक व विकारी पर्याय को उसका व्याप्य कहा है।

देखो, पंचास्तिकाय गाथा ६२ में जहाँ विकार के षट्कारक स्वतः अपने में अपने से हैं – ऐसा कहा है, वहाँ अस्तिकाय सिद्ध किया है। तथा समयसार गाथा ७५-७६ में ऐसा कहा है कि जिसकी दृष्टि त्रिकाली द्रव्य पर पड़ी है – ऐसे ज्ञानी का द्रव्यस्वभाव व्यापक होकर व्याप्यरूप से स्वभावपर्याय को ही उत्पन्न करता है, विकार को नहीं। अहाहा..... .....! जो वस्तु सदा चिदानन्दस्वरूप है, वह स्वय व्यापक होकर, पसरकर व्यापकपने से शुद्धतारूप अवस्था को ही प्राप्त करता है। विकारी परिणाम शुद्ध आत्मद्रव्य के व्याप्य कर्म नहीं हैं, बल्कि पुद्गलकर्म के निमित्त से होने के कारण वे विकारी परिणाम पुद्गल कर्म के व्याप्य कर्म हैं और पुद्गल कर्म उनका व्यापक यानि कर्ता है।

अहो! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। भाई! जहाँ जो विवक्षा हो, उसे यथार्थ समझना चाहिये। मनुष्य इतनी गहराई तक पहुँचने की कोशिश ही नहीं करते, तो ऐसे ऊपर-ऊपर बात करने से क्या होगा? यह बात यथार्थ है कि वे बिचारे दुखी हैं, दुख को दूर करने एवं सुखी होने की इच्छा रखते हैं, उपाय भी करते हैं, परन्तु अन्तर गहराई में न पहुँच पाने से बिचारों को बात बैठती नहीं है। परिचय न होने से यह कठिनाई होती है, अभ्यास न होने से सम्यक् पद्धति-रीति ख्याल में नहीं आती। बस, इसी अनादिकालीन अपनी विपरीत मान्यतावश विरोध करने लगते हैं। करें भी क्या? दूसरा कोई उपाय भी तो नहीं हैं, परन्तु भाई, वे भी भूले भगवान हैं, आत्मा हैं। उनका भी अनादर या तिरस्कार नहीं होना चाहिए। वे क्रोध के नहीं, करुणा के ही पात्र हैं। श्रीमद् राजचन्दजी ने आत्मसिद्धि शास्त्र में कहा है :—

कोई क्रिया जड़ थई रह्या, शुष्कज्ञान मां कोई,
माने मारग मोक्ष नो, करुणा उपजे जोई ।"

अरे भाई ! तू क्या करता है ? तुझे यह शुभभाव वर्तमान में ठीक लगता है, परन्तु 'शुभभाव से समकित होता है' – ऐसी विपरीत श्रद्धा वर्तमान में भी दुखरूप ही है और इसके फलस्वरूप भविष्य में भी दुख की ही परम्परा धारावाही चलेगी । भाई ! इससे तू अन्ततोगत्वा निगोद में जाकर अनन्त दुःख पायेगा ।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि शुभ व अशुभ दोनों ही परिणाम अशुद्ध हैं और वे दोनों ही बन्ध के कारण हैं इसकारण दोनों एक ही जाति के हैं, दोनों में कोई भेद नहीं है ।

तथा पुद्गल कर्म में कोई सातारूप बंधते हैं एवं कोई असातारूप बंधते हैं, परन्तु हैं तो पुद्गल के ही स्वभाव, इनमें भेद कैसे हो सकता है ?

प्रश्न :—श्री जयसेनाचार्यदेव ने इसी गाथा की टीका में तीर्थंकर प्रकृति को परम्परा से मोक्ष का कारण कहा है, वहाँ उनकी क्या अपेक्षा है ?

उत्तर :—उस कथन का अभिप्राय तो यह है कि जिस शुभभाव से तीर्थंकर प्रकृति बंधी, जब उस शुभभाव का भी अभाव करेंगे, तब उस प्रकृति का उदय आयेगा । तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान होगा, तब तीर्थंकर प्रकृति का उदय आयेगा । उस समय तीर्थंकर प्रकृति को बांधनेवाले राग का भी सर्वथा अभाव हो जाता है, पूर्ण वीतरागता आ जाती है । तथा उस प्रकृति के उदय ने उस आत्मा को क्या लाभ दिया, कुछ भी नहीं । यह बात जरा सूक्ष्म है, परन्तु भाई, यह भी समझना तो पड़ेगा ही, अन्यथा आस्रव एवं पुण्य-पाप तत्त्व का भी यथार्थ स्वरूप समझना कठिन होगा ।

इस सब बाह्य अनुकूलता में, अर्थात् सुन्दर रूपवान व बलवान शरीर, बाग-बगीचा और बंगला, धन-सम्पत्ति, इज्जत-आबरू इत्यादि में ही अटका रहे, इन्हीं को ठीक माने बैठा रहे, परन्तु भाई ये सब बहुत काल काम नहीं आवेंगे । बापू ! ये सब पर वस्तुयें हैं, क्षणिक – विनाशीक संयोग हैं ।

अनुभव प्रकाश में प्रश्न किया है कि श्रद्धा गुण विपरीत कैसे हुआ ? यहाँ इसके उत्तर में कहा है कि जितनी भी पर वस्तुयें हैं, उन सबको अज्ञानी जीव ने अपनी मान-मानकर निर्मल श्रद्धा गुण को भी मलिन कर

डाला है। अहाहा ....! शुभ से मुझे लाभ होता है, शुभ का फल मुझे अनुकूल है, ठीक लगता है, परवस्तुयें मुझे सुखद हैं, वे मेरी मदद करती हैं, आराम देती हैं, मैं भी यथाशक्ति पर की मदद करता हूँ, इत्यादि अनेक प्रकार से स्वयं को पररूप और पर को अपने रूप मानता है। विश्व में अनन्त वस्तुयें हैं। अज्ञानी जीव ने एक-एक अनुकूल वस्तु में सुखबुद्धि और प्रतिकूल वस्तु में दुःखबुद्धि कर-करके परवस्तुओं में अपनत्व स्थापित किया है। इसप्रकार परवस्तुओं में ही निजरूप श्रद्धान कर रखा है।

कर्म प्रकृतियाँ चाहे वे सातारूप बंधी हों या असातारूप बंधी हों, यशकीर्तिरूप बधी हों या अयशकीर्तिरूप बंधी हों, उच्च आयुरूप बंधी हों या नीच आयुरूप बंधी हों – ये सभी कर्मप्रकृतियाँ पुद्गल के ही परिणाम होने से पुद्गलमय ही हैं। जैसे शुभाशुभ भावों में भेद नहीं है, उसी प्रकार एक पुद्गल स्वभावमय होने से कर्मप्रकृतियों में भी पुण्य-पाप का भेद नहीं है, एक ही प्रकार है।

तथा अज्ञानी जीव कर्मफल के संबंध में ऐसा कहते हैं कि शुभकर्म के फल में स्वर्ग का सुख मिलता है और अशुभकर्म के फल में नरक के दुःख मिलते हैं, इसलिये दोनों के अनुभव में भी अन्तर है। उनका समाधान करते हुये आचार्यदेव यहाँ कहते हैं कि बापू ! दोनों गतियों में दुःख का ही अनुभव है, इसकारण इसके फल के अनुभव में भी कोई अन्तर नहीं है।

भाई ! चारों ही गतियां पराधीन एवं दुःखरूप हैं। देवगति भी पराधीन व दुखरूप ही है। भाई ! तुमने बाह्य विषय-संयोगों को सुख-दुःख माना है, परन्तु ये विषय तो सुख-दुःख देने में अकिंचित्कर है। प्रवचनसार की गाथा ६७ में भी विषयों को अकिंचित्कर कहा है। यद्यपि देखने में अनुकूल संयोग सुहावने लगते हैं, परन्तु ये सब अनादिकालीन मिथ्या संस्कार से ऐसे लगते हैं, वस्तुतः तो ये सब अकिंचित्कर हैं, असमर्थ हैं।

पांचों इन्द्रियों के विषय तो सुख उत्पन्न होने में निमित्त मात्र हैं, निन्दा-प्रशंसा के शब्द, सुगन्ध-दुर्गन्ध, रूप-कुरूप, सुहावना-असुहावना स्पर्श आदि विषय सभी आत्मा में राग उत्पन्न करने के लिये अकिंचित्कर हैं। यद्यपि हर्ष-विषाद एवं सुख-दुःख उत्पन्न होने में ये सब निमित्त होते हैं, परन्तु निमित्त जीवों को अनुकूलता या प्रतिकूलता के समय राग-द्वेष उत्पन्न नहीं कराते। विकार का परिणमन अपने षट्कारक से होता है और निमित्तों की उपस्थिति अपने षट्कारकों से रहती है। जब सुख-दुःख में कर्म के कारकों

को भी अपेक्षा नहीं होती तो बाह्य सामग्री जो निमित्तरूप हैं, उनकी कैसे हो सकती है ? इसकारण आचार्य यहाँ कहते हैं कि कर्म के फल में कोई अन्तर (फेर) नहीं है। तुझे स्वर्ग व नरक के संयोग में जो अन्तर दिखाई देता है, वह यथार्थ नहीं है। दोनों ही संसाररूप दुःख की ही दशा है।

प्रश्न :—आपका कथन ठीक है, परन्तु नरकों का जो भय लगता है, उसका क्या कारण है ?

उत्तर :—अरे भाई, 'नरक प्रतिकूल-दुःखमय है, स्वर्ग अनुकूल-सुखमय है' बस तेरी इसी खोटी मान्यता के कारण तुझे नरकों से भय व स्वर्गों से प्रेम उत्पन्न होता है। योगसार के ५वें दोहे में तो ऐसा कहा है कि—

"चारगति दुख से डरे, तो तज सब परभाव"

अर्थात् चारों ही गतियां दुखरूप हैं, केवल नरक ही भयकारी व दुःखकारी नहीं है, किन्तु तुझे केवल नरक का ही भय है; क्योंकि तुझे नरक से द्वेष है तथा तू स्वर्ग चाहता है, क्योंकि तुझे स्वर्ग से राग है। ऐसे राग-द्वेष का नाम ही संसार है। तथा वहीं पर तीसरे दोहे में आचार्य योगीन्द्र देव कहते हैं कि जो भव से भयभीत हैं और मोक्ष के इच्छुक हैं, उनकी चित्त की शुद्धि के लिये मैं यह मार्ग (उपाय) बताता हूँ। भाई ! भवमात्र चाहे वह स्वर्ग का ही क्यों न हों, चाहने योग्य नहीं है, इसलिये यहाँ कहते हैं कि कर्म के फल के अनुभव में कोई अन्तर नहीं है।

अब आचार्यदेव आश्रय के सबंध में कहते हैं। मोक्षमार्ग के आश्रय से तीर्थंकर प्रकृति बंधती है, आहारक शरीर नाम कर्म को प्रकृति बंधती है, सर्वार्थसिद्धि की आयु बंधती है। ये सब शुभकर्म सम्यग्दृष्टि के (मोक्षमार्ग में) ही तो बांधते हैं, मिथ्यादृष्टि को ये सब कहाँ होते हैं ? इसप्रकार अज्ञानी का तर्क है कि ये उत्कृष्ट कर्म प्रकृतियाँ मोक्षमार्गी सम्यक्त्वी जीवों को ही बंधती हैं, अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि संसारमार्ग जीवों को नहीं बधती। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि मोक्षमार्ग का कारण शुभभाव है, इसलिये शुभाशुभ कर्म में अन्तर है, वे एक नहीं हो सकते।

इसका समाधान प्रस्तुत करते हुये आचार्यदेव कहते हैं कि भाई ! शुभ व अशुभ कर्म – दोनों बंधमार्ग के ही आश्रय हैं, दोनों वन्ध पद्धतिरूप हैं। एक भी मोक्षमार्गरूप नहीं है, इसलिये शुभ मोक्षमार्ग के आश्रय से नहीं होता।

इसप्रकार हेतु, स्वभाव, अनुभव एवं आश्रय – चारों ही प्रकार से सदा अभेद होने से कर्म में निश्चय से कोई भेद नहीं है।

अरे ! अज्ञानी जीव अपने शुद्ध अन्तस्तत्त्व को देखने की फुरसत ही नहीं निकालता। अनादिकाल से यह अपने को देखने में प्रमादी हो रहा है। अब तक पर को देखने का ही मिथ्या पुरुषार्थ किया है। परन्तु भाई ! इन पर पदार्थों को जाननेवाला तू स्वयं आत्मा ही तो है। 'मैं पर को जानता हूँ' – ऐसा जो तू कहता है, स्वीकार करता है; सो पर को जानने-वाला वह कौन है ? वह तू ही तो है, आत्मा ही तो है।

'मैं पर को जानता हूँ' – एसा जो तेरा कहना है, वह तो जीव की अपेक्षा बात हुई, अतः यह व्यवहार का कथन हुआ। स्त्री देखी, पुत्र देखा, दुकान-मकान देखे, यह कथन असद्भूत व्यवहारनय का है तथा देखने में जो मेरे-पराये का भेद ड़ाला – बस यही मिथ्यात्व है। एक लाइन में ५० दुकाने हों, आत्मा का स्वभाव उन पचासों को ही जानने का है, इसलिये जानता है; परन्तु 'वह दुकान अन्य की है एवं यह मेरी है' – ऐसा भेद कहाँ से आया ? भाई ! पर में एकत्व-ममत्व के कारण ही यह 'मेरे-तेरे' का भेद उत्पन्न हुआ है। पर में एकत्व बुद्धि ने ही यह भेद डाला है। इसप्रकार अज्ञानी जीव पर में अपनेपन की अनुभूति करके मिथ्यात्व का सेवन करता है। ज्ञानी के तो सम्पूर्ण जगत मात्र ज्ञेय है, अपने चैतन्यघन-स्वरूप आत्मा के सिवाय ज्ञानी को अन्यत्र कहीं भी एकत्व व ममत्व बुद्धि नहीं है।

अहाहा........! जैसा अशुभभाव बंध का आश्रय है, वैसे ही शुभभाव भी बंध का ही आश्रय है, मोक्षमार्ग का आश्रय नहीं। यही बात इस कलश में कही गयी है कि 'तद्समस्तं स्वयं खलु बन्धमार्गाश्रितम्' अर्थात् वस्तुतः वे सभी शुभाशुभभाव निश्चय से बंधमार्गाश्रित होने से और बंध के कारण होने से एक ही हैं, उनमें कहीं कोई भेद नहीं है। आगे कहेंगे कि जो मुक्त-स्वरूप होता है, वही मुक्ति का कारण होता है। जो बंध रूप है, वह मुक्ति का कारण कैसे हो सकता है ? अहाहा.......! मुक्तस्वभाव तो एक भगवान आत्मा ही है, अतः निश्चय से वही या उसी का आश्रय मुक्ति का कारण है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने भी यही कहा है कि दिगम्बराचार्यों ने ऐसा माना है कि जीव का मोक्ष होता नहीं है, बल्कि जीव द्वारा तो केवल यह

जाना जाता है या समझा जाता है कि आत्मा तो सदैव मोक्षस्वरूप ही है। अभी तक इस अज्ञानी जीव ने ऐसा माना था कि मैं राग के बन्धन में हूँ, परन्तु जो स्वयं सदैव ज्ञायक है, वह रागरूप कहाँ हुआ है ? भले ही यह राग के साथ एकत्व माने, परन्तु भगवान आत्मा ज्ञायक है, उसका राग के साथ एकत्व नहीं हुआ। प्रवचनसार गाथा २०० की टीका में आता है कि – "जो (शुद्ध आत्मा) सहज अनन्त शक्ति वाले अपने ज्ञानस्वरूप से एकरूपता को नहीं छोड़ता, जो अनादिकाल से इसी रूप रहा है, ज्ञायक-भावरूप ही रहा है तथा जो वर्तमान में मोह द्वारा अन्यथा अध्यवसित होता है, उस शुद्ध आत्मा को मैं मोह को उखाड़कर अति निष्कम्प होता हुआ यथास्थित (जैसा स्वरूप है, उसी रूप में) प्राप्त करता हूँ।"

देखो, ज्ञायक ही है, परन्तु इसकी मान्यता में फेर था। 'यह वस्तु मेरी है और वह तेरी है, यह कर्म भला है व यह कर्म बुरा है' – यह मान्यता ही भ्रम है।

अरे भाई ! ज्ञायक तो सदा ज्ञायक ही है। यह बन्धन कैसे आ सकता है ? बन्धन ही नहीं तो मुक्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। वस्तु या द्रव्यस्वभाव में बन्धन व मुक्ति है ही नहीं। द्रव्यसंग्रह में आता है कि 'जो बन्धनबद्ध को छूटने की बात कही है, वह तो ठीक है, परन्तु जो बंधा ही नहीं है, उसे छूटने की बात तो असत्य ही है ?'

जो सदा मुक्तस्वरूप ही है, उस पर दृष्टि स्थिर करने पर वह मुक्त-स्वरूप ही दिखाई देता है। बस, यही मोक्ष है।

स्वातम को जाने नहीं, करे पुण्य बस पुण्य।
तदपि भ्रमे संसार में, शिव-सुख कभी न होय ।।१५।।

लहे पुण्य से स्वर्ग-सुख, पड़े नरक कर पाप।
पुण्य-पाप तज आप में, रमे लहै शिव आप ।।३२।।

पापरूप को पाप तो जानत जग सहु कोई।
पुण्यतत्व भी पाप है, कहत अनुभवी कोई ।।७१।।

जैसे बेड़ी लोह की, त्यों सोने की जान।
करे शुभाशुभ दूर जो, ज्ञानी मर्म जु जान ।।७२।।

– योगसार दोहा

समयसार गाथा १४६

अथोभयं कर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति—

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ।।१४६।।

सौवर्णिकमपि निगलं बध्नाति कालायसमपि यथा पुरुषम् ।
बध्नात्येवं जीवं शुभमशुभं वा कृतं कर्म ।।१४६।।

शुभमशुभं च कर्माविशेषेणैव पुरुषं बध्नाति बंधत्वाविशेषात् कांचन-कालायसनिगलवत् ।

अब यह सिद्ध करते हैं कि दोनों शुभाशुभकर्म विना किसी अन्तर के बन्ध के कारण हैं;—

ज्यों लोह की त्यों कनक की जंजीर जकड़े पुरुष को ।
इस तौरसे शुभ या अशुभ कृत, कर्म बांधे जीव को । १४६।।

गाथार्थः—[यथा] जैसे [सौवर्णिकम्] सोने की [निगलं] वेड़ी [अपि] भी [पुरुषम्] पुरुष को [बध्नाति] बाँधती है और [कालायसम्] लोहे की [अपि] भी बाँधती है, [एवं] इसीप्रकार [शुभम् वा अशुभम्] शुभ तथा अशुभ [कृतं कर्म] किया हुआ कर्म [जीवं] जीव को [बध्नाति] (अविशेषतया) बाँधता है ।

टीकाः—जैसे सोने की और लोहे की वेड़ी विना किसी भी अन्तर के पुरुष को बाँधती है, क्योंकि वन्धनभाव की अपेक्षा से उनमें कोई अन्तर नहीं है, इसीप्रकार शुभ और अशुभ कर्म विना किसी भी अन्तर के पुरुष को (जीव को) बाँधते हैं, क्योंकि बन्धभाव की अपेक्षा से उनमें कोई अन्तर नहीं है ।

गाथा १४६ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

जिसप्रकार लोहे की वेड़ी की भांति ही स्वर्ण की वेड़ी भी पुरुष को बांधती है, उसीप्रकार शुभ व अशुभ दोनों कर्म अविशेषरूप से जीव को

बांधते हैं। वहाँ जो गाथा में 'कदं कम्मं' शब्द है, उसका तात्पर्य यह है कि कर्त्ताभाव से किया गया या कराया गया कर्म कर्मबन्धन का कारण है तथा ज्ञायक भाव से रहकर अर्थात् ज्ञाता-दृष्टाभाव से हुआ कर्म कर्मबन्धन का कारण नहीं है।

अहाहा......! एक ज्ञायकभाव से अन्तर में विराजमान भगवान आत्मा चैतन्यबिम्ब प्रभु त्रिकाल अकेला ज्ञानानन्द का सागर है। जिसे ऐसे ज्ञानानन्द स्वरूप की दृष्टि नहीं है, उस अज्ञानी जीव को शुभ या अशुभ रागरूप किया गया कर्म बन्धन का कारण होता है; परन्तु ज्ञाता होकर जो ज्ञायकभाव से परिणमन करता है, उसके लिये तो वे शुभाशुभ कर्म मात्र ज्ञान के ज्ञेय बनकर परिणमते हैं।

आचार्यदेव को यहाँ यह सिद्ध करना है कि अज्ञानी राग को अपना कर्तव्य या करने लायक कार्य मानता है, इस कारण वह शुभाशुभ कर्मों को अवश्य बांधता है; किन्तु जो जीव उन्हें मात्र जानते है, उन्हें वे कर्म बन्धन के कारण नहीं होते।

बारहवीं गाथा में भी आया है कि 'ज्ञानी की भूमिका में कैसा व्यवहार होता है' – यह ज्ञान कराने के लिये जिनवाणी में व्यवहार का निरूपण किया जाता है। रागरूप आचरण करने के लिये व्यवहार का उपदेश नहीं दिया जाता है। राग तो केवल जानने तक ही प्रयोजनभूत है, ताकि उसे जानकर उसका त्याग किया जा सके। राग करने-कराने के लिये प्रयोजनवान नहीं है, किंतु जहाँ-जिस भूमिका में जो व्यवहार होता है, उसे केवल जानना ही प्रयोजनवान है।

कुछ लोग जो आचार्यदेव के आशय को नहीं समझ पाते, वे कहते हैं कि व्यवहार आचरण का उपदेश क्यों नहीं करते? परन्तु भाई! व्यवहार तो मात्र जानने योग्य है; करने या कराने योग्य नहीं है। यहाँ कहा है न कि "बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं", अर्थात् कृत-कारित शुभाशुभ कर्म आत्मा को बांधते ही हैं। अपनी-अपनी राग की भूमिका में शुभाशुभ भाव होते तो अवश्य हैं, परन्तु वे जानने लायक ही हैं, आचरण करने लायक (उपादेय) नहीं। भाई, थोड़े से ही फर्क में बड़ा फर्क पड़ जाता है। देखो, 'जानने में' ज्ञातापने का, अकर्तापने का सम्यक्-भाव है और 'करने में' कर्त्तापने का मिथ्यात्वभाव है।

'जैसे स्वर्ण व लोहे – दोनों प्रकार की बेड़ियाँ बिना किसी भेदभाव के समानरूप से पुरुषों को बन्धन बद्ध करती हैं, क्योंकि बन्धन की अपेक्षा से दोनों में कोई अन्तर नहीं पड़ता।'

भले ही देखने में सोने की वेड़ी सुन्दर लगती हो, परन्तु बन्धन की दृष्टि से तो दोनों वेड़ियों से पुरुष समानरूप से बन्धन में पड़ता है, पराधीन होता है; अतः बन्धन की अपेक्षा दोनों एक समान ही है उनमें कोई अन्तर नहीं है।

देखो, एक बहू थी। उसने गले में एक सोने की जंजीर पहन रखी थी। जंजीर में खूब भारी लगभग एक किलो वजन का स्वर्ण से मढ़ा व रत्नों से जड़ा लोहे का लाकिट लटक रहा था। काम करते समय वह लाकिट छाती में लगता था और बजता था। सासूजी ने कहा कि बहू! काम करते समय इस जजीर को उतार दो, परन्तु स्वर्ण-मण्डित रत्न-जड़ित गहने को बहू अपनी शोभा समझती है, भला वह उसे कैसे छोड़ सकती है, कैसे उतार सकती है? इसकारण भले ही वह उस लाकिट से कष्ट सहती है, तथापि छोड़ती नहीं है, उतारती नहीं है; उसीप्रकार अज्ञानी जीव अनुकूल संयोग मिलने पर संयोग की भावना को नहीं छोड़ता।

ज्ञानी उससे कहते है कि भाई! सयोगों की दृष्टि दुःखकारी है, अतः इसे छोड़ दे, परन्तु उसका सयोग व संयोग-दृष्टि छोड़ने का मन नहीं होता; क्योंकि उसने सयोगों में सुख मान रखा है। अहाहा......! अनुकूलता में पराधीनता का दुःख होते हुये भी उसे सुख मानकर अज्ञानी उसमें प्रसन्न होता है।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि जैसे स्वर्ण व लोहे की वेड़ी में कोई अन्तर नहीं है, दोनों ही विना किसी भेदभाव के पुरुष को बंधन में डाले रखती है, उसीप्रकार शुभ व अशुभ कर्म में किसी प्रकार का अन्तर किये विना जीव को बांधते हैं; क्योकि बन्धपने की अपेक्षा दोनों में कोई भेद नहीं है।

गाथा में जो 'कदं कम्मं' शब्द आया है, उसका अर्थ टीका में ऐसा किया है कि कृत कर्म कोई भी भेद किये बिना अविशेषपने बांधता है। तात्पर्य यह है कि चाहे अशुभकर्म हो या शुभकर्म हो, दोनो समान हैं, दोनों में कोई अन्तर नहीं है; क्योकि कर्त्ता बुद्धि में कोई अन्तर नहीं है, इसलिये दोनों ही समान रूप से कर्मबन्धन के कारण हैं।

ज्ञानी को कर्त्ताबुद्धि नहीं है, उसे ज्ञाता-दृष्टारूप रहने की दृष्टि हो चुकी है। 'शुभभाव ठीक है तथा अशुभभाव ठीक नहीं है' – ऐसी इष्टानिष्ट बुद्धि भी ज्ञानी को नहीं रहती। वास्तव में देखा जाय तो ज्ञानी शुभाशुभभाव को जानता ही कहाँ है? वह तो शुभ या अशुभ भाव के काल में अपनी स्वपरप्रकाशक जो ज्ञान पर्याय होती है, उसे ही जानता है। जब जिसप्रकार का राग होता है, उसी समय उसीप्रकार की पर प्रकाशक ज्ञान पर्याय होती है। वहाँ ये राग के कारण नहीं, बल्कि अपनी स्व-पर प्रकाशक पर्याय के सामर्थ्य के कारण इसका ज्ञान है, परप्रकाशक ज्ञान की पर्याय राग के कारण उत्पन्न नहीं हुई है। जिसतरह अज्ञानी के शुभ-अशुभ राग करने में एकसमान कर्त्ताबुद्धि है, उसीतरह ज्ञानी के उन दोनों को जानने में एकसमान ज्ञाताबुद्धि, अकर्त्ताबुद्धि है।

वस्तुत: ज्ञानी शुभाशुभभाव को जानता भी नहीं है, बल्कि वह तो स्वयं में जो तत्सम्बन्धी ज्ञान है, उसे ही जानता है तथा उस समय वह शुभाशुभ भाव अपनी निजी तत्समय की योग्यता से उत्पन्न होता है, ज्ञानी उसे करता नहीं है। इसप्रकार कर्त्ता में तथा ज्ञाता में बहुत बड़ा अन्तर है।

अहाहा......! केवली परमात्मा उसे कहते हैं जिसकी केवलज्ञान पर्याय में समस्त लोकालोक ज्ञात होता है भाई! यह केवलज्ञान क्या चीज है केवली के ज्ञान में जैसा झलका होगा, वैसा ही होगा – इसमें अपन क्या कर सकते हैं? इस प्रकार के प्रश्न चलने पर मैंने वि० सं० १९७२ में ही कहा था कि यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि क्या ऐसा कहने वाले को केवली की श्रद्धा है? भाई, स्वसन्मुख हुये बिना उसका यथार्थ स्वीकार नहीं हो सकता तथा केवलज्ञान का यथार्थ स्वीकार करनेवाले को ही अपने केवलज्ञानस्वभावी आत्मा का दर्शन – सम्यग्दर्शन हो जाता है, और उसे भव की शंका नहीं रहती। अहा......! जगत में सर्वज्ञ है, एक समय की पर्याय में तीनकाल की सर्व सत्ताओं का स्पर्श किये बिना ही जान ले – ऐसा केवलज्ञान का अस्तित्व है। इसे स्वीकार करनेवाले को भव व भव का भाव नहीं रह सकता।

यद्यपि उस समय प्रवचनसार देखा नहीं था, तथापि ८०, ८१, ८२ वीं गाथा का भाव अन्तर से ही आया था। उस समय ही मैंने कहा था कि जिसको अरहंत भगवान या केवलज्ञानी परमात्मा की प्रतीति हुई हो, उसके भव केवली के ज्ञान में नहीं दिखते। अर्थात् उसके भव होते ही नहीं

हैं। जिसके भव का अभाव होनेवाला होता है, उसे ही अरहंत की या केवलज्ञान की सच्ची प्रतीति होती है।

यहाँ तो यह बात चलती है कि जिसतरह लोहे की बेड़ी के समान सोने की बेड़ी भी पुरुष को बांधती है, इसी प्रकार अशुभकर्म के समान शुभ कर्म भी जीव को बांधता ही है। बंधन में डालने की दृष्टि से विचार करें तो दोनों में कोई अन्तर नहीं है। मुक्ति का कारण दोनों कर्मों में से कोई भी नहीं है।

पाप-पुण्य की समानता में शिष्य की शंका एवं उसका समाधान

संकलेस परिनामनिसौं पाप बन्ध होई,
विसुद्धसौं पुन्न बन्ध हेतु-भेद मानियै।
पापके उदै असाता ताकौ है कटुक स्वाद,
पुन्न उदै साता मिष्ट रस भेद जानियै॥
पाप संकलेस रूप पुन्न है विशुद्ध रूप,
दुहूकौ सुभाव भिन्न भेद यौं बखानियै।
पापसौं कुगति होइ पुन्नसौं सुगति होइ,
ऐसौ फलभेद परतच्छि परमानियै॥५॥

पाप बन्ध पुन्न बन्ध दुहूंमैं मुकति नांहि,
कटुक मधुर स्वाद पुग्गलकौ पेखिए।
संक्लेस विसुद्ध सहज दोऊ कर्मचाल,
कुगति सुगति जग जालमैं विसेखिए॥
कारनादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात मांहि,
ऐसौ द्वैत भाव ग्यान दृष्टि मैं न लेखिए।
दोऊ महा अंधकूप दोऊ कर्मबन्ध रूप,
दुहूंकौ विनास मोख मारगमैं देखिए॥६॥

— समयसारनाटक, पुण्य-पाप एकत्वद्वार

अथोभयं कर्म प्रतिषेधयति—

तम्हा दु कुसीलेहि य रागं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरागेण ।।१४७।।

तस्मात्तु कुशीलाभ्यां च रागं मा कुरुत मा वा संसर्गम् ।
स्वाधीनो हि विनाशः कुशीलसंसर्गरारागेण ।।१४७।।

कुशीलशुभाशभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ बन्धहेतुत्वात् कुशीलमनोरमामनोरमकरेणुकुट्टनीरागसंसर्गवत् ।

अब दोनों कर्मों का निषेध करते हैं—

इससे करो नहिं राग वा संसर्ग उभय कुशीलका ।
इस कुशोलके संसर्गसे है, नाश तुझ स्वातंत्र्यका ।।१४७।।

गाथार्थः—[तस्मात् तु] इसलिये [कुशीलाभ्यां] इन दोनों कुशील के साथ [रागं] राग [मा कुरुत] मत करो [वा] अथवा [संसर्गम् च] संसर्ग भी [मा] मत करो [हि] क्योंकि [कुशीलसंसर्गरागेण] कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से [स्वाधीनः विनाशः] स्वाधीनता का नाश होता है (अर्थात् अपने द्वारा ही अपना घात होता है) ।

टीका:—जैसे कुशील – मनोरम और अमनोरम हथिनीरूपी कुट्टनी के साथ (हाथी का) राग और संसर्ग बन्ध (बन्धन) का कारण होता है, उसीप्रकार कुशील अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के साथ राग और संसर्ग बन्ध के कारण होने से, शुभाशुभ कर्मों के साथ राग और संसर्ग का निषेध किया गया है ।

अब, भगवान कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं ही दृष्टान्तपूर्वक यह समर्थन करते हैं कि दोनों कर्म निषेध्य हैं:—

देखो, जिसतरह मनोरम या अमनोरम हथिनी के साथ राग व संसर्ग हाथी के बन्धन का कारण बनता है, उसीप्रकार शुभाशुभभावरूप कुशील कर्म के प्रति राग जीव को बन्धन का कारण होता है । जंगल में स्वच्छन्द विचरण करने वाले हाथी को पकड़ने के लिये खूब लम्बा-चौड़ा और गहरा गड्ढा बनाकर उसके सामने पालतू हथिनी को खड़ा करते हैं ।

हाथी उसे देखकर राग के वशीभूत हो उससे संसर्ग करने के लिये उस गड्ढे में कूद पड़ता है। फिर उसमें से निकल नहीं पाता और बन्धन में पड़कर एवं पराधीन होकर जीवनभर दुःख भोगता है। इसीप्रकार शुभाशुभ दोनों ही कुशील कर्म बन्धन के कारण हैं।

देखो, यहाँ स्पष्ट कहा है कि शुभ व अशुभ – दोनों ही कर्म कुशील है और निज चैतन्यस्वभाव की दृष्टि, ज्ञान व रमणता सुशील है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि निज ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान व रमणतारूप निर्मल शांत वीतरागी परिणति को छोड़कर जो दया, दानादिक के शुभभाव होते हैं, उन्हें भी यहाँ कुशील कहा है। बात थोड़ी कड़क है, परन्तु सत्य है; क्योंकि यह जीव की स्वभावमय शुद्ध परिणति नहीं है। भाई जीव तो शुभाशुभभाव रहित चिदानन्दघनस्वरूप निर्मल वस्तु है। उसके आनन्द के रस के स्वाद में शुभाशुभभाव नहीं है।

भाई! आचार्यदेव यहाँ कहते हैं कि शुभाशुभभाव का सेवन करके शुभाशुभ गतियाँ तो तूने अनंतबार प्राप्त की हैं। अहा……! चाहे वह पंचपरमेष्ठी के स्मरण का हो या अनन्तगुण सम्पन्न निज आत्मद्रव्य के गुण-स्मरण का हो, सभी शुभभाव विकल्प हैं, राग हैं; अतः कुशील हैं। परमात्मप्रकाश में आया है कि गुणस्तवन या वस्तुस्तवन दोनों विकल्प हैं।

सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा त्रिकाली सत् है। "ओम् तत् सत् परमात्मस्वरूप" ऐसा कहा जाता है न? ओम् दो प्रकार का है – एक आत्मिक दूसरा शाब्दिक। प्रथम वाच्य है, द्वितीय वाचक है। पण्डित बनारसीदास ने 'बनारसी विलास' में समागत ज्ञानबावनी में कहा है:—

"ओंकार शब्द विशद याके उभयरूप,
एक आतमीक भाव एक पुद्गल को,
शुद्धता स्वभाव लसे उठ्यो राय चिदानन्द,
अशुद्ध स्वभाव लै प्रभाव जड़ बल को।"

ओंकार के दो अर्थ किये हैं – (१) शुद्ध चिदानन्दमय आत्मा, भाव ओंकार है और (२) 'ओम्-ओम्-ओम्' – ऐसा अशुद्ध विकल्प द्रव्य ओंकार है। 'उठ्यो राय चिदानन्द' – कहकर यह कहा गया है कि आनन्दरस का जो अतीन्द्रिय स्वाद आया, वह प्रथम चैतन्यभाव-ओंकाररूप है और दूसरा भगवान के गुणस्तवन का विकल्प अथवा "मैं शुद्ध चिदानन्दमय अनन्त

गुणस्वरूप आत्मा हूँ, अबंध हूँ" – ऐसा वस्तुस्वरूप के विचार का रागरूप शुभ विकल्प जड़स्वरूप है, कुशील है, बन्ध का कारण है ।

कर्त्ता-कर्म अधिकार में भी पहले आ चुका है कि 'मैं बद्ध हूँ, रागी हूँ' आदि व्यवहारनय का पक्ष तो पहले से ही छुड़ाते आये हैं, बाद में 'मैं अबंध हूँ, अरागी हूँ' – ऐसा शुद्ध आत्मस्वरूप का विकल्प भी राग होने से दुखरूप है, अतः छोड़ने लायक है ।

प्रश्नः—पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों में जो भिन्न साध्य-साधन की बात आती है, उसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तरः—वह व्यवहार का कथन है; परन्तु वहाँ भी निश्चय शुद्धात्मारूप साध्य की प्राप्ति का वास्तविक साधन तो राग से भिन्न आत्मा के अनुभव को ही कहा है तथा साथ में उस भूमिका में जो विकल्प रूप राग होता है, उसे व्यवहार से साधन कहा है । राग चाहे शुभ हो या अशुभ, आत्मा की प्राप्ति का वास्तविक साधन नहीं हो सकता । जिसतरह चाहे मनोरम हथिनी का राग हो या अमनोरम का, दोनों ही हाथी को बन्धन में डालती हैं, उसीतरह शुभराग हो या अशुभ, दोनों में से कोई भी आत्मा की प्राप्ति का साधन नहीं है । एकमात्र आत्मा का अनुभव ही मोक्ष का साधन है ।

यही नाटक समयसार में भी कहा है :—

"अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप ।
अनुभव मारग मोक्ष कौ, अनुभव मोक्षस्वरूप ।।"

"परमात्मप्रकाश" में आया है कि भरत व सगर चक्रवर्ती आदि समकिती पुरुष भी गुणस्तवन एवं वस्तुस्तवन करते थे तथा उन्हें रत्नत्रय-धारी मुनिवरों को सुपात्र दान देने का शुभभाव भी होता था, परन्तु इसके साथ उन्हें आत्मा का अनुभव था । चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन के साथ राग का सद्भाव होने से राग की अपेक्षा उन्हें सराग सम्यग्दृष्टि कहते हैं, किन्तु जिसे आत्मानुभव नहीं हो, केवल शुभराग ही हो, उसके शुभराग को व्यवहार सम्यग्दर्शन की संज्ञा लागू नहीं पड़ती ।

यहाँ भी यह कहा जा रहा है कि – शुभ व अशुभ भाव के साथ राग व संसर्ग बंध का कारण होने से शुभाशुभभाव का निषेध किया गया

है। क्रोध आदि की भांति दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि के भाव भी बंध के कारण हैं, इसकारण निषिद्ध हैं।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो आप यह सब क्यों करते हो ?

उत्तरः—भाई ! धर्मी को धर्मात्माओं के प्रति प्रेम, भगवान के प्रति भक्ति एवं दुःखियों प्रति दया का भाव आये बिना नहीं रहता। जब ऐसा भी भाव नहीं आवेगा, तब वीतराग दशा आ जावेगी। जबतक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती, तबतक शुभभाव होता ही है, तथापि ज्ञानी उसे उपादेय नहीं मानते। अस्थान के तीव्रराग से बचने के लिये धर्मी को ये शुभभाव आते हैं, परन्तु वे इन्हें धर्म व धर्म का कारण नहीं मानते। इन भावों का कर्त्तापना या स्वामीपना भी उनके नहीं होता।

समयसार कलश टीका के १०८वें कलश में इसका बहुत अच्छा स्पष्टीकरण आया है—

"कोई जानेगा कि शुभ-अशुभ क्रियारूप जो आचरणरूप चारित्र है, सो करने योग्य नहीं है, उसीप्रकार वर्जनकरने योग्य भी नहीं है। उत्तर इसप्रकार है – वर्जने योग्य है, कारण कि व्यवहार चारित्र होता हुआ दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है; इसलिये विषय-कषाय के समान क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है।"

अनुभवप्रकाश के पृष्ठ ३७ में आया है कि – अविद्या जड़ छोटी से आत्मा की महान शक्ति का घात नहीं होता। आत्मा की शुद्ध शक्ति तो महान है ही, अशुद्ध शक्ति भी महान है, परन्तु परलक्ष्यी ज्ञान के कारण आत्मा स्वयं अपने को भूला हुआ है, यह अज्ञान आत्मा के द्वारा ही स्वयं उत्पन्न किया गया है, इसमें किसी जड़कर्म या अन्य का कोई दोष नहीं है। आत्मा की स्वभाव-शक्ति तो अमाप है तथा अविद्या की शक्ति तो अति-अल्प है। यदि आत्मा स्वयं को अविद्यारूप कर्म में न जोड़े तो कुछ भी ताकत नहीं है, परन्तु अज्ञान के वश होकर स्वयं आत्मा ही पर का लक्ष्य करके यह मेरी वस्तु है, ऐसा मानकर स्वयं भूला है। इसीलिये तो हम कहते हैं कि जैसी तेरी शुद्धता बड़ी है, उसीप्रकार ही तेरी अशुद्धता भी बड़ी है। भाई ! तू अशुद्धता के शुभराग के प्रेम में फंस गया है।

इन व्रत, नियम, शील, तप आदि में जो तप कहा गया है; उसमें ध्यान नामक अन्तरंग तप भी आ गया। विकल्परूप ध्यान भी शुभकर्म होने से कुशील है – ऐसा यहाँ कहा जा रहा है। वास्तविक ध्यान तो

शुद्धस्वरूप में एकाग्र होकर ठहरना है, परन्तु जिसे अभी आत्मा की प्रतीति ही न हुई हो, वह कहाँ किसमें ठहरेगा ? अपना आत्मा जो ध्रुव नित्यानन्द चिदानन्दस्वरूप है, जब वह अभी अनुभव में, वेदन में या दृष्टि में ही नहीं आया, तो उसमें मग्न होकर ठहरने रूप ध्यान कहाँ से होगा ? बापू ! जो ध्यान के ये बाह्य विकल्प हैं, ये तो राग हैं, अतः कुशील हैं, बंधन के कारण हैं ।

अहाहा……! स्वयं आनन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु भगवान स्वरूप है, परन्तु राग की रुचि में फंसकर अपने निजस्वरूप को भूलकर अनादि से राग की रुचि में पड़ा है । सत् अर्थात् शाश्वत चैतन्य व आनन्द स्वभावी अपने स्वभाव को भूलकर दया, दान, व्रत, तप आदि शुभराग में ही धर्म मान बैठा है, जबकि धर्म तो एक वीतराग परिणतिरूप ही है । राग में धर्म मानना, यही तो मिथ्यात्व है ।

आचार्यदेव फरमाते हैं कि भाई तू तो परमेश्वर है, परमेश्वर पद में शुभभाव कहाँ है ? शुभभाव होता अवश्य है, परन्तु वह चैतन्यमय वस्तु में नहीं है एवं चैतन्य की परिणति में भी नहीं है । देखो, तीन लोक के जिनेश्वर देव दिव्यध्वनि द्वारा जो कहते थे, वही यह बात है ।

वर्तमान में कुछ लोग शुभराग को साधन मानकर, शुभराग करते-करते निश्चय स्वरूप प्रगट होगा – ऐसा कहते हैं, परन्तु वह यथार्थ नहीं है । शुभराग की रुचि का फल तो चार गति चौरासी लाख योनियों में भटकना ही है ।

देखो, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का राग व पंचमहाव्रत के परिणाम, दया, दान, व्रत, तप, ब्रह्मचर्य आदि का राग एवं गुण-गुणी का भेदरूप राग आदि सब शुभकर्म हैं, अतः उनकी रुचि व संसर्ग निषिद्ध है । भाई ! तू स्वयं चिदब्रह्मस्वरूप परमात्मा है । अपने चिदब्रह्मस्वरूप अन्तरात्मा में रमे बिना मोक्षमार्ग नहीं होता तथा मोक्षमार्ग हुये बिना मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती ।

अहाहा……! परमेश्वर पद जो स्वयं में शक्तिरूप से अन्दर गुप्त पड़ा है, उसे तू व्यवहार के राग से प्रकट करना चाहता है, परन्तु वह इस रीति से प्रगट नहीं होगा । भाई ! शक्ति की अपेक्षा से परमात्म पद अन्दर गुप्त है, वास्तव में वह ऊपर ढंका नहीं है, परन्तु शक्तिरूप से गुप्त है ।

पर्याय में राग का सम्बन्ध है, राग का प्रेम है – यह भाव आचरण है तथा द्रव्य आचरण (जड़कर्म) तो इसका निमित्त है।

अज्ञानी जीव अनादि से कषाय का राग का सेवन कर-करके प्रसन्न हो रहा है। वह शुभभावरूप व्रत, तप आदि करता है और उनका उद्यापन कर-करके ऐसा संतुष्ट हो जाता है, जैसे कि मानो उससे संसार-सागर से पार होने का कोई बहुत बड़ा धर्म कर लिया है। उसको समझाते हुये सद्गुरु कहते हैं कि - भाई! ये शुभभावरूप जो राग है, यह आग है, तुझे जलानेवाला है, दुःखदाई है। इसमें खुशिया मनाने जैसा कुछ नहीं है, अतः शुभराग के प्रति उपादेयबुद्धि छोड़ दे।

प्रभु! तूझे अपनी प्रभुता का पता नहीं है। तू तो स्वयं परमेश्वर-स्वरूप है। नाथ! यह राग की पामरता तेरा पद नहीं है। इस राग की रुचि की आड़ में तुझे तेरा परमेश्वर स्वरूप निजपद दिखाई नहीं देता, अतः तू राग की रुचि व संसर्ग छोड़ दे।

देखो, यहाँ इस बात का स्पष्टीकरण कर रहे हैं कि "राग का संसर्ग नहीं करना" गाथा में यह कहा है न कि – "साहीणो हि विणासो कुशील संसग्गरागेण" अर्थात् कुशील संसर्ग एवं राग से स्वाधीनता का नाश होता है। इसका यहाँ यह अर्थ किया है कि शुभ व अशुभ कर्म के साथ राग व संसर्ग का निषेध किया गया है। भगवान! तेरे स्वाधीन अबन्ध परमेश्वर पद में यह शुभ राग का प्रेम तेरी स्वाधीनता का नाश करता है, तुझे बन्धन में डालकर पराधीन करता है।

"जागकर देखता हूँ तो संसार दिखाई ही नहीं देता, अज्ञान में यह संसार अटपटा सा खेल नजर आता है।" स्वरूप में सावधान होकर देखें तो राग, विकल्प और सारा जगत कहाँ दिखाई देता है? क्योंकि जगदीश में जगत और जगत में जगदीश परमार्थ से है ही नहीं। यह राग एवं विकल्प मेरा – यह तो अज्ञान में भासित होता है।

प्रश्नः—निश्चय की प्राप्ति करना चाहिये – यह बात तो बराबर है, परन्तु उसकी प्राप्ति का साधन क्या है?

उत्तरः– अन्तरंग साधन निज शुद्धात्मा है और उसके आश्रय से प्रगट हुआ शुद्ध रत्नत्रय बहिरंग साधन है। इसके सिवाय अन्य कोई साधन है ही नहीं।

प्रश्नः—शुभराग को परम्परा मोक्षमार्ग का साधन कहा है न ?

उत्तरः—हां, कहा है; परन्तु परम्परा का अर्थ क्या ? समकिती धर्मात्मा को वर्तमान में साक्षात् मोक्षमार्ग है तथा साथ ही उसके भूमिकानुसार यथासंभव राग भी है, वह निकट भविष्य में स्वभावसन्मुखता के उग्रपुरुषार्थ द्वारा उस राग को भी टालकर मोक्ष प्राप्त करेगा, इसलिये शुभराग को उपचार से परम्परा कारण कहा है, परन्तु वह वास्तविक कारण नहीं है।

कुन्दकुन्दाचार्य की 'बारह अणुवेक्खा' में राग को परम्परा अनर्थ का का कारण कहा है। समयसार की ७४वीं गाथा में भी शुभराग को वर्तमान में दुख का कारण व भविष्य में भी दुःख का कारण कहा है। भाई ! राग चाहे जैसा हो, परन्तु वह पराधीनता करके आत्मा की शान्ति व स्वाधीनता का नाश ही करता है।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो अब हमें क्या करना चाहिये ?

उत्तरः—हमारा आत्मा जो स्वयं शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप है, उसे राग से भिन्न जानकर, वैसी ही प्रतीति करके अपने शुद्धस्वरूप का वेदन करना चाहिये। काम तो कठिन है, फिर भी अलभ्य नहीं है। भगवान् ! तू स्वयं आत्मा है, स्वयं जहाँ है, वहाँ अपनी दृष्टि को ले जा और जहाँ स्वयं नहीं है, वहाँ से अपने उपयोग को हटा ले। यदि नहीं बनता हो तो इसी का बारम्बार अभ्यास कर ! क्योंकि यह एक ही मार्ग है, दूसरा कोई उपाय नहीं है।

इसप्रकार इस गाथा में आचार्यदेव कह रहे हैं कि शुभाशुभ कर्म के साथ राग व संसर्ग स्वाधीनता का घातक होने से एवं कर्मबन्ध का कारण होने से निषिद्ध किया गया है। त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव ने अपनी दिव्यध्वनि में तथा संतों ने भी समय-समय पर अपने उपदेशों एवं शास्त्रों में इसका निषेध किया है।

अथोभयं कर्म प्रतिषेध्यं स्वयं दृष्टान्तेन समर्थयते—

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रागकरणं च ॥१४८॥

एमेव कम्मपयडीसीलसहावं च कुच्छिदं णादुं ।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरदा ॥१४९॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय ।
वर्जयति तेन समकं संसर्गं रागकरणं च ॥१४८॥

एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं च कुत्सितं ज्ञात्वा ।
वर्जयंति परिहरंति च तत्संसर्गं स्वभावरताः ॥१४९॥

अब, भगवान कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं ही दृष्टान्तपूर्वक यह समर्थन करते हैं कि दोनों कर्म निषेध्य हैं; —

जिस भाँति कोई पुरुष, कुत्सितशील जनको जानके ।
संसर्ग उसके साथ त्योंही, राग करना परितजे ॥१४८॥

यों कर्मप्रकृति शील और स्वभाव कुत्सित जानके ।
निज भाव में रत राग अरु संसर्ग उसका परिहरे ॥१४९॥

गाथार्थः—[यथा नाम] जैसे [कोऽपि पुरुषः] कोई भी पुरुष [कुत्सितशीलं] कुशील अर्थात् खराब स्वभाववाले [जनं] पुरुष को [विज्ञाय] जानकर [तेन समकं] उसके साथ [संसर्गं च रागकरणं] संसर्ग और राग करना [वर्जयति] छोड़ देता है; [एवम् एव च] इसीप्रकार [स्वभावरताः] स्वभाव में रत पुरुष [कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं] कर्मप्रकृति के शील-स्वभाव को [कुत्सितं] कुत्सित अर्थात् खराब [ज्ञात्वा] जानकर [तत्संसर्गं] उसके साथ ससर्ग [वर्जयंति] छोड़ देते हैं [परिहरंति च] और राग छोड़ देते हैं ।

यथा खलु कुशलः कश्चिद्वनहस्ती स्वस्य बंधाय उपसर्प्पन्तीं चटुल-मुखीं मनोरमाममनोरमां वा करेणुकुट्टनीं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति, तथा किलात्माऽरागो ज्ञानी स्वस्य बंधाय उपसर्प्पन्तीं मनोरमाममनोरमां वा सर्वामपि कर्मप्रकृतिं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति ।

टीका:—जैसे कोई जंगल का कुशल हाथी अपने बन्धन के लिये निकट आती हुई सुन्दर मुखवाली मनोरम अथवा अमनोरम हथिनीरूपी कुट्टनी को परमार्थतः बुरी जानकर उसके साथ राग या संसर्ग नहीं करता, इसीप्रकार आत्मा अरागी ज्ञानी होता हुआ अपने बन्धके लिये समीप आती हुई (उदय में आती हुई) मनोरम या अमनोरम (शुभ या अशुभ) – सभी कर्मप्रकृतियों को परमार्थतः बुरी जानकर उनके साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता ।

भावार्थ:—हाथी को पकड़ने के लिये हथिनी रखी जाती है, हाथी कामान्ध होता हुआ उस हथिनीरूपी कुट्टनी के साथ राग तथा संसर्ग करता है, इसलिये वह पकड़ा जाता है और पराधीन होकर दुःख भोगता है, जो हाथी चतुर होता है, वह उस हथिनी के साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता, इसीप्रकार अज्ञानी जीव कर्मप्रकृति को अच्छा समझकर उसके साथ राग संसर्ग करते हैं, इसलिये वे बन्ध में पड़कर पराधीन बनकर संसार के दुःख भोगते हैं और जो ज्ञानी होता है, वह उसके साथ कभी भी राग तथा संसर्ग नहीं करता ।

गाथा १४८-१४९ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

"जिसतरह कोई कुशल वन-हस्ती अपने बन्धन की निमित्त मनोरम या अमनोरम कुट्टनी-हथनी को परमार्थ से अहितकारी जानकर उससे राग व संसर्ग नहीं करता, उसीप्रकार ज्ञानी व अरागी आत्मा अपने बन्धन की निमित्तभूत उदय में आती हुई मनोरम या अमनोरम (शुभ या अशुभ) सभी कर्म प्रकृतियों को परमार्थ से अहितकारी जानकर उसके साथ राग व संसर्ग नहीं करता ।"

जिसे रागरहित वीतरागस्वभावी शुद्ध चैतन्यमय निज आत्मस्वरूप की दृष्टि हुई है, वह अरागी ज्ञानी है । धर्मीजीव अरागी होता है, जिसे राग की रुचि है, वह धर्मी नहीं है । जिसको दया, दान, व्रत, तप आदि के राग की या गुण-गुणी भेदों के विकल्प की रुचि है, वे अज्ञानी हैं ।

प्रश्नः—अरागी तो ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में होता है न ?

उत्तरः—हां, पूर्ण अरागी तो वहीं होता है, पर यहाँ पूर्ण अरागी की बात नहीं है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन होने पर चौथे गुणस्थान में जिसे सम्पूर्ण राग की रुचि छूट जाती है, उस अविरत सम्यग्दृष्टि को अरागी ज्ञानी कहा है।

भाई ! राग से धर्म होना मानना तो प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि का लक्षण है। यदि कोई ऐसा कहे कि संयमी जनों की आलोचना नहीं करना चाहिये, क्योंकि वे द्रव्यलिंगी हैं या भावलिंगी हैं ? इसके वे स्वयं उत्तरदायी हैं, उससे अपने को क्या ?

भाई ! यहाँ किसी की टीका-टिप्पणी करने की बात ही कहाँ है ? यहाँ तो तत्त्व के स्वरूप की बात है। यदि कोई व्यवहार दया-दान-व्रत-तप आदि रागरूप क्रियाओं से धर्म होना मानें एवं ऐसी ही आगम विरुद्ध प्ररूपणा करें तो वह प्रगट मिथ्यादृष्टि है। यह तो वीतराग मार्ग है, इसमें 'राग से धर्म होना मानना' एवं ऐसी ही प्ररूपणा करना आगम की यथार्थ दृष्टि से सर्वथाविरुद्ध है। स्व-पर हित की दृष्टि से वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा ही जानना, मानना एवं निरूपित करना चाहिये। इसमें किसी अन्य की निन्दा करने या किसी की टीका-टिप्पणी करने का प्रश्न ही कहाँ से आया ?

अहो ! अद्भुत बात है। 'आत्मा अरागी ज्ञानी होता हुआ' – इस कथन में यह भी आ गया कि आत्मा स्वयं अपने पुरुषार्थ से ज्ञानी हुआ है, किसी दर्शनमोहादि ने कृपा करके उसे मार्ग नहीं दिया है। कुछ लोग कहते हैं कि – कर्म के सद्भाव या अभाव के कारण आत्मा अज्ञानी या ज्ञानी होता है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। कर्म के कारण कोई मिथ्यादृष्टि और उसके अभाव के कारण सम्यग्दृष्टि नहीं होता, बल्कि अपनी ही भूल से अब तक अज्ञानी है और अपने पुरुषार्थ से भूल मिटाकर ज्ञानी बनता है। अपराध तो स्वयं करे और दोष कर्मादिक के माथे मढ़े। सो भाई ! यह तो अनीति है। ऐसी अनीति वीतराग शासन में नहीं चल सकती।

यहाँ कहते हैं कि धर्मी जीव अरागी है। देखो, यह धर्मी की पहचान ! अन्तरंग में स्वयं अपने शुद्धात्मा का अनुभव करता है, संचेतन करता है। यही उसको पहचानने का आन्तरिक लक्षण है और बाह्य में राग की रुचि

का अत्यन्त अभाव होने से न तो वह राग में धर्म स्वयं मानता है और न किसी को मानने को कहता है।

भाई ! यह किसी व्यक्ति विशेष की बात नहीं है, यह तो अनादि परम्परा से चले आये वीतराग मार्ग की बात है। राग तो पर की ओर झुकने-झुकाने वाली वस्तु है, उसका शुद्ध चैतन्यमय स्वरूप व स्वरूप की ओर के लक्ष्य वाली परिणति से कोई सम्बन्ध नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि आत्मा अरागी होता हुआ अपने बन्ध के लिये समीप आती हुई (उदय में आती हुई) मनोरम या अमनोरम (शुभ या अशुभ) सभी कर्मप्रकृतियों को परमार्थतः बुरी जानकर उनके साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता।

'उदय में आती हुई – समीप में आती हुई कर्मप्रकृति' का आशय यह है कि शुभकर्म के उदय में शुभभाव होता है और अशुभ कर्म के उदय में अशुभभाव होता है – इसे ही कर्मप्रकृति का समीप आना कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि शुभाशुभ प्रकृति के उदय के काल में जो शुभाशुभभाव होता है, उसे ज्ञानी जीव बुरा जानते हैं तथा उसे बुरा जानकर उसके साथ राग या ससर्ग नहीं करते।

यहाँ कोई कह सकता है कि यह तो जड़ कर्म की बात है, शुभाशुभ भाव की नहीं, परन्तु भाई ! ऐसा नहीं है। १५३वीं गाथा की टीका में बताया है कि व्रत, तप, नियम, शीलादि सब शुभकर्म हैं। रागरूपी कार्य को वहाँ शुभकर्म कहा है, जड़कर्म तो इनसे भिन्न ही है। भावकर्म का निमित्त जो कर्म प्रकृति, उनके उदय में आने पर शुभाशुभ भाव होते हैं, उन्हें ज्ञानी बुरा जानते हैं, जड़ कर्मप्रकृतियों को नहीं। १४५वीं गाथा में भी कर्म शब्द है। उसकी टीका में जो चार अर्थ किये हैं, उनमें एक अर्थ जड़कम का हेतु जो शुभाशुभभाव उसे ही कर्मरूप से ग्रहण किया है।

भाई ! यह मार्ग बड़ी भूल-भुलइयों वाला है, सूक्ष्म भी है; परन्तु सन्तों ने खुलासा करके सुगम कर दिया है। अहा ! पुण्य को धर्म मान बैठना या पुण्य को धर्म का साधन मानने लगना या पुण्य को भला मान लेना – यही सब भूल-भुलइयाँ है। अनादि से सभी जीवों को पुण्य का ही प्रेम व संसर्ग है, इसीकारण ये सब भ्रम खड़े होते हैं।

आत्मा ज्ञानी होता हुआ उदय में आती हुई सभी कर्म प्रकृतियों को अर्थात् उस काल में होते हुये शुभाशुभभावों को परमार्थरूप से बुरा

जानकर उसके साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता। 'शुभाशुभ भाव को बुरा जानकर' यह कहने का भाव ही यह है कि ये भाव होते तो अवश्य हैं, यदि होते ही नहीं, तब तो वर्तमान में ही वीतरागी ठहरे, किन्तु ऐसा तो है नहीं। ज्ञानी विद्यमान शुभाशुभभावों को बुरा (अहितरूप) जानकर, उनसे एकत्व नहीं करता।

'परमार्थ से बुरा जानकर' इस कथन का यदि कोई यह अर्थ करे कि 'व्यवहार से ठीक मानकर' तो यह अर्थ भी ठीक नहीं है। शुभ को तो व्यवहार से ठीक कहा जाता है, परन्तु अशुभ को तो व्यवहार से भी ठीक नहीं कहा जा सकता ? बन्धन की अपेक्षा तो दोनों एक समान ही बुरे हैं। व्यवहार से ठीक कहने का अर्थ ही यह है कि परमार्थ से ठीक नहीं है। इसकारण यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी शुभाशुभ भाव के साथ राग अर्थात् अन्दर ही अन्दर चित्त में प्रीति नहीं करते तथा संसर्ग अर्थात् वाणी द्वारा प्रशंसा व काया द्वारा संकेतों से या हाथ वगैरह की चेष्टा से 'ये भाव ठीक हैं' – ऐसा व्यक्त नहीं करते।

अरे ! चार गति और चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण कर-करके जीव मरण तुल्य हो गया है, तो भी इसे कोई सुध नहीं है। मानो कुछ हुआ ही नहीं – ऐसा होकर आज भी स्वर्गादिक की चाह करता है, भव की चाह करता है, इतने दुःख भोग करके भी घबराया नहीं है, परन्तु भाई ! भवमात्र दुःखरूप है, भले ही स्वर्ग का भव क्यों न हो, वह भी दुःखरूप ही है। योगसार में कहा है –

"चारगति दुख से डरे तो तज दे परभाव"

चारों ही गतियाँ दुःखमय है। नरक दुःखरूप है, भययोग्य है और स्वर्ग सुखरूप है, भय योग्य नहीं है – ऐसा नहीं है। यहाँ तो यह कहा है कि भवमात्र से भय रखकर परभावों का त्याग कर दे और एकमात्र स्वरूप का अनुभव कर। भगवान आत्मा आनन्द का निधान है। इसके आनन्द के स्वाद के आगे धर्मी को इन्द्रों का इन्द्रासन भी जीर्ण तृणवत् तुच्छ व फीका लगता है।

यहाँ तो यह कहते हैं कि आत्मा अरागी ज्ञानी होता हुआ इन दोनों शुभ व अशुभ भावों को बुरा – अहितरूप जानकर उनके साथ राग व संसर्ग नहीं करता।

गाथा १४८-१४९ के भावार्थ पर प्रवचन

"हाथी को पकड़ने के लिये हथनी रखी जाती है, हाथी कामांध होता हुआ उस हथनी रूपी कुट्टनी के साथ राग तथा संसर्ग करता है, इसलिये वह पकड़ा जाता है और पराधीन होकर दुःख भोगता है।"

देखो, हाथी को पकड़ने के लिये बड़ा भारी गड्ढा करके उस पर बांस डालकर कपड़े से ढ़क दिया जाता है। कामान्ध – विषयान्ध हाथी हथनी के पीछे-पीछे दौड़ता हुआ आता है। पहले से ही गड्ढे से परिचित प्रशिक्षित हथनी गड्ढे से बचकर निकल जाती है और कामान्ध अविवेकी हाथी उस गड्ढे में गिर जाता है। इसप्रकार वह हाथी हथनी के राग व संसर्ग की इच्छा के कारण बन्धन में पड़कर जीवनभर पराधीनता का दुःख भोगता है।

"जो हाथी चतुर होता है, वह उस हथनी के साथ राग व संसर्ग नहीं करता।" चतुर विवेकशील हाथी हथनी की अनुकूल भाषा में, हावभावों में तथा काम-क्रीड़ा की चेष्टाओं से प्रभावित नहीं होता, ललचाता नहीं है।

"इसी प्रकार अज्ञानी जीव कर्मप्रकृति को अच्छा समझकर उसके साथ राग तथा संसर्ग करते हैं, वे बंध में पड़कर पराधीन बनकर संसार के दुःख भोगते हैं।"

कर्मप्रकृति और भावकर्म चाहे वे शुभ हों या अशुभ हों – दोनों बन्ध स्वभाव ही हैं, दोनों में कोई भी भला नहीं है, अबंधस्वरूप तो एक भी नही है। फिर भी अज्ञानी शुभ को ठीक जानकर उसके प्रेम में पड़कर बन्धन में पड़ता है। मिथ्यात्व के मजबूत बन्धन में पकड़कर नरक-निगोद के अकथनीय दुःख भोगता है। और जो ज्ञानी हो तो उसके साथ राग व ससर्ग नहीं करता। चाहे शुभभाव हो या उसकी निमित्तभूत द्रव्यकर्म की प्रकृतियाँ हों, ज्ञानी उनके साथ प्रेम नहीं करता, संसर्ग नहीं करता। वाणी द्वारा भी शुभभाव को भला नहीं कहता, हितरूप नहीं कहता, क्योंकि इसकी दृष्टि तो एक शुद्ध चैतन्य के ऊपर ही टिकी रहती है। कदाचित् व्यवहार से भले ही ऐसा कहे कि पाप क्रिया की अपेक्षा देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति करना ठीक है, परन्तु यह तो व्यवहार की बात हुई, निश्चय से तो इन दोनों में से एक को भी ठीक नहीं मानता और ठीक है – ऐसा कहता ।। नहीं है।

सारे दिन संसार के काम में, व्यापार-धंधा में एवं स्त्री-पुत्रादि के संभालने-पालन-पोषण करने में मशगूल (व्यस्त) रहता है। पर भाई, इसमें आत्मा कहाँ है ? अरे ! राग मात्र को बुरा जानकर तथा राग की क्रियाओं को गौण करके निर्विकल्प, चैतन्यस्वरूप निराकुल आनन्द के रसकन्दमयी निज आत्मा की दृष्टि करना ही कर्त्तव्य है। राग ज्ञानी का कर्त्तव्य नहीं है, परन्तु यह कठिन पड़ता है और बाह्य व्रत, तप, भक्ति, यात्रा, वन्दना आदि करना ही अज्ञानी को सरल लगता है; क्योंकि अनादि से ही इन्हीं कि टेव पड़ी है।

परन्तु भाई ! यदि शुभभाव से एकाध भव स्वर्ग का मिल भी गया या एकाध भव दु:ख से भी गया तो इससे क्या होने वाला है ? मिथ्यात्व का नाश हुये बिना निगोद के भव घटे बिना भव-भ्रमण कैसे मिटेगा ? अन्तर में चैतन्य के नाथ की यात्रा किये विना भव-भ्रमण नहीं मिटेगा। अपने चैतन्यनाथ की अन्तर्यात्रा किये बिना कितनी भी तीर्थयात्रायें करें, दौड़-धूप करे, भव-भ्रवण मिटने वाला नहीं है।

ऐसे तो तीन लोक के नाथ तीर्थंकर देव के समोशरण में भी अनन्तवार गया, अनन्तबार दिव्यध्वनि भी सुनी, मणि-रत्नों से भगवान की पूजा भी की, फिर भी भव-भ्रमण नहीं मिटा।

आत्मानुभव के बिना यह सब तो शुभभाव ही हुआ न ? शुभभावों से एकाध भव स्वर्ग का मिल सकता है; परन्तु शुभभावों से धर्म नहीं होता, अतः भव का अभाव नहीं हो सकता।

इससे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि शुभभाव को छोड़कर अशुभ भाव करना चाहिए। भाई, तुझे जो अनादि से शुभ की रुचि है, उसका त्याग कर दे; क्योंकि शुभभाव से धर्म होता है वा शुभभाव धर्म है – यह मान्यता विपरीत है, मिथ्यात्व की शल्य है।

समयसार गाथा १५०

अथोभयं कर्म बन्धहेतुं प्रतिषेध्यं चागमेन साधयति

रत्तो बन्धदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ।।१५०।।

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते जीवो विरागसंप्राप्तः ।
एषो जिनोपदेशः तस्मात् कर्मसु मा रज्यस्व ।।१५०।।

यः खलु रक्तोऽवश्यमेव कर्म बध्नीयात् विरक्त एव मुच्येतेत्ययमागमः स सामान्येन रक्तत्वनिमित्तत्वाच्छुभमशुभमुभयं कर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति, तदुभयमपि कर्म प्रतिषेधयति च ।

अब, आगम से यह सिद्ध करते हैं कि दोनों कर्म बन्ध के कारण हैं और निषेध्य हैं :—

जीव रागी बांधे कर्म को, वैराग्यगत मुक्ती लहे ।
ये जिनप्रभू उपदेश है नहिं रक्त हो तू कर्म से ।।१५०।।

गाथार्थः—[रक्तः जीवः] रागी जीव [कर्म] कर्म [बध्नाति] बाँधता है [विरागसंप्राप्तः] और वैराग्य को प्राप्त जीव [मुच्यते] कर्म से छूटता है – [एषः] यह [जिनोपदेशः] जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है; [तस्मात्] इसलिये (हे भव्य जीव !) तू [कर्मसु] कर्मों में [मा रज्यस्व] प्रीति – राग मत कर ।

टीकाः—"रक्त अर्थात् रागी अवश्य कर्म बाँधता है, और विरक्त अर्थात् विरागी ही कर्म से छूटता है" ऐसा जो यह आगमवचन है, सो सामान्यतया रागीपन की निमित्तता के कारण शुभाशुभ दोनों कर्मों को अविशेषतया बन्ध के कारणरूप सिद्ध करता है और इसलिये दोनों कर्मों का निषेध करता है ।

गाथा १५० एवं उसकी टीका पर प्रवचन

अब यहाँ आगम के आधार से यह सिद्ध करते हैं कि दोनों ही कर्म बंध के कारण हैं और निषेध करने योग्य हैं ।

"रक्त अर्थात् रागी जीव अवश्य कर्मों को बांधते हैं और विरक्त (विरागी) ही कर्म से छूटते हैं।" जिसको राग के साथ एकत्व है, वह रागी है। यहाँ अस्थिरता जनित राग की बात नहीं है, यहाँ तो जिसको राग में एकत्व बुद्धि है, अहंबुद्धि है, उस मिथ्यादृष्टि को रागी कहा है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि को भी अस्थिरता के कारण राग होता है, परन्तु वह राग में रक्त नहीं होता, रुचिवन्त नहीं होता, इसकारण वह विरागी है।

अज्ञानी यद्यपि व्रत, तप, भक्ति आदि सब करता है तथा शास्त्र को पढ़ने-लिखने एवं स्मरण रखने के योग्य धारणा शक्ति होने से उपदेश भी देता है, किन्तु इस प्रकार के शुभराग को करके वह ऐसा मानता है कि 'मैं धर्म कार्य कर रहा हूँ, इनसे मेरा हित होगा।' बस इसीकारण वह रागी है, अज्ञानी है, अतः वह अवश्य ही कर्म बांधेगा।

अगली गाथा की टीका में 'अरागी-ज्ञानी' – ऐसा शब्द आया है, उसका तात्पर्य यह है कि जो अरागी है, वह ज्ञानी है। अज्ञानी राग में रक्त है। वीतरागस्वभावी चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा पर उसकी दृष्टि नहीं है। अहाहा......... ! जिनपद स्वरूप में मैं स्वयं हूँ – यह बात इसे स्वीकृत नहीं होती और जिसे अपने आत्मा की स्वीकृति ही नहीं है, वह कहीं न कहीं अर्थात् किसी में न किसी में तो अपनत्व स्थापित करेगा ही, अन्य में अपना अस्तित्व मानेगा ही। अज्ञानी अपने रागरहित निर्मल निज तत्त्व को तो देखता नहीं है और 'मैं राग हूँ' – ऐसा ही मानता है।

सामान्यरूप से दशवें गुणस्थान तक राग रहता है, इस अपेक्षा से वहाँ तक भी जीव रागी कहलाता है, परन्तु यहाँ वह अपेक्षा नहीं है। यहाँ तो जिसको राग से प्रेम है, राग में स्वामीपना है व शुभराग में धर्मबुद्धि है, उसे राग-रक्त अर्थात् रागी कहा है।

धर्मी को साधक दशा में अस्थिरता का राग यथासम्भव आता है, परन्तु उसे राग में रूचि नहीं है। धर्मी को तो अपना एक आत्मा ही पुसाता है। यहाँ कहते हैं कि जिसकी दृष्टि एक शुद्ध निज चैतन्य वस्तु (निज आत्मा) से बंधी है – वह विरागी जीव ही कर्म से छूटता है। यही जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है।

स्त्री-पुत्र, दुकान-धन्धा आदि बाह्य सामग्री छोड़ देने मात्र से कोई वैरागी नहीं कहा जा सकता। यहाँ तो यह कहा है कि जिसके अन्तर में से

राग की, पर की रुचि छूट गयी है और जिसको आनन्द के नाथ वीतराग-स्वभावी शुद्ध चैतन्यमय आत्मा की दृष्टि, रुचि, ज्ञान व अनुभव हुआ है – वही विरक्त अर्थात् विरागी है; वही कर्म से छूटटा है; – ऐसा आगम वचन है।

देखो, मूल गाथा में जो 'जिनोपदेश' शब्द है, उसका अर्थ यहाँ टीका में 'आगमवचन' किया है। जिनवाणी के अनुसार ही आगम की रचना हुई है, इस कारण जिनोपदेश का अर्थ आगमवचन किया है। उस आगमवचन में कहा गया है कि राग में एकत्वबुद्धिवाला रागी जीव कर्म बांधता है तथा जिसके राग से एकता टूट गई है, वह विरागीजीव ही कर्म से मुक्त होता है। यह दृष्टि अपेक्षा से किया गया कथन है। आचरण की अपेक्षा तो दशवें गुणस्थान तक राग विद्यमान है तथा जितने अंश में राग है, उतने अंश में बंध भी है पर जिसकी राग में रुचि नहीं रही – ऐसे ज्ञानी को वर्तमान में किंचित् पुण्य-पाप के भाव होते हुये भी यहाँ विरागी कहा गया है।

यहाँ 'विरागी' से मात्र इतना तात्पर्य ही ग्रहण करना कि जिसको अन्तर में राग की रुचि छूटने से वीतराग स्वभावी शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा के आनन्द की स्वानुभव दशा प्रकट हो गई है तथा जो पुण्य-पाप के दोनों ही भावों से विरक्त हुआ है, वही विरागी है। जो पुण्य परिणाम में प्रेम रखता है, वह विरागी नहीं है किन्तु रागी है, और वह रागी कर्म से अवश्य बंधता है – ऐसा आगम वचन है।

कुछ लोग कहते हैं कि जो केवल अशुभ राग में रचे-पचे रहते हैं, उनको शुभराग करने को कहें तो क्या बाधा है ?

भाई ! शुभराग कोई नवीन वस्तु नहीं है। अनादि से यह शुभाशुभ भाव तो करता ही आया है। जब निगोद में था, तब भी शुभाशुभ भाव के परिणाम होते थे। करणानुयोग के कथनानुसार सभी जीवों को क्षण-क्षण शुभाशुभ भाव झूले के झूलने की तरह होते ही रहते हैं। आज भी निगोद में ऐसे अनन्त जीव हैं, जिन्होंने आज तक कभी भी त्रस पर्याय नही पायी, उन्हें भी क्रमशः शुभाशुभ भाव होते ही रहते हैं। सभी जीवों को शुभाशुभ भावों की धारा निरन्तर चालू रहती है। वहाँ यद्यपि दया, दान, पूजा-भक्ति आदि क्रियायें नही हैं, परन्तु शुभ व अशुभ भाव तो वहाँ भी हुआ ही करते हैं।

इस तरह आचार्य कहते हैं, कि भाई ! शुभाशुभ भाव कोई अपूर्व वस्तु नहीं है । आत्म भान बिना अज्ञानी ने नववें ग्रैवेयक तक जाने योग्य शुक्ललेश्या के शुभभाव भी अनंत बार किये हैं, परन्तु उनसे क्या लाभ हुआ ? रंचमात्र भी दुःख कम नहीं हुआ ।

शुभभाव से पुण्य बंधा, मनुष्य पर्याय मिली, मनुष्य पर्याय में धर्म सुनने-समझने का अवसर मिला – यह लाभ तो शुभभाव से ही हुआ न ?

बापू ! ऐसा अवसर तो अनंतबार मिला, परन्तु राग का प्रेम छूटे बिना सब सुना-सुनाया, करा-कराया निरर्थक ही रहा, क्योंकि चारों ही अनुयोगों के शास्त्रों का तात्पर्य तो एक वीतरागता ही है । शास्त्र सुनकर भी यदि राग की रुचि नहीं छूटी और स्वभाव की दृष्टि नहीं हुई तो शास्त्र का मूल तात्पर्य नहीं जाना ।

सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान आत्मा तो सदा वीतरागस्वरूप ही है । वीतरागस्वरूप कहो या अकषायस्वरूप कहो – दोनों एक ही बात है । भगवान आत्मा में कषाय के विकल्प की गंध भी नहीं है । वह तो सदा ही अनाश्रवी है, अबंध है, अनाकुल है और पुण्य पाप के भाव आश्रवरूप हैं, बंधरूप हैं, आकुलतामय हैं, दुःखरूप हैं । 'पुण्य-पाप के भाव मेरे हैं' – ऐसा जो मानता है, वह रागी कर्म से अवश्य ही बंधता है और जो पुण्य-पाप से रहित शुद्ध चैतन्यमय आत्मा का अनुभव करता है, वह कर्मों से मुक्त होता है । यह जिनवचन है – आगमवचन है ।

अब कहते हैं कि – "ऐसा जो आगम वचन है, वह सामान्यरूप से रागीपने की निमित्तता के कारण शुभाशुभ – दोनों कर्मों को अविशेषतया बन्ध के कारणरूप सिद्ध करता है और इसलिये दोनों कर्मो का निषेध करता है ।"

कर्म शुभ हो या अशुभ, दोनों में इष्टानिष्टपना होने के कारण सामान्यरूप से दोनों को बंध का कारण सिद्ध किया है तथा बंध का कारण होने से दोनों ही भावों का निषेध किया है ।

प्रश्नः—समय-समय पर शास्त्र में पुण्यभाव को धर्म का साधन भी तो कहा है न ?

उत्तर:—हां, कहा है, परन्तु वह तो निमित्त या सहचर का ज्ञान कराने के लिये व्यवहारनय से कहा है । आचार्य जयसेन की टीका में तथा

परमात्मप्रकाश में व्यवहार रत्नत्रय से निश्चय होता है – ऐसा आता है, परन्तु वह सब व्यवहार का कथन है। जिसे निश्चय रत्नत्रय स्वरूप धर्म प्रगट हुआ है, उसका बाह्य व्यवहार (व्यवहार रत्नत्रय) कैसा होता है? यह ज्ञान कराने के लिये शास्त्र में ऐसे कथन आते हैं, किन्तु पुण्यभाव रत्नत्रय का यथार्थ साधन नहीं है।

वास्तव में तो जिसे निश्चय धर्म प्रगट नहीं होता, उसे व्यवहार धर्म भी सच्चा नहीं होता। अकेले बाह्य व्यवहार का पालन करनेवालों को तो ४१३वीं गाथा की टीका में 'वे अनादिरूढ़, व्यवहार में मूढ़, प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय पर आरूढ़ न होते हुये, परमार्थ सत्य भगवान समयसार को नहीं देखते, अनुभव नहीं करते – ऐसा कहा है।

निश्चय पर आरूढ़ ज्ञानी अपनी भूमिकानुसार होनेवाले व्यवहार का मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहता है, कर्त्ता नहीं बनता। अहाहा.........! अपने रागरहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप का संचेतन एवं अनुभवन करने वाला ज्ञानी विरागी है और उसे जो पर्याय में राग है, उसे मात्र साक्षीभाव से जानता ही है, करता नहीं है। जबकि 'व्यवहार करने से धर्म होता है' – ऐसी मान्यता वाला अज्ञानी जीव व्यवहार में ही तल्लीन रहता है, अतः वह व्यवहारमूढ़ है, उसे धर्म की प्राप्ति नहीं होती।

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द देव आगमवचन को प्रसिद्ध करते हुये कहते हैं कि "राग की रुचि वाला रागी बंधता है और राग की अरुचि वाला विरागी नहीं बंधता।

"रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥"

आगम में ऐसा स्पष्ट कथन होने पर भी जो इस आगम के वचन को न समझे और 'पुण्य से धर्म होता है' – ऐसा माने अर्थात् 'भगवान के स्मरण, स्तुति, भक्ति, वंदना आदि करने से धर्म होता है' – ऐसा मानता रहे और ऐसा ही कथन करे, परिणमन करता रहे तो उसकी आगम पर भी श्रद्धा कहाँ है?

त्रिलोकी नाथ अरहंतदेव ने तो दिव्यध्वनि में ऐसा कहा है कि शुभ व अशुभ – दोनों ही भाव अविशेषरूप से बंधन के ही कारण हैं, इसलिये निषेध करने योग्य ही हैं। भाई! यह तो वीरों का मार्ग है। यह बात

सुनकर जिसका कलेजा कंपित हो जाय – ऐसे कायरों का यह काम नहीं है। कहा भी है :—

"वचनामृत वीतराग के, परम शान्तरस मूल।
औषधि जो भवरोग की, कायर को प्रतिकूल॥"

वीतराग के वचन शान्तरस से भरे हुये होते हैं तथा भवरोग का नाश करने के लिये परमौषधि के समान होते हैं, परन्तु जो शुभभाव में ही अनुरक्त हैं – ऐसे कायरों के लिये वे वीतरागी वचन प्रतिकूल पड़ते हैं।

शास्त्रों में एकान्तरूप से शुभभाव के प्रेमी को तो नपुंसक (पुरुषार्थ-हीन) कहा है, क्योंकि उसके द्वारा धर्म की प्रजा उत्पन्न नहीं होती। आत्मा की ४७ शक्तियों में एक वीर्य शक्ति है। जो स्वरूप की रचना करने में समर्थ हो, उसे वीर्य शक्ति कहते हैं। इस वीर्य शक्ति का कार्य आत्मा में केवल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय की रचना करना है। वीर्यशक्ति का कार्य राग की रचना करना नहीं है। अशुद्धता की रचना करने में जो वीर्य अटक जाता है, वह कायरता है, नपुंसकता है। 'मैं तो केवल राग का जानने-देखनेवाला ज्ञाता-दृष्टा हूँ, कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ' – यह भूलकर राग का कर्त्ता बनना कायरता है। जो ऐसे कर्तृत्व में अटकता है, उसे अवश्य बंध होता है।

कुछ लोग कहते हैं कि वीतराग की वाणी में यहाँ पुण्यभाव को जो बंध का कारण कहा है, वह तो निश्चय का कथन है; किन्तु इससे भिन्न व्यवहारनय के कथन से भिन्न साधन-साध्य भाव भी तो कहा है अर्थात् व्यवहार से पुण्य (शुभ) भाव को भी मोक्षमार्ग का साधन कहा है, क्या वह कथन जिनवाणी का नहीं है ?

उत्तर :—हां, कहा है, परन्तु भाई ! जहाँ भिन्न साधन-साध्य की चर्चा है, वहाँ उसका तात्पर्य यह है कि जिस सम्यग्दृष्टि जीव को स्वरूप की निर्मल दृष्टि के रूप में निश्चय सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है, उसको निश्चय सम्यक्त्व के साथ जो देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग रहता है, उस राग को निश्चय सम्यक्त्व का निमित्त व सहचर होने से उपचार से व्यवहार से सम्यक्त्व कहा है। वह राग सम्यग्दर्शन नहीं, चारित्र का दोष है। वह व्यवहार सम्यक्त्व रागरूप होने से है तो बन्ध का ही कारण, परन्तु उसे उपचार से मोक्ष का मार्ग कहा है। मोक्षमार्ग प्रकाशक के २५६ पृष्ठ पर बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया है—

"जिनमार्ग में कहीं तो निश्चय की मुख्यता से व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ – ऐसा ही है' ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहार की मुख्यता से व्याख्यान है उसे 'ऐसा नहीं है, बल्कि निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है' ऐसा जानना।"

अज्ञानी शरीर, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा और लौकिक ज्ञान के विकास की तीव्र रुचि (राग) में वर्तता है। वह इसी में अनादि से मर रहा है, अपना जीवन व्यर्थ बरबाद कर रहा है। उससे ज्ञानीजन कहते हैं कि भाई ! तू तो अनन्त आनन्द व शान्ति का घन पिण्ड है। उस त्रिकाली सत् स्वरूप निज आत्मा पर लक्ष्य नहीं होने से, राग की रुचि ने ही तुझे घायल कर दिया है। तुझे अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप निजात्मा के प्रति अरुचि है, द्वेष है – यही तेरे दुःख का मूल है।

श्री आनन्दघनजी ने भी यही कहा है – 'द्वेष अरोचक भाव' अर्थात् जिसे परमात्मस्वरूप पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा नहीं रुचता और राग रुचता है, उसे अपने आत्मा के प्रति द्वेष है। जो अज्ञानी स्वभाव के पक्ष में रहने के बजाय राग की रुचि के पक्ष में पड़ा है, उसे आचार्यदेव समझाते हैं कि भाई ! शुभ व अशुभ दोनों ही भाव बन्ध के कारण हैं। भगवान की वाणी में दोनों कर्मों का निषेध किया गया है। तू इस बात का भली प्रकार विचार कर, तेरा कल्याण अवश्य होगा।

इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(स्वागता)

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्
बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं
ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥१०३॥

श्लोकार्थः—[यत्] क्योंकि [सर्वविदः] सर्वज्ञदेव [सर्वम् अपि कर्म] समस्त (शुभाशुभ) कर्म को [अविशेषात्] अविशेषतया [बन्ध-साधनम्] बन्ध का साधन (कारण) [उशन्ति] कहते हैं, [तेन] इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि उन्होंने) [सर्वम् अपि तत् प्रतिषिद्धं] समस्त कर्म का निषेध किया है और [ज्ञानम् एव शिवहेतुः विहितं] ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है।

कलश १०३ पर प्रवचन

दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि रूप शुभभाव हों या हिंसा झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि अशुभ भाव हों – दोनों ही भाव विभाव भाव हैं तथा सर्वज्ञदेव ने इन दोनों ही भावों में कोई भी अन्तर किये बिना एक समान बन्ध का साधन कहा है। दोनों में एक भी धर्म व धर्म का साधन नहीं है, बल्कि दोनों ही समानरूप से बंध के ही साधन हैं।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने 'सर्वविद्' कहकर सर्वज्ञदेव की साक्षी पूर्वक यह कहा है कि समस्त कर्म अविशेषपने बन्धन के ही कारण हैं। बन्ध की अपेक्षा उनमें कोई अन्तर नहीं है। जगत को यह बात कुछ कठोर एवं कठिन लगती है, पर हम क्या करें ? एक समय में तीनकाल व तीनलोक को जाननेवाले सर्वज्ञदेव पुण्य-पाप के दोनों ही भावों को अविशेषरूप से बंध का साधन कहते हैं। जिस प्रकार विषय-कषाय के भाव बन्ध के कारण हैं, उसी प्रकार व्रत, तप, शील, ब्रह्मचर्यादि शुभभाव भी बन्ध के कारण हैं; क्योंकि दोनों ही कर्मचेतना हैं। इसलिये सर्वज्ञदेव ने सर्व कर्मों का निषेध किया है तथा ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है।

यह बात सामान्य जनों को सहज भाव से स्वीकृत नहीं होती, इसलिये आचार्यदेव ने सर्वज्ञ के आधार से यह बात कही है। वर्तमान में बहुत गड़बड़ी चल रही है। अधिकांश जन व्रत, तप, भक्ति आदि बाह्य क्रियाओं में ही धर्म मानकर अटके हैं। कहते हैं कि यही सब करते-करते मोक्षमार्ग व मोक्ष हो जायेगा, परन्तु भाई ! ये सब तो शुभभाव हैं, इन्हे सर्वज्ञ भगवान ने बंध का कारण कहा है।

"ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः" इस चौथे पद में आचार्यदेव ने पूरी तरह स्पष्ट कर दिया है, ज्ञान को ही अर्थात् ज्ञानस्वरूपी भगवान ज्ञायक को ही मोक्ष का हेतु कह दिया है।

प्रश्न :—'ज्ञानमेव' कहने से क्या एकान्त नहीं हो जायेगा ? ऐसा कहो न कि कथंचित् ज्ञान से एवं कथंचित् शुभराग से मोक्षमार्ग होता है।

उत्तर :—भाई ! कथंचित् ज्ञान से व कथंचित् राग से मोक्षमार्ग होता है - ऐसा स्याद्वाद वीतराग शासन में नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु ! तुम ज्ञानस्वरूप हो। तुम्हारे ज्ञानस्वरूप में पुण्य-पाप के विकल्प का अभाव है। ऐसे निर्मल, निर्विकल्प, ज्ञानस्वभावी आत्मा में एकाग्रता करके

ज्ञानमात्र भाव का अनुभव करना, चैतन्यरस का, वीतरागरस का, शान्तरस का अनुभव करना मोक्ष का कारण है। राग का अनुभव तो आकुलतामय दु:ख एवं बन्ध का कारण है, संसार का कारण है, इसलिये सर्वज्ञदेव का कथन है कि सर्व राग का निषध करके तू ज्ञान व आनन्दस्वरूप अनुभव के रस का सेवन कर! ज्ञानस्वरूप के अनुभव का रस अनाकुल आनन्द एवं वीतरागी शांति का रस है तथा यही एक मोक्ष का कारण है – ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है।

अब यहाँ 'व्यवहार साधक व निश्चय साध्य' – ऐसे प्रश्न को कहाँ अवकाश है? कहीं-कहीं पर व्यवहार को साधक कहा है, सो वह तो साधक दशा में (शुद्ध रत्नत्रय रूप) पर्याय के साथ व्यवहार – शुभराग कैसा होता है, इसका ज्ञान कराया है। यहाँ तो यह एक ही बात है कि 'ज्ञान एव विहितं शिव हेतुः' शुद्ध चैतन्य स्वरूप म मशगूल होकर केलि करना ही मोक्ष का कारण है। अहा वीतराग सर्वज्ञदेव जैन परमेश्वर की आज्ञा क्या है? आगम में किस बात का निषेध किया है और क्या करने योग्य दर्शाया है – इस बात की लोगों को खबर ही नहीं है।

चारों अनुयागों में एक ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा गया है। शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप भगवान आत्मा में ही एकाग्र होकर श्रद्धान-ज्ञान व रमणता प्रगट करना ही मोक्षमार्ग है। स्वभाव से तो आत्मा स्वय त्रिकाल ज्ञानस्वरूप ह हो, किन्तु वर्तमान मे उस त्रिकाली ज्ञानस्वरूप आत्मा में एकाग्रता करना हो 'ज्ञानमेव' का अर्थ है।

'ज्ञानमेव' कहकर आचार्यदेव ने यहाँ वर्तमान पर्याय में शुद्ध रत्नत्रय-रूप होने की बात की है। भगवान आत्मा जो त्रिकाली ध्रुव ज्ञानस्वभावी वस्तु है, उसमें एकाग्रता करना मोक्ष का कारण है। अशुभ की भाँति शुभ भी बध का कारण होने से धर्म का कारण नही हों सकता, अतः मोक्षमार्ग में उसका निषव किया गया है। स्व के भान विना एकान्त से व्यवहार करते-करते निश्चय धर्म हो जायेगा – ऐसी जिसे हठ है, वे भारी भ्रमणा में हैं।

अरे! शिवपुरी का राजा शिवभूप भगवान आत्मा राग! में अटक गया। अहाहा·······! ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति आदि अनन्त गुणों का भंडार गुणनिधान भगवान आत्मा अपनी निधि को भूलकर राग में रति करता है, राग को अपना मानता है, धर्मरूप मानता है; परन्तु भाई!

राग शुभ हो या अशुभ – दोनों ही पर हैं, पुद्गल स्वभाव हैं, चैतन्यस्वभाव नहीं हैं तथा पर को अपना मानना तो चोरी है।

पण्डित बनारसीदासजी ने कहा है :—

'सत्ता की समाधि में विराज रहै सोई साहू।
सत्ता तैं निकसि और गहै सोई चोर है।।"

राग को, पर को अपना माननेरूप चोरी के अपराध की सजा चारगति की जेल है।

भगवान सर्वज्ञदेव एवं आचार्य भगवन्तों ने वीतरागी अतीन्द्रिय आनन्द की छापवाले प्रचुर स्वसंवेदन की दशा में रहनेवाले भावलिंगी मुनिवरों को मोक्षमार्गी एवं उस स्वसंवेदन को मोक्ष मार्ग कहा है। उनके पंचमहाव्रत के व्यवहार रत्नत्रय के राग को मोक्षमार्गी नहीं कहा। एक ज्ञान को ही मोक्ष का हेतु कहा है। यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ त्रिकाली ज्ञान-स्वभाव या द्रव्यस्वभाव नहीं है, परन्तु उस त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में एकाग्रता करने से प्रगट हुई शुद्ध रत्नत्रयरूप चैतन्य की परिणति को यहाँ मोक्ष का साधन कहा है।

प्रश्न :—यदि ऐसा है तो फिर १५-२५ लाख के बड़े-बड़े जिन-मन्दिरों, पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं, गजरथों, तीर्थयात्राओं एवं स्वाध्यायादि की भी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर :—भाई ! ये सब बाह्य कार्य-कलाप तो अपने-अपने कारणों से होते हैं। क्या आत्मा इन कार्यों को कर सकता है ? जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ भी फेर-फार नहीं कर सकता, तो आत्मा मन्दिर आदि कैसे बना सकता है ? जीव को तो मन्दिर बनने के काल में शुभ राग होता है उससे उसे पुण्य बंध होता है, धर्म नहीं। वह शुभराग मोक्ष का साधन नहीं है। साधक को भी बीच में ऐसे शुभभाव आते अवश्य हैं। भक्ति, पूजा प्रतिष्ठा आदि करने के भाव ज्ञानी को भी आते हैं, परन्तु वे बन्ध के ही कारण हैं, धर्म के साधन नहीं। उपचार से इन्हें धर्म का साधन कहा जाता है, यह जुदी बात है। कहने में कोई दोष नहीं है, परन्तु वैसा मानना मिथ्यात्व है।

शुभाशुभभाव राग है, रोग है, आकुलता है, बन्ध का कारण है तथा ज्ञान ही एकमात्र मोक्ष का कारण है। निर्मलानन्द शुद्ध चिदानन्दस्वरूप

भगवान आत्मा में एकाग्र होने पर जो शुद्ध चैतन्यमय निर्मल परिणति होती है, वह ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। अहाहा.........! आचार्यों के कथन को यदि यथार्थ समझ ले तो निहाल हो जाय।

बड़े-बड़े शास्त्रों की बड़ी-बड़ी बातें करे और परमार्थ प्रगट न करे तो इससे क्या लाभ है? जिससे जन्म-मरण न मिटे, वह बात बाहर से कितनी ही बड़ी क्यों न दिखे, उसकी मोक्षमार्ग में कोई कीमत नहीं है।

अन्तर में भगवान आत्मा शिवपुरी का राजा चैतन्यदेव अपनी अनन्त गुणों की समृद्धि से शोभित हो रहा है। जो अपने चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होकर "राजते" शोभित होता हैं, वही राजा है।

अपने ज्ञान व आनन्द स्वरूप में एकाग्र होना ही ज्ञान चेतना है। जो शक्तिरूप से ज्ञान त्रिकाल विद्यमान है, उसे पर्याय में प्रगट करने का नाम ज्ञान चेतना है और इसे ही भगवान ने मोक्ष का साधन कहा है।

जब कि समस्त कर्मों का निषेध कर दिया गया, तब फिर मुनियों को किसकी शरण रही सो अब कहते हैं :—

(शिखरिणी)

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विन्दन्त्येते परममममृतं तत्र निरताः ॥१०४॥

श्लोकार्थ :—[सुकृतदुरिते सर्वस्मिन् कर्मणि किल निषिद्धे] शुभ आचरणरूप कर्म और अशुभ आचरणरूप कर्म — ऐसे समस्त कर्मों का निषेध कर देने पर [नैष्कर्म्ये प्रवृत्ते] निष्कर्म (निवृत्ति) अवस्था में प्रवर्तमान, [मुनयः खलु अशरणाः न सन्ति] मुनिजन कहीं अशरण नहीं हैं; [तदा] (क्योंकि) जब निष्कर्म अवस्था प्रवर्तमान होता है, तब [ज्ञाने प्रतिचरितम् ज्ञानं हि] ज्ञान में आचरण करता हुआ — रमण करता हुआ — परिणमन करता हुआ ज्ञान ही [एषां] उन मुनियों को [शरणं] शरण है; [एते] वे [तत्र निरताः] उस ज्ञान में लीन होते हुए [परमम् अमृतं] परम अमृत का [स्वयं] स्वयं [विन्दन्ति] अनुभव करते हैं — स्वाद लेते हैं।

भावार्थ :—किसी को यह शंका हो सकती है कि जब सुकृत और दुष्कृत – दोनों का निषेध कर दिया गया है, तब फिर मुनियों को कुछ भी करना शेष नहीं रहता, इसलिये वे किसके आश्रय से या किस आलम्बन के द्वारा मुनित्व का पालन कर सकेंगे ? आचार्यदेव ने उसके समाधानार्थ कहा है कि समस्त कर्मों का त्याग हो जाने पर ज्ञान का महा शरण है। उस ज्ञान में लीन होने पर सर्व आकुलता से रहित परमानन्द का भोग होता है, जिसके स्वाद को ज्ञानी ही जानते हैं। अज्ञानी कषायी जीव कर्मों को ही सर्वस्व जानकर उन्हीं में लीन हो रहे हैं, वे ज्ञानानन्द के स्वाद को नहीं जानते।

कलश १०४ पर प्रवचन

इस कलश में शंका-समाधान की शैली में यह कहा गया है कि जब समस्त शुभाशुभ कर्मों का निषेध कर दिया गया है, तब फिर मुनियों को किसकी शरण रही ? शुभाशुभ का निषेध करने से क्या वे अशरण नहीं हो जावेंगे ? अशुभ भाव का तो उनके अस्तित्व ही नहीं है, शुभभाव भी बन्ध का कारण है, धर्म नहीं है – ऐसा कहकर शुभभाव का भी यहाँ निषेध कर दिया गया है। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि व्यवहार धर्म का भी निषेध कर दिया है, तो फिर मुनिराज किसका आलंबन करें ?

शिष्य के इस प्रश्न का समाधान करते हुये आचार्यदेव इसी कलश में आगे कहते हैं कि मुनिवर शुभाशुभ समस्त कर्मों का निषेध करके निष्कर्म अवस्था में प्रवृत्त होते हैं। शुभाशुभ कर्म रहित निष्कर्म अवस्था को प्राप्त होकर मुनिवर शुद्धोपयोगरूप चैतन्य की निर्मल अवस्था में प्रवृत्ति करते है। वे रागरूप कर्म से निवृत्त होकर ज्ञानचेतनारूप कर्म में प्रवृत्त होते हैं। उन्हें शुद्ध चैतन्य का शरण है, अतः वे अशरण नहीं हैं।

यह बात लौकिक जनों की समझ में नहीं आती, उनके चित्त में आसानी से नहीं बैठती, इसकारण बेचारे वे अनंतकाल से शुभाशुभ कर्म में ही अटके हैं; परन्तु भाई ! शुभाशुभ भाव कोई अपूर्व वस्तु नहीं है। ये भाव तो निगोद के जीवों को भी नित्य हुआ करते हैं।

कन्द-मूल की एक राई बराबर टुकड़े में भी असंख्य औदारिक शरीर होते हैं और प्रत्येक शरीर में शक्ति अपेक्षा भगवान स्वरूप चैतन्य स्वभावमय अनंत निगोदिया जीव रहते हैं। यद्यपि वहाँ उन्हे देव-शास्त्र-गुरु

का योग नहीं है तथा दानादि शुभ व्यवहार भी संभव नहीं है, तथापि प्रत्येक जीव को क्षण-क्षण में अशुभ-शुभ भाव हुआ करते हैं। ऐसी शुभाशुभ भावरूप कर्मधारा उनके निरन्तर चलती रहती है, अतः शुभाशुभ भाव किसी को कोई नवीन वस्तु नहीं है।

यदि शक्करकन्द के ऊपर की लाल छाल का लक्ष्य छोड़ दें तो अन्दर पूरा का पूरा लाल छाल से जुदा शक्कर जैसी मिठास वाला शक्करकन्द ही है, उसीप्रकार भगवान आत्मा के ऊपर की शुभाशुभभाव रूप वृत्ति (पर्याय) का लक्ष्य छोड़ दें तो अन्दर में शुभाशुभ भाव से भिन्न चैतन्यस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द के रस से भरा हुआ अमृत का कन्द ही है। जैसा शक्करकन्द मिठास का कन्द है, वैसा ही भगवान आत्मा चिदानन्द का कन्द है। इसप्रकार शुभाशुभकर्म से रहित होने पर मुनिवर अशरण नहीं है, बल्कि उन्हें चिदानन्दकन्दस्वरूप भगवान आत्मा शरण है – ऐसा यहाँ कहा गया है।

देखो, यहाँ 'सुकृत' अर्थात् शुभाचरणरूप कर्म की बात कहकर दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभभाव का तथा 'दुरित' कहकर हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि अशुभभभावों का निषेध करके मुनिवरों को निष्कर्म कहा है। ऐसी निष्कर्म अवस्था को प्राप्तकर मुनिवर शुद्धभाव में अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप में प्रवृत्ति करते हैं। अहो! ऐसा वीतराग मार्ग परम अद्भुत एवं अलौकिक है। अन्य सभी मार्ग अमार्ग हैं, विपरीत मार्ग हैं। यही एक वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर की वाणी द्वारा प्रगट हुआ सम्यक् मोक्षमार्ग है।

अहाहा………! मुनिवरों की स्वयं शुद्ध चैतन्यघन भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दरस-वीतरागरस-शान्तरस में प्रवृत्ति होती है। यह मुनिवरों का अन्तरंग प्रवर्तन है, यही वस्तुतः मुक्ति का मार्ग है। पंच महाव्रत एवं नग्नता मुनिपना नहीं है। यह तो मुनिपने का सहचारी जड़रूप बाह्य लिंग है।

जिसका चित्त ऐसे परम-पावन वीतराग मार्ग को छोड़कर शुभाशुभ भाव में रमता है, वह एक प्रकार से विषयों में ही रमता है, क्योंकि इसी ग्रन्थ की ३१वीं गाथा में साक्षात् अरहंत भगवान और भगवान की वाणी को भी इन्द्रियों के विषय में सम्मिलित किया है। वहाँ कहा है कि पाँचों द्रव्येन्द्रियों, खण्ड-खण्डरूप भावेन्द्रियों एवं इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों (स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब एवं देव-शास्त्र-गुरु) को जीतकर अर्थात् इन सबका

लक्ष्य छोड़कर जो अपने शुद्ध तन्यमय भगवान आत्मा का अनुभव करता है, वह जितेन्द्रिय जिन है। देखो, यह चैतन्य की प्रवृत्तिरूप निष्कर्म प्रवर्तन ही मुनियों को शरण है।

इसप्रकार निष्कर्म अवस्था में प्रवर्तन करते हुये भी मुनिगण अशरण नहीं है। उन्हें शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप निज आत्मा की शरण प्राप्त है। उनकी राग की शरण छूटी तो भगवान आत्मा की शरण उन्हें प्राप्त हो गई। दर्शन-पूजन में जो 'चत्तारि शरणं' आदि बोला जाता है, वे तो व्यवहार की बाते हैं। यहाँ तो निश्चय शरण की बात है। अरहंतादि को शरण में जाने से तो दर्शन-पूजन-भक्तिरूप शुभराग के ही नाना विकल्प उठते हैं और ये विकल्प शुभराग होने से बंध के ही कारण हैं, अतः सर्वज्ञ-देव द्वारा सम्पूर्ण राग का ही मोक्षमार्ग में निषेध किया गया है।

यह बात कोई साधारण बात नहीं है, अनन्त केवलियों की दिव्य-ध्वनि द्वारा कही हुई बात है एवं साक्षात् सीमन्धर स्वामी की दिव्यध्वनि से सुनकर श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव द्वारा लिखी गई है। वे यहाँ कहते हैं कि अशुभ आचरण की तरह शुभ आचरणरूप कर्म का भी निषेध करनेवाले मुनिगण अशरण नहीं हैं।

शुभाचाररूप पंचाचार – ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार वीर्याचार का निषेध हो जाने पर मुनिगण बाह्याचार रहित हो जाने से अशरण नहीं हो जाते, परन्तु अन्दर मेंजो त्रिकाल सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा विराजमान है, उसके ज्ञान-श्रद्धान एवं स्थिरता में आचरण करते हैं, इच्छा निरोधरूप आनन्द में आचरण करते हैं तथा वीर्य की शुद्धता की रचना में आचरण करते हैं। इसप्रकार मुनिजन अतीन्द्रिय आनन्द की रमणतारूप पंचाचार पालते हैं। अतः निष्कर्म अवस्था में भी मुनिजन स्वरूप के आचरणरूप पंचाचार के पालक होने से अशरण नही हैं।

अहाहा..........! मुनिदशा अलौकिक होती है। मुनिवर बाह्य में वस्त्र से रहित और अन्दर के राग के विकल्प से रहित शुद्ध चैतन्य के ध्यान में मग्न होकर आनन्दरूपी अमृत के घूंट पीते हैं। जैसे कोई गन्ने का मीठा रस गटक-गटक कर पीता है, उसीप्रकार धर्मी पुरुष अन्तर में अती-न्द्रिय आनन्द का रस गटक-गटक कर पीते हैं। उन्हें वहाँ से बाहर निकलना अच्छा नहीं लगता। अहो! धन्य वह चारित्रदशा! इसे ही यहाँ निष्कर्म अवस्था कहा है।

अब कहते हैं कि जब ऐसी निष्कर्म दशा होती है, तब ज्ञान में आचरण करता हुआ, रमण करता हुआ, परिणमन करता हुआ ज्ञान ही उन मुनियों को शरण है।

देखो, इसे कहते हैं आचरण! ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा में चरना-रमना ही यथार्थ आचरण है और निजस्वरूप की शरण में जाना ही यथार्थ शरण है। जिसके बाद कोई अन्य आचरण न करना पड़े एवं किसी अन्य की शरण में न जाना पड़े, वही सच्चा आचरण व वही सच्ची शरण है।

शुभाशुभभावरूप आचरण ये तो जहर है, क्योंकि वह अमृतस्वरूप भगवान आत्मा से विरुद्ध है और बन्ध का साधक है। इसलिये मुनिजन शुभाचरणरूप कर्म का निषेध करके अन्तर में निर्विकल्प आनन्दरूपी अमृत का वेदन करते हैं। यही मुनियों का सच्चा आचरण है।

अहो! मुनि की चारित्रदशा, अनुभव की स्थिरतारूप दशा कोई अलौकिक है। टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव ने नियमसार के २५३ वें कलश में तो यहाँ तक कह दिया है कि अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते-रमते हुये मुनि में व सर्वज्ञ वीतरागदेव में जो अन्तर देखता है, वह जड़ है। अहा! मुनि की ऐसी वीतरागी आनन्दमयी चारित्रदशा है। समयसार नाटक में बनारसीदासजी ने कहा है कि "मुनिजन अपने आनन्द की दशा में रमते हैं, वही उनका मोक्षमार्गरूप आचरण है, परन्तु उन्हें जो पंच महाव्रतादि का राग उठता है, वह जगपन्त है, संसारमार्ग है। भाई! चारित्रदशा तो अन्तर की चीज है, बाहर से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि भगवान चैतन्य रत्नों से भरा रत्नाकर (समुद्र) है। इसमें एकाग्र होकर आचरण करते हुये, रमणता करते हुये, वीतरागी आनन्द का अनुभव करनेवाले मुनियों को अपने आत्मा की शरण है। राग का निषेध करके अन्तर में डूबनेवाले मुनिवरों को निज शुद्धात्मा ही शरण है। पंचपरमेष्ठी के शरण की बात कही है, वह तो व्यवहार से निमित्त की अपेक्षा से "शरण" की बात है।

वीतराग का मार्ग निवृत्ति का मार्ग है। तथापि शुद्धात्मा में प्रवृत्ति की अपेक्षा से इसे प्रवृत्ति मार्ग भी कहा जाता है। स्वयं शुद्ध चिदानन्द-स्वरूप, शिवस्वरूप प्रभु आत्मा शिवपुरी का राजा है। इसमें आचरण करते हुये मुनिवरों को एक ज्ञान की शरण है। यहाँ ज्ञान का अर्थ शास्त्र-

ज्ञान नहीं है। शास्त्रज्ञान तो विकल्परूप है। यहाँ तो "ज्ञान में आचरण करते हुये" का अर्थ "स्वभाव में आचरण करते हुये, रमण करते हुये" किया है। यहाँ ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये कि यह एकान्त कथन किया है। एकान्त है, परन्तु यह सम्यक्-एकान्त है। तात्पर्य यह है कि राग शरण नहीं है।

अब कहते हैं कि उस ज्ञानस्वभाव में लीन होता हुआ साधक आत्मा स्वयं परम अमृत का पान करता है। "स्वयं" अर्थात् राग की अपेक्षा बिना, विकल्प की अपेक्षा बिना साधक परम अमृत का आस्वाद लेता है। पहले अभ्यासरूप व्यवहार रत्नत्रय का शुभराग था, उससे निश्चय रत्नत्रयरूप अमृत का स्वाद आया हो ऐसा नहीं है। कैसा गजब का कलश है! इस छोटे से एक ही कलश में मानो जिनवाणी का सब सार भर दिया है।

संसारी प्राणी बाहरी प्रवृत्तियों में इतना अधिक उलझा रहता है कि उसे संसार के अशुभ भावो से ही निवृत्ति नहीं मिलती। पूरे दिन धंधा-व्यापार करने में, स्त्री पुत्रादि परिवार का भरण-पोषण करने में, सबको राजी रखने में, मेल-जोल बढ़ाने में ही उलझा रहता है। कदाचित् पाँच-पचास लाख की सम्पत्ति हो जाय तो फिर तो पूछना ही क्या है? इन्हीं सब पाप कार्यो में मग्न होकर फूला-फूला फिरता है। इसमें तो इसे शुभभाव का भी अवसर नहीं है तो आत्मा के हित के लिए निवृत्ति तो कहाँ से मिले?

यहाँ तो इससे भी आगे यह कह रहे हैं कि देवदर्शन, गुरुपासना, दान, तप, संयम, स्वाध्याय आदि जो शुभभावरूप आचरण है, वह भी राग है, बन्ध का कारण है, संसार का कारण है तथा जो इन्हें धर्मरूप जानता-मानता है, वह भी संसार परिभ्रमण के ही पंथ में है।

प्रश्न :—सम्यग्दृष्टि के भी तो ये देवपूजा-गुरुपास्ति आदि षट् आवश्यक कर्म होते हैं?

उत्तर :—हाँ, जब-तक पूर्ण वीतराग न हो जावे, तब तक ज्ञानी को भी ये सब होते हैं, परन्तु उन्हें वह बन्ध का कारण जानता है।

अहाहा..........! मुनिवर तो परम अमृत का स्वाद लेते हैं। घी का और शक्कर का स्वाद तो जड़ का स्वाद है, ये कोई चैतन्य का स्वाद नहीं है और यह जड़ का स्वाद जीव को आता भी नहीं है, क्योंकि जीव तो रस, रूप, गंध व स्पर्श से सर्वथा भिन्न वस्तु है। अरस, अरूपी आत्मा

को रूप, रस वाले अजीव का स्वेद नहीं आता। हाँ, रूप, रस को जानते हुये जीव को जो ऐसा रागात्मक ज्ञान होता है कि – "यह ठीक है, यह ठीक नहीं है" बस जीव उस राग का ही स्वाद लेता है, रूप-रस का नहीं। इसी प्रकार स्त्री के संयोग में स्त्री के विषय का स्वाद जीव को नहीं आता; क्योंकि स्त्री का शरीर तो हाड़-माँस-रूधिर का बना हुआ जड़ है, अजीव है; परन्तु 'यह ठीक है' – ऐसा जो राग होता है, उस राग का स्वाद उसे आता है, किन्तु वह राग का स्वाद जहर का स्वाद है, दु:खरूप है। धर्मी को निज आत्मा के आश्रय से जो परमआनन्द का स्वाद आता है, वही सुख का स्वाद है।

यहाँ जो 'परम अमृत का अनुभव करते हैं' –ऐसा कहा है, वह मुनि की प्रधानता से कहा है; क्योंकि यहाँ प्रचुर स्वसंवेदन की बात करनी है। पांचवीं गाथा में आता है कि मुनियों को प्रचुर स्वसंवेदन होता है। चौथे गुणस्थान में संवेदन है, परन्तु वह जघन्य है, अल्प है। पांचवें गुणस्थान में उससे विशेष आनंद है तथा छट्ठे गुणस्थान में मुनिराज को प्रचुर स्व-संवेदन है। जितना स्व-संवेदनरूप आनन्द का स्वाद है, उतना आचरण है।

अहो ! चिदानन्दमय त्रिलोकीनाथ भगवान आत्मा में एकाग्र होते, रमते-जमते जो परम अमृतरूप आनन्द का स्वाद आता है, उसका नाम आचरण है, और उसी का नाम मुनिपना है। सर्वज्ञदेव की दिव्य देशना अर्थात् परमागम में ऐसा कथन आया है।

कलश १०४ के भावार्थ पर प्रवचन

"जब सुकृत और दुष्कृत – दोनों का ही निषेध कर दिया गया है, तब फिर मुनियों को कुछ भी करना शेष नहीं रहता, फिर वे किसके आश्रय से या किस आलम्बन द्वारा मुनित्व का पालन कर सकेंगे ?";

देखो, यहाँ यह प्रश्न है कि जब हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा क्रोधादि दुष्कृत अर्थात् अशुभ आचरण तथा दया, दान, व्रत, तप, शील, संयमादि सुकृत अर्थात् शुभ आचरण – सब का ही निषेध कर दिया गया है, तो फिर मुनियों को करने को रहा ही क्या ? 'पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि अट्ठाइस मूलगुणरूप शुभाचरण धर्म नहीं है' – ऐसा कहकर जब मूलगुणों का ही निषेध कर दिया तो फिर मुनिजन किसके आश्रय से अपने मुनिधर्म का पालन करेंगे ?

इस प्रश्न का समाधान करते हुये आचार्यदेव ने प्रस्तुत कलश में कहा है कि – "सर्व शुभाशुभ कर्मों का त्याग हो जाने पर भी मुनिजनों को ज्ञान महाशरणभूत है" – अपनी भगवान आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वरूप परमात्मस्वरूप है, उसमें लीन होना ही ज्ञान की महाशरण है।

अट्ठाइस मूलगुणरूप शुभाचरण पुण्यबंध का कारण है, धर्म तो इससे भिन्न चैतन्यमूर्ति, सहजानन्दस्वभावी परमपदार्थ आत्मा के आश्रय से प्रगट होता है; अतः वही एकमात्र परम शरणभूत है। मुनिवर जिस निर्मल परिणति द्वारा स्वभाव की दृष्टि व लीनता करते हैं, उस वीतराग परिणति को एकमात्र शरण त्रिकाल शुद्ध आत्मद्रव्य ही है। त्रिकाली ध्रुव आत्म वस्तु, जो सच्चिदानन्द, पूर्णानन्द, सहजानन्द, अकृत्रिम, सहजात्म-स्वरूप, अविनाशी, अनंत गुणधाम सदा ही अपने अन्दर विद्यमान है, उसका आश्रय करके उसी में लीन होना ही सच्ची शरण है।

भाई ! यह वीतराग का मार्ग लोक पद्धति से सम्पूर्णतः भिन्न है। सत् अर्थात् शाश्वत ज्ञान व आनन्द जिसका स्वभाव है – ऐसा आत्मा ही मुनियों को परम शरण है। उस आत्मा के आश्रय से मुनियों को जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप अनाकुल आनन्द का स्वाद आता है, वही मुनिधर्म है।

धर्म तो उसे ही कहते हैं, जिसमें आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दरस का वेदन होता है। शुभाशुभभाव तो कर्मरस है, इसका स्वाद जहर का स्वाद है। शुद्ध की अपेक्षा से दोनों जहर हैं। अशुभ तीव्र जहर है व शुभ मंद जहर है, किन्तु हैं दोनों ही जहर, इसलिये दोनों का ही निषेध किया गया है। एक शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप आत्मा में लीनता करना ही अमृतस्वरूप का स्वाद है और यही धर्म है।

आगे १५१ वीं गाथा में भी आयेगा कि – परमार्थ परम पदार्थ, अनादि-अनंत, सच्चिदानंदमय नित्यानन्दमय प्रभु आत्मा ही शरण है। इसमें तन्मय हो जाने पर जो आनन्दरस का अनुभव आता है, वह अनुभव ही परमार्थ मुनिपना है।

दो हजार वर्ष पूर्व इस शब्दरूप शास्त्र के कर्त्ता दिगम्बराचार्य भगवान कुन्दकुन्द ने तथा एक हजार वर्ष पूर्व इस ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने मुनि का स्वरूप दर्शाते हुये लिखा है पुण्य व पाप के विकल्पों का निषेध करते हुये जिन्हें अपने शुद्धचैतन्यस्वरूप के अतीन्द्रिय

आनन्दरस का जघन्य स्वाद आता है, वे सम्यग्दृष्टी हैं और प्रचुर स्वसंवेदन है, वे मुनि हैं। मुनिपने में अपनी निर्मल परिणति को वस्तु स्वभाव का शरण रहता है तथा यह निर्मल पर्याय भी शरण है।

प्रश्नः—स्वभाव व पर्याय दोनों को शरण किस अपेक्षा से कहा है?

उत्तरः—निर्मल पर्याय भगवान आत्मा की शरण ग्रहण करता है। इससे तो आत्मा को शरण कहा तथा राग शरण नहीं है, इस अपेक्षा निर्मल परिणति को शरण कहा जाता है। वास्तव में तो पर्याय को एक ध्रुव आत्मा ही शरण है।

गाथा ७१ में भी आ चुका है कि वस्तु का स्वभावरूप परिणमन भी वस्तु है। भगवान आत्मा का ज्ञान व आनन्द स्वभाव है, उसका स्वभावरूप परिणमन भी वस्तु है। वहाँ कहा है कि 'इस जगत में जो वस्तु है, वह स्वभावमात्र ही है। तथा 'स्व' का अनुभवन (परिणमन) होना, वह स्वभाव है। क्योंकि 'स्व' के परिणमन में स्वभाव का भान हुआ कि वस्तु ऐसी है; इसलिये स्व का परिणमन स्वभाव है। "इसलिये निश्चय से ज्ञान का होना, परिणमन होना वह आत्मा है।" देखो! शुद्धरूप से परिणमना ही आत्मा है – ऐसा कहा है। बापू! बात बहुत सूक्ष्म है, किन्तु जनम-मरण रहित तो एक इस वीतरागभाव से ही होते हैं। यह वीतरागभाव अपूर्व है। अरे! जिसे यह सुनने को नहीं मिलता, वे विचार क्या करें?

जिसके ज्ञान में रागादि जड़ वस्तुओं का भान होता है, वह जाननेवाला चेतन्य महाप्रभु है। उसमें जो पर का ज्ञान होता है, वह ज्ञान अपना स्वरूप है, पर को जाननेवाला ज्ञान कहीं पररूप नहीं हो जाता। जो ऐसा समझता नहीं है, वह विचार क्या करे? स्वभाव से विरुद्ध पुण्य-पाप के भावरूप से परिणमता है, क्रोधादिभावरूप से परिणमता है। राग की रुचि व निज चैतन्यरूप की अरुचि ही क्रोध है। अरेरे! ऐसे क्रोधादि रूप से परिणमता हुआ जीव चारगतिरूप संसार में ही अनंतकाल तक परिभ्रमण करता है। आत्मा के स्वभावरूप (ज्ञानस्वभावरूप) परिणमना, होना ही आत्मा है और यही शरण है, धर्म है।

यहाँ कहते हैं कि "ज्ञान (आत्मा) में लीन होने पर सर्व आकुलता से रहित परमानन्द (परमामृत) को भोगता है।" यही सच्चा मुनिपना है। इसका स्वाद ज्ञानी ही जानते हैं, अज्ञानी का उसकी खबर नहीं है।

अहाहा ....! पूर्णानन्द का नाथ आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द के रस से भरपूर है। इस आनन्दकन्द स्वरूप में रमना – लीन होना और परम आनन्दमय परिणति का भोग करने का नाम कर्म व मुनिपना है, धर्म है, चारित्र है, मोक्ष का मार्ग है। भाई! संसार में मुक्ति होने का एक यही उपाय है। यह लोगों को कठिन लगता है, इसलिये हो-हल्ला करते हैं कि "यह कथन तो मात्र निश्चय का है," परन्तु भाई! निश्चय ही सत्य है, यथार्थ है, आश्रय करने योग्य है; व्यवहार तो उपचार है, लौकिक कथन-मात्र है। द्रव्यसंग्रह में आया है कि व्यवहार लौकिक है और भगवान आत्मा परमार्थ निश्चय वस्तु है लोकोत्तर है।

आत्मा चैतन्य महाप्रभु चिदानन्द की गांठ है। जैसे रत्न की गांठ खोले तो रत्न ही निकलते हैं, उसीतरह ज्ञानानन्दरत्न की गांठ स्वरूप प्रभु आत्मा को खोले तो अर्थात् राग से एकत्व छोड़कर स्वभाव में एकत्व करे तो उसमें से ज्ञान व आनन्द प्रगट होता है। इस आनन्द के स्वाद को अज्ञानी नहीं जानता। कषायभावों में लीन कषायी जीव अकषायस्वभावी ज्ञानानन्द स्वरूप को क्या जाने? जैसे मिर्ची का जीव मिर्ची में घर बनाकर मिर्ची में ही रहता है और उसी में तन्मय हो जाता है। उसी-प्रकार अज्ञानी-कषायी जीव कषायों में घर बनाकर कषायभावों में ही रहते हैं तथा स्वयं का आत्मा अर्थात् आप स्वयं जो ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसकी उसे खबर नहीं है। वह तो पुण्य क्रियाओं में ही अपना सर्वस्व मानकर उसी में लीन रहता है। इसकारण उसे ज्ञानानन्द का स्वाद नहीं आता।

"...तिनकी अवस्था निरावलम्ब नांही"

सिष्य कहै स्वामी तुम करनी असुभ सुभ,
कीनी है निषेध मेरे संसै मन मांही है।
मोखके सधैया ग्याता देसविरती मुनीस,
तिनकी अवस्था तौ निरावलंब नांही है॥
कहै गुरु करमकौ नास अनुभौ अभ्यास,
ऐसौ अवलम्ब उनहीकौ उन पांही है।
निरुपाधि आतम समाधि सोई शिवरूप,
और दौर धूप पुदगल परछांही है॥८॥

– समयसार नाटक, पुण्य-पाप एकत्व द्वार

अथ ज्ञानं मोक्षहेतुं साधयति—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ।।१५१।।

परमार्थः खलु समयः शुद्धो यः केवली मुनिर्ज्ञानी ।
तस्मिन् स्थिरताः स्वभावे मुनयः प्राप्नुवंति निर्वाणम् ।।१५१।।

ज्ञानं हि मोक्षहेतुः, ज्ञानस्य शुभाशुभकर्मणोरबंधहेतुत्वे सति मोक्षहेतुत्वस्य तथोपपत्तेः । तत्तु सकलकर्मादिजात्यंतरविविक्तचिज्जातिमात्रः परमार्थ आत्मेति यावत् । स तु युगपदेकीभावप्रवृत्तज्ञानगमनमयतया समयः, सकलनयपक्षासंकीर्णैकज्ञानतया शुद्धः, केवलचिन्मात्रवस्तुतया

अब यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान मोक्ष का कारण है :—

परमार्थ है निश्चय, समय, शुध, केवली, मुनि, ज्ञानि है ।
तिष्ठे जु उसहि स्वभाव मुनिवर, मोक्षकी प्राप्ती करें ।।१५१।।

गाथार्थ :—[**खलु**] निश्चय से [**यः**] जो [**परमार्थः**] परमार्थ (परम पदार्थ) है, [**समयः**] समय है, [**शुद्धः**] शुद्ध है, [**केवली**] केवली है, [**मुनि**] मुनि है, [**ज्ञानी**] ज्ञानी है, [**तस्मिन् स्वभावे**] उस स्वभाव में [**स्थिरताः**] स्थित [**मुनयः**] मुनि [**निर्वाणं**] निर्वाण को [**प्राप्नुवति**] प्राप्त होते हैं ।

टीका :—ज्ञान मोक्ष का कारण है, क्योंकि वह शुभाशुभ कर्मों के बन्ध का कारण नहीं होने से उसके इसप्रकार मोक्ष का कारणपना बनता है । वह ज्ञान, समस्त कर्म आदि अन्य जातियों से भिन्न चैतन्य जातिमात्र परमार्थ (परम पदार्थ) है – आत्मा है । वह (आत्मा) एक ही साथ एकरूप से प्रवर्तमान ज्ञान और गमन (परिणमन) स्वरूप होने से समय है, समस्त नयपक्षों से अमिश्रित एक ज्ञानस्वरूप होने से शुद्ध है, केवल चिन्मात्र वस्तुस्वरूप होने से केवली है; केवल मननमात्र (ज्ञानमात्र)

केवली, मननमात्रभावतया मुनिः, स्वयमेव ज्ञानतया ज्ञानी, स्वस्य भवनमात्रतया स्वभावः, स्वतश्चितो भवनमात्रतया सद्भावो वेति शब्दभेदेऽपि न च वस्तुभेदः ।

भावस्वरूप होने से मुनि है, स्वयं ही ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञानी है, 'स्व' का भवनमात्रस्वरूप होने से स्वभाव है अथवा स्वतः चैतन्य का भवनमात्रस्वरूप होनेसे सद्‌भाव है (क्योंकि जो स्वतः होता है वह सत् स्वरूप ही होता है) । इसप्रकार शब्दभेद होने पर भी वस्तुभेद नहीं है (यद्यपि नाम भिन्न-भिन्न हैं तथापि वस्तु एक ही है) ।

भावार्थ :—मोक्ष का उपादान तो आत्मा ही है । परमार्थ से आत्मा-का ज्ञानस्वभाव है । जो ज्ञान है सो आत्मा है और आत्मा है सो ज्ञान है, इसलिये ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहना योग्य है ।

गाथा १५१, उसकी टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

"ज्ञान ही मोक्ष का कारण है, क्योंकि वह शुभाशुभ कर्मों के बन्ध का कारण नहीं है ।" – यह कहकर आचार्यदेव यहाँ यह कहना चाहते हैं कि शुद्धचैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा के ज्ञान-श्रद्धानादिरूप निर्मल परिणति ही मोक्ष का कारण है । अपने ही अन्तर में विराजमान चिदानन्दमय परमपवित्र भगवान आत्मा में दृष्टि व लीनता करने से अपनी पर्याय में जो निर्विकल्प ज्ञान व आनन्द का स्वाद आता है, वह मोक्ष का कारण है ।

देखो, सम्यग्दर्शन होने के बाद भी धर्मीजीव को भक्ति, पूजा, यात्रा आदि के शुभभाव आते हैं, परन्तु ये सब शुभभाव ज्ञानी की दृष्टि में हेय हैं । जब वह अन्तर में लीन नहीं रह पाता, तब अशुभ से बचने के लिये शुभ भाव भी आते हैं, परन्तु वह उन को आदरणीय व मोक्ष का कारण नहीं जानता ।

अरे भाई ! तुझे ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव मिला है और उसमें भी वीतरागमार्ग के सम्प्रदाय में जन्म हुआ है – यह तेरा परम सौभाग्य है । यदि अब भी तत्त्व की सही बात नहीं समझे तो तेरे भव का अभाव कैसे होगा ?

चाहे नरक हो या स्वर्ग हो – सभी भव दुःखरूप ही हैं । एक ज्ञान ही मोक्ष का कारण है, परम सुख का कारण है; क्योंकि ज्ञान शुभाशुभ कर्मों के बन्ध का कारण नहीं होता । जो शुभाशुभभाव बन्ध के कारण हैं,

वे ज्ञान में नहीं हैं। इसकारण शुद्धात्मा के अवलम्बन से जो पुण्य-पाप रहित निर्मल शुद्ध परिणति प्रगट होती है, वह बन्ध का कारण नहीं है।

देखो, अस्ति-नास्ति से कहें तो ज्ञान मोक्ष का कारण है और शुभाशुभरूप कर्मों के बन्धन का कारण नहीं है। ज्ञान कर्म बन्ध का कारण नहीं है, इसीकारण उसे मोक्ष का कारणपना बनता है। भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वभाववाला है। ज्ञान-दर्शनरूप परिणमित होना ही इसका परिणमन है तथा यह परिणमन ही मोक्ष का कारण है। बन्धभाव में अंशमात्र भी मोक्षमार्ग नहीं और मोक्षमार्ग में अंशमात्र बन्ध का अस्तित्व नहीं है। शुद्ध चैतन्यस्वभाव में ज्ञान, श्रद्धान व रमणतारूप चैतन्य की परिणति ही मोक्ष का कारण है; क्योंकि बन्ध के कारणरूप शुभाशुभ भाव का इसमें अभाव है। इसप्रकार भगवान ज्ञानानंद स्वभाव की दृष्टि, ज्ञान व रमणता –यह एक ही मोक्ष का कारण है।

प्रश्न :—आपने दर्शन, ज्ञान व रमणतारूप एक ही निश्चय मोक्ष-मार्ग कहा, किन्तु दूसरा व्यवहार मोक्षमार्ग भी तो है न ?

उत्तर :– मोक्षमार्ग प्रकाशक में इस प्रश्न का बहुत अच्छा स्पष्टी-करण किया है। वहाँ कहा है कि – "मोक्षमार्ग दो नहीं है, किन्तु उनका कथन दो प्रकार से है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग कहा जाय, वह निश्चयमोक्षमार्ग है तथा जो मोक्षमार्ग तो नहीं किन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाय, वह व्यवहार मोक्षमार्ग है।"

तथा वहाँ यह भी कहा है कि – "सच्चा निरूपण सो निश्चय और उपचरित निरूपण सो व्यवहार। इसलिये निरूपण की अपेक्षा मोक्षमार्ग दो प्रकार का है, किन्तु एक निश्चय मोक्षमार्ग है तथा दूसरा व्यवहार मोक्ष-मार्ग है – ऐसे दो प्रकार के मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।" एक निश्चय-मोक्षमार्ग ही मोक्ष का कारण है।

अब कहते हैं कि वह ज्ञान अर्थात् आत्मा समस्त पुण्य-पापरूप कर्म आदि अन्य जातियों से भिन्न, एक चैतन्य जातिमात्र परम पदार्थ है। पहले "परमट्ठो" पद आया है न ? इस चैतन्यस्वरूप आत्मा का परिणमन ही मोक्ष का कारण है, यही परमार्थ है।

अहाहा........! निश्चय ही एक सत्य है। ११वीं गाथा में आया है न ? "ववहारो अभूयत्थो, भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।" रागादि

विकार से रहित, एक समय की निर्मल पर्याय से भी रहित, नित्यानन्द, चिदानन्द स्वरूप परमपदार्थ ही भूतार्थ है और उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है, अभूतार्थ व्यवहार के आश्रय से नहीं।

"विद्वज्जनबोधक" में जो व्यवहार को साधक व निश्चय को साध्य-कहा है, वह तो व्यवहार का कथन है। वहाँ पूर्वपर्याय को साध्य कहा है, मोक्ष का कारण कहा है; पर वह सब व्यवहार का कथन है। वास्तव में तो त्रिकाली शुद्ध द्रव्यस्वभाव के आश्रय से ही मोक्ष होता है, फिर भी पूर्ववर्ती पर्याय को मोक्ष का कारण कहना व्यवहार है। मोक्ष अर्थात् मोक्षपर्याय का वास्तविक कारण तो द्रव्यस्वभाव ही है।

प्रश्न :—यदि यह बात है तो पूर्वपर्याय को मोक्ष का कारण क्यों कहा ?

उत्तर :—मोक्ष होने के पहले पूर्ववर्ती पर्याय कैसी थी? यह बतलाने के लिये पूर्ववर्ती (मोक्षमार्ग की) पर्याय को उत्तर (मोक्ष) पर्याय का कारण कहा है, किन्तु व्ययरूप – अभावरूप पर्याय में से उत्पादरूप – सद्भावरूप पर्याय कैसे उत्पन्न हो सकती है? इसकारण पूर्वपर्याय का व्यय उत्तर पर्याय के उत्पाद में वास्तविक कारण नहीं है, किन्तु पूर्वपर्याय का ज्ञान कराने के लिये उसे व्यवहार से कारण कहा जाता है।

अहो! जैनदर्शन की यह अद्भुत स्याद्वाद शैली है। 'स्याद्' अर्थात् किसी अपेक्षा से 'वाद' अर्थात् कथन। इसप्रकार किसी न किसी अपेक्षा से कथन करने वाली यह स्याद्वाद् शैली परम आश्चर्यकारी एवं समाधान कारक है। भाई! जिस नय से कथन हो, उसे यथार्थ समझना चाहिये। जैन शास्त्रों में पाँच प्रकार से अर्थ करने की रीति बताई है—(१) शब्दार्थ (२) नयार्थ (३) आगमार्थ (४) मतार्थ (५) भावार्थ। शब्दों का अर्थ करना शब्दार्थ है। यह कथन व्यवहारनय का है या निश्चयनय का – यह जानना नयार्थ है। यह अमुक आगम का कथन है – यह समझना आगमार्थ है। यह अन्यमत का निषेध किस विधि से करता है – यह मतार्थ है। तथा इस कथन का क्या तात्पर्य है? – यह जानना भावार्थ है। इसप्रकार पाँच प्रकार अर्थ करना सूत्रतात्पर्य है एवं शास्त्र तात्पर्य वीतरागता है। अनुभवप्रकाश में आया है कि सूत्रतात्पर्य साधन है और शास्त्रतात्पर्य साध्य है।

तात्पर्य यह है कि जो गाथासूत्र चलता हो उसका अर्थ करने के पश्चात् उसमें से शास्त्रतात्पर्य के रूप में वीतरागता ही निकालनी चाहिये। पर की – निमित्त की, रागादि एवं निर्मल पर्याय की भी उपेक्षा करके 'स्व' अर्थात् त्रिकाली चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मद्रव्य की अपेक्षा रखने से वीतरागता की उत्पत्ति होती है। स्त्रीपुत्रादि पर निमित्त, रागादि विकार व निर्मल पर्याय के लक्ष्य से वीतरागता की उत्पत्ति नहीं होती। इसकारण 'स्व' की अपेक्षा व 'पर' की उपेक्षा जिस कथन में हो, वह शास्त्रतात्पर्य है।

इसतरह की वीरागता पोषक प्रयोजनभूत बातें समझने के लिए आज किसके पास समय है? दिनभर धंधा-व्यापार, खाना-पीना, बाल-बच्चों के साथ हंसना-खेलना, ६-७ घन्टे सोना, इसी में सारा समय चला जाता है। तत्त्व की गहरी बातों को सुनने-समझने एवं उस पर गंभीरता से विचार करने का समय ही कहाँ है? परन्तु भाई! इसीतरह जीवन चला गया तो पता नहीं कहाँ जाकर पड़ेंगे? यदि इस समय नहीं समझे तो फिर ऐसा अवसर कब मिलेगा? पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी ने तो कहा है कि – "सबतरह से अवसर आ चुका है। तत्त्व की बात सुनने का अवसर तो प्राप्त हो ही गया है। अब तू अन्तर्दृष्टि कर! भगवान आत्मा को देख! यहाँ जिसे परमपदार्थ कहा है, वह निश्चय से सच्चिदानंदस्वरूप परमात्मा तू स्वयं है। उसके आश्रय से – अवलम्बन से जो परिणति होती है, वही मोक्ष का कारण है।

आगे कहते हैं कि – "वह (आत्मा) एक ही साथ एकरूप से प्रवर्तमान ज्ञान और गमन (परिणमन) स्वरूप होने से 'समय' है।"

जो आत्मा एक समय में एक ज्ञानरूप ही परिणमन करता है अर्थात् जो आत्मा पुण्य-पाप के विकल्परूप परिणमन नहीं करता तथा शुद्ध चैतन्य की वीतराग परिणति से परिणमन करता हुआ प्रवर्तमान होता है, वही 'समय' है। भाई, बात तो ऐसी है, पर जिसे बाह्य बातों में ही उत्साह वर्तता है, हर्ष होता है। दस-पांच लाख दान-पुण्य में खर्च कर दे, गजरथ आदि महोत्सव करा दे, उसी में फूला-फूला फिरे, खूब विकल्पों की धमाल करे और दुनिया भी उसी की प्रसंशा करें तो इससे क्या लाभ? अरे भाई! ये सब प्रवृत्तियाँ तो विकल्परूप ही हैं। ये कोई आत्मा नहीं है, आत्मा को प्राप्त करने के साधन भी नहीं हैं। यहाँ तो यह कहते हैं कि जो ज्ञानरूप

परिणमन करता है, वह समय है तथा वह ज्ञान का निर्मल परिणमन ही मोक्ष का कारण है ।

ज्ञान को समय कहते हैं । समय अर्थात् सम+अय – सम्यक् प्रकार से ज्ञान का परिणमन, आनन्द का परिणमन और एक ही साथ एकरूप प्रवर्तमान अनंत गुणों का परिणमन जिसमें होता है, वह समय है, आत्मा है । इस आत्मा के आश्रय से जो पुण्य-पाप के विकल्प से रहित निर्मल वीतराग परिणति उत्पन्न होती है, वह ज्ञान की निर्मल परिणति ही मोक्ष का कारण है ।

प्रकारान्तर से 'समय' की व्याख्या करते हुए आगे कहते हैं कि 'सम" अर्थात् एक ही साथ "अय" अर्थात् "जानने" और "परिणमन" स्वरूप होने से ज्ञान ही समय है । यह मोक्षमार्ग की दशा (पर्याय) की बात है । यहाँ समय का अर्थ द्रव्य नहीं, पर्याय है । शुद्ध चेतन्यवस्तु जो त्रिकाल द्रव्य-स्वभाव है, वह तो 'समय' है ही, उसके आश्रय से ज्ञान के निर्मल परिणमन को भी 'समय' कहते हैं । ज्ञान का वह निर्मल परिणमन ही मोक्ष का कारण है, उसमें बंध के कारण रूप शुभाशुभ भाव का अभाव है, इसलिये वह मोक्ष का उपाय है । आत्मा स्वयं तो परमपदार्थ परमात्मा है ही तथा उसका ज्ञानरूप परिणमन, जो मोक्ष का उपाय है, वह भी परमपदार्थ है । इसप्रकार 'परमट्ठो' और 'समओ' इन बोलों का स्पष्टीकरण हुआ ।

अब तीसरे बोल 'शुद्ध' की बात करते हैं । "समस्त नयपक्षों से अमिलित (अमिश्रित) एक ज्ञानस्वरूप होने से शुद्ध है ।"

यहाँ शुद्ध की व्याख्या सकल नयपक्ष से रहित ऐसी की है । गाथा ३८ व ७३ में शुद्ध की व्याख्या दूसरी है । 'शुद्ध' शब्द के बहुत अर्थ होते हैं । प्रकरण के अनुसार जिस स्थान पर जो अर्थ योग्य हों, उस स्थान पर वही अर्थ समझना चाहिये । एकरूप को शुद्ध कहते हैं और शुद्ध को एकरूप कहते हैं । यहाँ तात्पर्य यह है कि 'मैं अबन्ध हूँ, मुक्त हूँ, एक हूँ' – इत्यादि नयपक्षों के विकल्पों से अमिलित एक ज्ञानस्वरूप होने से 'शुद्ध' है । जिसमें शुभाशुभ भाव का वेदन नहीं है और केवल चैतन्यजाति का निर्मल परिणमन है, उसे वहाँ 'शुद्ध' कहा है । ७३वीं गाथा में शुद्ध का अर्थ एक समय की षट् कारक की परिणति से रहित किया है तथा ३८वीं गाथा में आत्मा नव तत्त्व के व्यावहारिक भावों से भिन्न अखण्ड एक, ज्ञायक भावरूप होने से शुद्ध है – ऐसा अर्थ किया है और यहाँ आत्मा समस्त नयपक्षों के

सूक्ष्म विकल्पों से भी रहित एक ज्ञानस्वरूप होने से शुद्ध है — ऐसा अर्थ किया है। इसप्रकार यह तीसरा बोल हुआ।

अब चौथा बोल कहते हैं — "केवल चिन्मात्र वस्तुस्वरूप होने से केवली है।" देखो, यहाँ राग रहित केवल वीतराग निर्मल परिणति को केवली कहा है। चारित्र पाहुड की चौथी गाथा में अक्षय-अमेय पर्याय की बात आई है। भगवान आत्मा स्वयं अक्षय-अमेय (अपरिमित) स्वभाववाला है। अहाहा.........! भगवान आत्मा के एक-एक गुण का अमर्यादित अगाध स्वभाव है। उस अनंतगुणमंडित आत्मा का एकत्वरूप परिणमन ही 'केवली' है। केवली अर्थात् रागरहित केवल एक भाव यह केवलीभगवान की बात नहीं है, किन्तु मोक्षमार्ग की बात है। मोक्षमार्ग शुभाशुभ भाव से रहित (अकेला) केवल शुद्ध परिणमनरूप भाव होने से 'केवली' है। जिसका शुभाशुभभाव के साथ सम्बन्ध नहीं है — ऐसा केवल शुद्धमार्ग वही "केवली" है — यहाँ यह बात है। भगवान आत्मा जो केवल शुद्ध स्वभावमय है, उसके आश्रय से उत्पन्न केवल शुद्ध परिणाम वही "केवली" है।

अब इसी गाथा का पाँचवाँ बोल कहते हैं — 'केवल मननमात्र (ज्ञानमात्र) भावरूप होने से मुनि है।"

ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता ही मनन है। यहाँ विकल्परूप चिन्तन की बात नहीं है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप में जो एकाग्रता है, परिणाम की जो मग्नता है, उसे मननमात्र भावरूप होने से मुनि कहा है। उसे ही यहाँ मोक्षमार्ग व मोक्ष का कारण कहा है। देखो, भाई यह मुनिपना है, जिसमें व्रत, तप व बाह्य क्रिया तो कहीं है ही नहीं। आत्मा ज्ञान व आनन्द का नाथ प्रभु परमपदार्थ है। उसमें जो एकाग्रता रूप मननमात्र भाव है, वह मुनि है; व्रत, तप के विकल्प मुनिपना नहीं है। केवल मननमात्र कहा, उसका तात्पर्य यह है कि त्रिकाली ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता मात्र होने से मुनि है।

भाई ! यह अन्तर आत्मस्वभाव की अगम्य बात है। बाह्य व्रत-तप-शील वगैरह का पालन सरलता से कर लेता है और स्थूल बाह्य आचार-विचार की बातें ख्याल में भी जल्दी आ जाती हैं; इसलिए बाह्य क्रिया-कलाप सुगम लगते हैं; परन्तु भाई ! वे सब शुभभावरूप होने से बंध के कारण हैं। यहाँ तो मुनि का अर्थ आचार्यदेव इसप्रकार कर रहे हैं कि — केवल मनन मात्र अर्थात् शुद्ध चैतन्यमय भगवान आत्मा में मनन (एकाग्रता)

ही मुनि है। यहाँ व्रत, तप, शील दया, दान आदि शुभराग में एकाग्रता-मनन करने वाले मुनि की बात नहीं है।

यह बात सूक्ष्म है, यहाँ तक पहुँचने की तो क्या बात करें, यह बात स्वीकार कर लेना भी बड़े भारी पुरुषार्थ का काम है।

भगवान आत्मा शुद्ध है, उसके अनंत गुण शुद्ध हैं। इन अनंत गुणों को धारण करनेवाले एक चैतन्य महाप्रभु भगवान आत्मा का ही मनन तथा उस एक की ही एकाग्रता करने वाला मुनि है। देखो, इसे मुनि व मोक्षमार्ग कहा। बाह्य में पंच महाव्रतों का पालन करें और नग्न रहे, बस इतने मात्र से कोई मुनि नहीं हो सकता। केवल त्रिकाल, नित्य, निरावरण, अखण्ड एक, शुद्ध पारिणामिकभाव लक्षण वाले निज परमात्मद्रव्य का मनन अर्थात् उसमें ज्ञान का एकाग्र होना ही मुनिपना है। यह मननमात्र भाव मुनि की व्याख्या है। उसे मुनि कहो, शुद्ध कहो, परमार्थ कहो, केवली कहो, या समय कहो – सब एक ही है।

अब छठवें बोल में कहते हैं कि – "आत्मा स्वयं ही ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञानी है।"

अपना जो त्रिकाल ज्ञान स्वरूप है, उसमें से ही ज्ञान की परिणति आती है। इसे किसी अन्य की सहायता या मदद की अपेक्षा नहीं है। आत्मा की परिणति आत्मसन्मुख होने पर शुद्ध ही है।

आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञानी है। यहाँ शास्त्रों के बहुत ज्ञान या अध्ययन की अपेक्षा बात नहीं है, किन्तु यहाँ तो इसकी परिणति ज्ञान स्वरूप होने से ही इसे ज्ञानी कहा गया है। जिसप्रकार आत्मवस्तु त्रिकाल ज्ञानस्वरूप व आनन्दस्वरूप है, उसीप्रकार इसकी परिणति, इसकी व्यक्तता का अंश भी ज्ञानस्वरूप है, इसलिये वह ज्ञानी है। यहाँ व्यक्त अंश – पर्याय ज्ञानमय है, रागमय व विकल्पमय नहीं है, इसकारण ज्ञानी है – एसा कहा है।

अहो! गाथा-गाथा में व शब्द-शब्द में कैसा-कैसा भाव भरा है। यह समयसार तो जगत का अद्वितीय चक्षु है। आत्मसन्मुख होकर एक समय में केवलज्ञान व अनंत आनन्द प्रगट कर सकता है – ऐसी अनत सामर्थ्यवाला तू स्वयं है। बापू! तू अपने आपको अधूरा व अल्प क्यों मानता है? तेरा जो परिपूर्ण ज्ञान व आनन्दमय स्वरूप है, उस रूप परिणति होने पर तू ज्ञानी ही है। ज्ञानी का अर्थ यहाँ शास्त्रज्ञान वाला

नहीं है, किन्तु जो ज्ञानस्वरूप में मग्न – लीन है अथवा जिसकी ऐसे मोक्षमार्ग में परिणति है, वह ज्ञानी है। मोक्षमार्ग की परिणति ज्ञानस्वरूप होने से उसे ज्ञानी कहते हैं।

अब सातवाँ बोल कहते हैं – "स्व के भवन मात्र स्वरूपवाला होने से आत्मा स्वभाव है।"

आत्मा की परिणति को स्वभाव क्यों कहा ? इसके उत्तर में – कहते हैं कि शुद्धपरिणति स्व के भवनमात्र है, इसकारण चैतन्य के भवनरूप ही है, राग के भवनरूप नहीं है। राग तो पर है राग का भवन होना आत्मा के भवन (परिणमन) में है ही नहीं। देखो न ! भले ही कोई युवा योद्धा हो, परन्तु आयु पूर्ण होने पर देखते-देखते ही समयमात्र में देह छूट जाती है। जैसे देह छूटने में एक समय लगता है, उसीतरह सम्यग्दर्शन होने में भी एक ही समय लगता है। तेरा स्वभावमात्र जो परिणाम है, यदि उसे प्रगट कर ले तो तू जहाँ भी जायगा, वहाँ स्वभाव में ही है। श्रीमद् रायचन्द से किसी ने पूछा कि वर्तमान में श्री कृष्णजी कहाँ पर हैं ? तो श्रीमद् ने कहा था कि वे अपने आत्मस्वभाव में हैं। भाई ! सम्यग्दृष्टि पुरुष बाह्य क्षेत्र की अपेक्षा कहीं भी हों, परन्तु वे वस्तुत: अपने स्वभाव में ही रहते हैं। परमार्थ से तो ज्ञानी किसी गति विशेष में रहते ही नहीं हैं; वे तो अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में ही रहते हैं, ज्ञानानन्दरूप परिणमन में ही रहते हैं।

सम्यग्दृष्टि नरक में हो तो उसे वहाँ दु:ख होता है, तथापि वे दु:ख में नहीं, यदि परमार्थ से देखा जाय तो स्व के भवनमात्र स्वभावभाव – चैतन्यभाव में ही हैं। समयसार कलश टीका के ३१वें कलश में आता है कि – चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को भी थोड़ा स्वरूपस्थिरता का अंश प्रगट हो जाता है। मिथ्यात्व व अनंतानुबन्धी कषाय मिटने से वह निज घर में थोड़ा स्थिर हुआ है – इस अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि भी स्वभावमात्र है।

"तम्हि टिठ्दा सहावे" का 'स्व' के भवन मात्र होने से स्वभाव है – एक अर्थ तो यह हुआ। अब इसी का दूसरा अर्थ करते हुए आचार्य कहते हैं कि "स्वत: अर्थात् स्वयं से ही चैतन्यभवनमात्र स्वरूप होने से सद्भाव है" पर्याय में राग का अभाव व चैतन्य का सद्भाव ही सद्भाव है। जैसा स्वभाव है, वैसा ही परिणमन होने का नाम सद्भाव है; क्योंकि जो स्वत: होता है, वह सत्स्वरूप ही होता है। जैसा स्वत: स्वरूप त्रिकाली है, वैसा

ही इसका चैतन्य परिणाम मोक्ष का मार्ग भी स्वतः होने से सद्भाव है। इसे कोई व्यवहार की या निमित्त की अपेक्षा नहीं है।

"इसप्रकार शब्द भेद होते हुए भी वस्तु भेद नहीं है।" नाम भिन्न-भिन्न है, पर वस्तु एक ही है। शब्द भेद सात बोलों से कहे और उसके आठ अर्थ किए, परन्तु मोक्षमार्ग की परिणति तो एक ही प्रकार की है, वस्तुभेद नहीं है, वस्तु तो एक ही है, मोक्षमार्ग भी एक ही है।

तात्पर्य यह है कि मोक्ष का मूल उपादान, शुद्ध उपादान तो आत्मा ही है। तथा परमार्थ से आत्मा का स्वभाव ज्ञान है; ज्ञान है, वह आत्मा है और आत्मा है, वह ज्ञान है। आत्मा के सब गुणों में ज्ञानगुण की यह विशेषता है कि ज्ञान स्वयं अपने को जानता है और पर को भी जानता है। विकल्प-राग विना मात्र जाने – ऐसा इसका स्वभाव है, तथा विकल्प पूर्वक (भेदकरके) जाने ऐसा भी इसका स्वभाव है। इसप्रकार ज्ञानस्वभावी होने से आत्मा ज्ञान है और ज्ञान आत्मा है।

इसलिए ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहना योग्य है। अहाहा....! ज्ञान आत्मा का स्वभाव है और उसका परिणमन ही मोक्ष का कारण है। जो मोक्ष का कारण है, वह ज्ञान का ही परिणमन है राग का नहीं।

"...बन्ध विथा तव फैल रही है"

मोक्ष सरूप सदा चिनमूरति,
बंधमई करतूति कही है।
जावतकाल बसै जहां चेतन,
तावत सो रस रीति गही है॥
आतमकौ अनुभौ जबलौं,
तबलौं सिवरूप दसा निवही है।
अंध भयौ करनी जब ठानत,
बंध विथा तब फैल रही है॥६॥

– समयसार नाटक, पुण्य-पाप एकत्व द्वार

समयसार गाथा १५२

अथ ज्ञानं विधापयति—

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं बेंति सव्वण्हू ।।१५२।।

परमार्थे त्वस्थितः यः करोति तपो व्रतं च धारयति ।
तत्सर्वं बालतपो बालव्रतं ब्रुवन्ति सर्वज्ञाः ।।१५२।।

ज्ञानमेव मोक्षस्य कारणं विहितं परमार्थभूतज्ञानशून्यस्याज्ञान-कृतयोर्व्रततपः कर्मणोः बंधहेतुत्वाद्बालव्यपदेशेन प्रतिषिद्धत्वे सति तस्यैव मोक्षहेतुत्वात् ।

अब यह बतलाते हैं कि आगम में भी ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है :—

परमार्थमें नहि तिष्ठकर, जो तप करं व्रतको धरं ।
तप सर्व उसका बाल अरु, व्रत बाल जिनवरने कहे ।।१५२।।

गाथार्थ :– [परमार्थे तु] परमार्थ में [अस्थितः] अस्थित [य] जो जीव [तपः करोति] तप करता है [च] और [व्रतं धारयति] व्रत धारण करता है, [तत्सर्वं] उसके उन सब तप और व्रत को [सर्वज्ञा.] सर्वज्ञदेव [बालतपः] बालतप और [बालव्रतं] बालव्रत [ब्रुवन्ति] कहते हैं ।

टीका :—आगम में भी ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है (ऐसा सिद्ध होता है); क्योंकि जो जीव परमार्थभूत ज्ञान से रहित है, उसके अज्ञानपूर्वक किये गये व्रत, तप आदि कर्म बन्ध के कारण हैं; इसलिये उन कर्मों को 'बाल' संज्ञा देकर उनका निषेध किया जाने से ज्ञान ही मोक्ष का कारण सिद्ध होता है ।

भावार्थ :– ज्ञान के बिना किये गये तप, व्रतादि को सर्वज्ञदेव ने बालतप तथा बालव्रत (अज्ञानतप तथा अज्ञानव्रत) कहा है, इसलिये मोक्ष का कारण ज्ञान ही है ।

गाथा १५२ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

देखो, वीतराग अरहंत देव की दिव्यध्वनि में जो उपदेश आया है, वह आगम है। उस आगम में भी ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है। पं. बनारसीदास द्वारा लिखित बनारसी विलास के शारदाष्टक में आया है :—

"मुख ओंकारधुनि सुनि अर्थ गणधर विचारै,
रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारै।"

भगवान अरहंतदेव की ओंकार ध्वनि सुनकर गणधर देव ने आगम की रचना की है। जिसे पढ़-सुनकर भव्य जीव अपने संशय का निवारण करते हैं।

प्रश्न :—ये व्रतादि शुभाचरण भी मोक्ष के कारण हैं, आप इनका निषेध क्यों करते हैं ?

उत्तर :—भाई ! अनन्त तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि के अनुसार रचे गये आगम (शास्त्रों) में तो ज्ञान को ही अर्थात् आत्मा को ही मोक्ष का कारण कहा है। जहाँ किसी भी प्रकार के राग को मोक्षमार्ग कहा है, वह वीतराग का आगम नहीं हो सकता।

मूल गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं – "बेंति सव्वण्हू" अर्थात् सर्वज्ञदेव ने ज्ञान को ही अर्थात् शुद्ध चैतन्य आत्मा को ही मोक्ष का कारण कहा है। भाई ! कोई अपनी मति कल्पना से उल्टा अर्थ निकाले एवं व्रत-तप आदि के राग को मोक्ष का कारण कहे तो वह आगम का अर्थ नहीं है। आगम में तो सर्वत्र विकल्पों से पार शुद्ध चिदानन्द घनस्वरूप परमात्मतत्त्व को ही ज्ञान शब्द से अभिहित किया है तथा उसका ज्ञानरूप अन्तःपरिणमन ही मोक्षमार्ग है। यह सम्यक् एकान्त दर्शाया है। तात्पर्य यह है कि मोक्ष का मार्ग एक ही होता है और वह स्वभाव के आलम्बन व उसमें एकाग्रतारूप है।

जिनागम में ऐसा अनेकान्त नहीं है कि कथंचित् ज्ञान भी मोक्षमार्ग है और कथंचित् राग भी मोक्षमार्ग है। यह तो मिथ्या अनेकान्त है, अतः यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान ही मोक्ष का कारण है, राग नहीं; क्योंकि जो जीव परमार्थभूत ज्ञान से रहित है, उसके अज्ञान पूर्वक किये गये व्रत, तप आदि कर्मबन्ध के कारण हैं, इसलिये उन कर्मों को "बाल" संज्ञा देकर उनका निषेध किया जाने से ज्ञान ही मोक्ष का कारण सिद्ध होता है।

प्रश्न :—यदि अज्ञानी के व्रत-तप बंध के कारण हैं तो क्या ज्ञानी के मोक्ष के कारण हैं ?

उत्तर :- नहीं ऐसा नहीं है, ज्ञानी के भी बंध के ही कारण हैं; किन्तु ज्ञानी उनका कर्त्ता नहीं है। उसे व्रत तपादि को करते हुए उनमें एकत्व नहीं है, वह उन्हें उपादेय व मोक्षमार्ग का कारण भी नहीं मानता। कलश टीका के ११०वें कलश में आया है कि – "कोई भ्रान्ति करेगा कि मिथ्यादृष्टि का यतिपना क्रियारूप है, वह बन्ध का कारण है; किन्तु सम्यग्दृष्टि का जो शुभ क्रियारूप यतिपना है, वह मोक्ष का कारण है, क्योंकि अनुभव-ज्ञान तथा दया-व्रत-तप-संयमरूप क्रिया – दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय करते हैं – कितने ही अज्ञानी जीव ऐसी प्रतीति करते हैं। उसका समाधान यह है जितनी शुभ-अशुभ क्रिया, वहिर्जल्परूप विकल्प अथवा अन्तर्जल्परूप विकल्प अथवा द्रव्यों के विचार-रूप अथवा शुद्धस्वरूप के विचाररूप आदि सभी (प्रकार के विकल्प-विचार व शुभक्रियायें) कर्मबन्ध के ही कारण हैं। ऐसी क्रियाओं का ऐसा ही स्वभाव है। सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि का कहीं कोई भेद नहीं है। ऐसी करतूतों से ऐसा ही बन्ध होता है, शुद्ध स्वरूप परिणमन मात्र से मोक्ष है।"

अहाहा........! अपने ही अन्तर में अनन्त-अनन्त गुणों का भंडार सच्चिदानंदप्रभु परमात्मा सदा मौजूद है, किन्तु आज तक हमने अपनी अन्तर्दृष्टि से उसे देखा ही नहीं है, इसकारण वह अनंत शक्तियों का सग्रहालय भगवान आत्मा अपने जानने में नहीं आया तथा भगवान आत्मा के जाने बिना, परमार्थभूत ज्ञान से रहित अज्ञान पूर्वक किये गये व्रत, तप आदि शुभकर्म बन्ध के ही कारण होते हैं। इसीकारण सर्वज्ञ परमेश्वर ने उन्हें बालव्रत व बालतप कहकर उनका निषेध किया है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि आत्मज्ञान ही मोक्ष का कारण है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान व स्थिरता ही मोक्ष का कारण है, इसके अतिरिक्त अन्य रागादि विकल्प मोक्ष के कारण नहीं हैं।

समयसार गाथा १५३

अथ ज्ञानाज्ञाने मोक्षबंधहेतू नियमयति—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ।।१५३।।

व्रतनियमान् धारयंतः शीलानि तथा तपश्च कुर्वंतः ।
परमार्थबाह्या ये निर्वाणं ते न विंदंति ।।१५३।।

ज्ञानमेव मोक्षहेतुः, तदभावे स्वयमज्ञानभूतानामज्ञानिनामन्तर्व्रत-नियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्मसद्भावेऽपि मोक्षाभावात् । अज्ञानमेव बंधहेतुः, तदभावे स्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिनां बहिर्व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभ-कर्मासद्भावेऽपि मोक्षसद्भावात् ।

अब यह कहते हैं कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है और अज्ञान ही बन्ध का हेतु है यह नियम है :—

व्रतनियमको धारे भले, तपशीलको भी आचरे ।
परमार्थसे जो बाह्य वो, निर्वाण प्राप्ती नहिं करे ।।१५३।।

गाथार्थ :—[व्रतनियमान्] व्रत और नियमों को [धारयन्तः] धारण करते हुए भी [तथा] तथा [शीलानि च तपः] शील और तप [कुर्वन्तः] करते हुए भी [ये] जो [परमार्थबाह्याः] परमार्थ में बाह्य हैं (अर्थात् परम पदार्थरूप ज्ञान का ज्ञानस्वरूप आत्मा का जिसको श्रद्धान नहीं है) [ते] वे [निर्वाणं] निर्वाण को [न विंदंति] प्राप्त नहीं होते ।

टीका :—ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है; क्योंकि ज्ञान के अभाव में स्वयं ही अज्ञानरूप होनेवाले अज्ञानियों के अन्तरंग में व्रत, नियम, शील तप इत्यादि शुभ कर्मो का सद्भाव होने पर भी मोक्ष का अभाव है । अज्ञान ही बन्ध का कारण है; क्योंकि उसके अभाव में स्वयं ही ज्ञानरूप होनेवाले ज्ञानियों के बाह्य व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभ कर्मों का असद्भाव होने पर भी मोक्ष का सद्भाव है ।

भावार्थ :—ज्ञानरूप परिणमन ही मोक्ष का कारण है और अज्ञान-रूप परिणमन ही वन्ध का कारण है; व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभ भावरूप शुभकर्म कहीं मोक्ष के कारण नहीं हैं, ज्ञानरूप परिणमित ज्ञानी के वे शुभकर्म न होने पर भी वह मोक्ष को प्राप्त करता है; तथा अज्ञानरूप परिणमित अज्ञानी के वे शुभ कर्म होनेपर भी, वह वन्ध को प्राप्त करता है।

गाथा १५३ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है, क्योंकि ज्ञान के अभाव में स्वयं अज्ञानरूप हुए अज्ञानियों के अन्तरंग में व्रत, नियम, शील, तप वगैरह शुभकर्मों का सद्भाव होने पर भी मोक्ष का अभाव है। यहाँ ज्ञान का अर्थ अपने ही अन्दर विद्यमान शुद्ध चिदानन्द भगवान आत्मा का ज्ञान ही अभीष्ट है।

भगवान आत्मा स्वभाव से तो सच्चिदानंद प्रभु स्वयं मोक्षस्वरूप ही है तथा मोक्ष का कारण है, किन्तु उसका ज्ञान नहीं होने से यह जीव स्वयं अज्ञान रूप हुआ है, किसी कर्म ने इसे अज्ञान रूप किया हो या कर्म के कारण अपना आत्मा अज्ञानी हुआ हो – ऐसा नहीं है। अपने चैतन्यघन परमेश्वरस्वरूप भगवान आत्मा का भाव नहीं होने से यह स्वयं ही अज्ञान-रूप हुआ है। ऐसे अज्ञानरूप परिणत जीवों के अन्तरंग में व्रत, शील, तप आदि शुभ कर्मों का सद्भाव होने पर भी मोक्ष का अभाव है, क्योंकि ये सभी शुभ कर्म रागरूप हैं, वन्ध के कारण हैं। एक भगवान आत्मा ही मात्र अवन्धस्वरूप है। यहाँ अंतरंग शब्द वाह्य क्रियाओं के निषेधार्थ कहा गया है। तात्पर्य यह है कि यहाँ शरीर की क्रियाओं की तो वात ही क्या ? किन्तु अज्ञानो के अंतरंग में शुभरागरूप व्रतादि का सद्भाव भी मोक्ष का कारण नहीं है।

अहा ! आत्मज्ञान शून्य ब्रह्मचर्य पालें, सत्य वोलें, चोरी न करें, एक धागे का भी परिग्रह न रखें, महीना के उपवास करें, घोर तप करे, तथापि उसे मोक्ष नहीं होता है।

वर्तमान में 'ध्यान' करने के शिविर लगाये जाते हैं, उनमें सामूहिक ध्यान की कक्षायें चलती हैं, आजकल सामूहिक ध्यान का खूव जोर-शोर से प्रचार चल रहा है; परन्तु वस्तु का स्वरूप दृष्टि में आये बिना किसका ध्यान, कैसा ध्यान ? अरे भाई ! आत्मज्ञान विना ध्यान सम्भव ही नहीं। स्वरूप की दृष्टि विना राग का ही ध्यान होता है और राग भी कोई

ध्यान है ? ये तो आर्त-रौद्र ध्यान है, जो घोर संसार के कारण हैं। यहाँ ध्यान का प्रयोजन निज आत्मा के स्वरूप के एकाग्र होने से है, राग का ध्यान करने से नहीं। वह ध्यान भगवान आत्मा के दृष्टि, ज्ञान व अनुभव हुए बिना व्रत, तप, ध्यान आदि के विकल्पों से नहीं होता। ये रागरूप विकल्प मोक्ष व मोक्ष के कारण नहीं, क्योंकि सभी प्रकार का शुभराग बंध का ही कारण है।

इन व्रत, नियम, शील, तप आदि शुभभावों को अज्ञानमय भाव कहा है। वर्तमान में कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि ये व्रत तप आदि मोक्ष के कारण हैं, इनको करते-करते निश्चय धर्म प्रगट हो जायगा, परन्तु भाई ! उनकी यह मान्यता वीतराग मार्ग से विरुद्ध है। जब इन व्रतादि के विकल्पों में शुद्ध चैतन्य स्वभाव का अभाव है तो इन से चैतन्यरूप ज्ञानभाव वीतरागभाव प्रगट कैसे होगा ? चिद्घनस्वरूप भगवान आत्मा के स्व-संवेदन रहित जो व्रतादि का वेदन होता है, वह सब राग का वेदन है तथा यह अज्ञान भावरूप है।

प्रश्न :—अज्ञानभाव तो बारहवें गुणस्थान तक कहा है न ?

उत्तर :—हाँ, कहा है, परन्तु बारहवें गुणस्थान तक जो अज्ञानभाव कहा है, वह तो केवलज्ञान की अपेक्षा क्षयोपशम ज्ञान अल्पज्ञान है – यह बताया है। ज्ञान की परिपूर्णता नहीं हुई – इस अपेक्षा अज्ञानभाव कहा है। यहाँ तो अज्ञानी यानी मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थान वाले जीव की बात है। जिसकी रुचि में – दृष्टि में केवल राग ही भासित होता है, पूर्णानंदस्वरूपी भगवान आत्मा पर जिसकी दृष्टि ही नहीं गई है। ऐसे पहले गुणस्थान वाले जीव की यह बात है। वही व्रतादि को मोक्ष का कारण मानता है, उससे यह कहते हैं कि भाई ! यह व्रतादि का शुभराग अज्ञानभाव है।

"अज्ञान ही बन्ध का कारण है, क्योंकि उसके अभाव में स्वयं ही ज्ञानरूप हुए ज्ञानियों के बाह्यव्रत, नियम, शील, तपादि शुभकर्मों का असद्भाव होने पर भी मोक्ष का सद्भाव है।"

"स्वयं ही ज्ञानरूप हुए ज्ञानियों के" यह जो कहा – इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञानीजन स्वयं ही स्वरूप की अन्तर्दृष्टि करके ज्ञानरूप होते हैं, किसी राग या निमित्त से ज्ञानरूप नहीं होते।

प्रश्न :—यहाँ अज्ञानियों के व्रतादि के साथ 'बाह्य' विशेषण लगाया है, पहले अज्ञानियों के प्रसंग में अंतरंग व्रतादि कहा था, इसका क्या हेतु है?

उत्तर :—अज्ञानी व्रतादि शुभकर्मों को अपना अंतरंग स्वरूप मानकर क्रियाकाण्ड रूप शुभकर्मों का आचरण करता है और ज्ञानी उन सभी शुभकर्मों को अपने स्वरूप से बाह्य मानता है, इसलिए ज्ञानी के शुभ कर्म को बाह्य कहा। अज्ञानी को अपने अन्तर में विराजमान अनाकुल आनन्द एवं ज्ञान का सागर परमेश्वर स्वरूप आत्मा का ज्ञान न होने से वह व्रत, नियम, शील, तप वगैरह को ही मोक्ष का कारण जानकर सेवन करता है, परन्तु यह सब उसका अज्ञान भाव है, जो बन्ध का कारण है।

भाई! यह जिनवाणी की मूल बात है, अनंत तीर्थंकरों की दिव्य-ध्वनि में आई हुई बात है। आत्मा के आनन्द के अनुभव बिना अर्थात् सम्यग्दर्शन हुए बिना व्रतादि धारण करने का जिनागम में तो कोई विधान नहीं है, सत्यमार्ग तो आत्मानुभव पूर्वक व्रत, तप, धारण करने रूप ही है। भगवान की वाणी में तो यही आया है। मुक्ति का मार्ग भी यही है। किसी को ऐसी सत्य बात सुनकर दुःख होवे तो बापू! हमें माफ कर देना। भगवान आत्मा के आनन्द के वेदन व अनुभव बिना सभी व्रत, नियम, शील, तप आदि का भाव शुभराग है और वह सब अज्ञान भाव है, बन्ध का कारण है।

कोई-कोई कहते हैं कि जैनदर्शन तो अनेकान्त स्वरूप है। अतः ऐसा कहे कि "शुभ आचरण करने से भी मोक्षमार्ग होता है और शुद्धोपयोग से भी होता है" तो क्या आपत्ति है?— परन्तु भाई! अनेकान्त का ऐसा स्वरूप ही नहीं है, यह तो मिथ्या अनेकान्त है।

सम्यक् अनेकान्त से तो आत्मा शिवस्वरूप ही है, रागस्वरूप नहीं है। आगे १०५वें कलश में कहेंगे कि भगवान आत्मा शिवस्वरूप अर्थात् मोक्षस्वरूप – अबद्धस्वरूप ही है। १४वीं व १५वीं गाथा में भी आ चुका है कि भगवान आत्मा अबद्धस्पृष्ट अर्थात् मुक्तस्वरूप ही है। इसके आश्रय से जो ज्ञान-श्रद्धान व आनन्द प्रगट होता है, वही एक मोक्ष का कारण है। लोगों ने आजतक यह बात सुनी नहीं, इसकारण उन्हें नवीन लगती है, परन्तु भाई! यह बात नवीन नहीं है। यह तो अनंत तीर्थंकरों द्वारा कहा गया अत्यन्त प्राचीन अनादिनिधन मार्ग है।

निर्जरा अधिकार की २१५वीं गाथा में आता है कि ज्ञानियों को स्त्री-पुत्रादि शरीर वगैरह एवं सर्व रागादि भावों से विरक्ति वर्तती है, क्योंकि वे सब वियोगस्वरूप ही हैं। शरीरादि व रागादि आत्मा की वस्तु नहीं है, वे तो संयोगी वस्तुएँ सदा वियोगस्वरूप ही होती हैं। भाई! सत्य बात तो यह है। प्रभु! तेरा मार्ग तो अ-संयोगी परमात्मस्वरूपी निज आत्मा में श्रद्धान-ज्ञान करके उसी में स्थिर होने रूप है। सर्वज्ञदेव ने पुकार-पुकार करके यह कहा है। हे आत्मन्! तू उसका श्रद्धान करके उसी का पक्ष कर!

गाथा ६९-७० में भी आया है कि सभी शुभाशुभभाव आत्मा के संयोगी भाव हैं, स्वभाव भाव नही है। संयोग सब छूट जाते हैं। अतः ये शुभाशुभभाव भी छूट जावेंगे, इसकारण ये तेरे नहीं हैं। जो अपने होते हैं, वे छूटते नहीं हैं, और जो छूट जाते हैं, वे अपने नहीं होते। भाई! इसमें विशेष ज्ञान की जरूरत ही कहाँ है? इसमें तो केवल अपने असयोगी स्वभाव में रुचि उत्पन्न करने की जरूरत है। स्वभाव की रुचि ही महत्व-पूर्ण वस्तु है। क्षयोपशम ज्ञान की अधिकता का कोई खास महत्व नहीं है। बस स्वभाव को समझने के लिए संज्ञी पंचेन्द्रिय का ज्ञान पर्याप्त है। सो वह तो हम सबके पास है ही।

यहाँ कहते हैं कि अज्ञान के अभाव में अर्थात् अज्ञान पूर्वक की गई बाह्य व्रतादिरूप राग की क्रिया के अभाव में ज्ञानियों को चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से जो ज्ञान की क्रिया प्रगट होती है; वही मोक्ष का कारण है। ज्ञानी व्रतादि के विकल्प से भिन्न रहकर अन्दर ज्ञानानंद स्वरूप में ठहरा है। इसकारण व्रतादि के शुभ कर्मों से रहित होता हुआ वह मोक्षमार्ग में स्थित है। जबतक अज्ञानी व्रतादि शुभराग के विकल्प से भिन्न होकर अन्दर स्वरूप में नहीं ठहरता, तबतक उसे व्रतादिरूप शुभराग की क्रिया होने पर भी वह भी बन्ध का कारण होने से उसे मोक्षमार्ग नहीं है।

भगवान आत्मा ज्ञान व आनन्द के अपरिमित स्वभाव से भरा शुद्ध-चैतन्य तत्त्व है। इसका निर्मल परिणमन अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद से युक्त स्वभावरूप परिणमन ही मोक्ष का कारण है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वभाव से तो त्रिकाल मुक्त ही है, परन्तु उस मुक्त स्वभाव का जो तद्रूप परिणमन होता है, वह भी अबन्ध

अर्थात् बन्धभावरहित है। ज्ञानी को शुभभाव होता तो अवश्य है, परन्तु उसका शुद्ध परिणमन ही मोक्ष का कारण है। इसप्रकार आत्मा स्वयं ही स्वरूप में एकाकार होकर ज्ञानरूप होता है, व्यवहार रत्नत्रय के विकल्प के कारण ही ज्ञानी को शुभकर्म का अभाव होने पर भी चिदानन्द स्वरूप में अन्तर परिणमन करने से मोक्ष का सद्भाव है।

अज्ञानी जीव ने राग को अपना मानकर तथा शुभराग से लाभ होगा – ऐसा मानकर जो मिथ्यात्वभाव किया है, वही उसके संसार परिभ्रमण का मूल कारण है, व्रतादि के शुभ परिणाम से मुझे धर्म हो रहा है – ऐसी मिथ्या मान्यता ही अनंत संसार के दुःखों का कारण है, क्योंकि मिथ्यात्वभाव स्वयं अज्ञानभाव रूप है, अर्थात् मिथ्यात्वभाव में ज्ञान – चैतन्य का अभाव है।

व्रतादि के विकल्प मिटनेपर जो निर्विकल्प अनुभव होता है, निर्विकल्प आनन्द-रस का स्वाद आता है, स्वरूप में स्थिरता होती है – उसे यहाँ मोक्ष का कारण कहा है। राग तो आकुलता का कारण है, वह निराकुल सुख का कारण कैसे हो सकता है ?

गाथा १५३ के भावार्थ पर प्रवचन

भगवान आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वरूप – ब्रह्मस्वरूप है। उसका निर्मल स्वभावरूप परिणमन ही मोक्ष का कारण है। आत्मा का स्वभाव स्वयं मोक्षस्वरूप है। इसकारण उस स्वभाव का ज्ञानस्वभाव रूप परिणमन भी मोक्ष का कारण है। यहाँ कहते हैं कि अज्ञानरूप परिणमन ही बन्ध का कारण है; व्रत, नियम, शील, तप आदि शुभभावरूप शुभकर्म मोक्ष के कारण नहीं हैं। व्रत, नियम, शील, तप आदि सभी रागरूप होने से अज्ञानरूप परिणमन हैं और वे बन्ध के कारण हैं। टीका में जो 'कर्म' शब्द आया था, उसका यहाँ खुलासा कर दिया है। यहाँ टीका में कर्म का अर्थ जड़कर्म नहीं है, किन्तु शुभभावरूप भावकर्म की बात है। यह शुभभावरूप भावकर्म मोक्ष का कारण नहीं है, किन्तु बन्ध का ही कारण है।

कुछ लोग यह कहते हैं कि देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति तो धर्मानुराग है, अतः वह तो मोक्ष का ही उपाय है; इसलिए उनकी शरण में जाना चाहिए, उनका आश्रय लेना चाहिए। वे तो हमें संसार सागर से अवश्य पार उतार देंगे।

समाधान करते हुए आचार्य यहाँ कहते हैं कि भाई ! देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति भी राग है। साक्षात् त्रिलोकीनाथ की शरण में जाना भी राग है और स्वयं अज्ञानमय भाव है, बन्ध का कारण है। स्व-द्रव्य के आश्रय बिना तीनकाल व तीनलोक में किसी के भी आश्रय से संवर निर्जरा व मोक्ष नहीं होता। परद्रव्य का आश्रय नियम से बन्ध का कारण है। पराश्रय भाव कभी भी मोक्ष का कारण नहीं हो सकता।

अरे भाई ! राग से लाभ मानने रूप भ्रमणा से ही जीव अनादि-काल से भव-भ्रमण कर रहा है। भले ही वह गुण-गुणी के भेदरूप सूक्ष्म-विकल्परूप राग भी क्यों न हो, सब आस्रवभाव ही है।

परमात्मप्रकाश में आता है कि निश्चय के दो भेद हैं – एक सविकल्प व दूसरा निर्विकल्प अपने आश्रय से जो यह विकल्प उठता है कि 'मैं शुद्ध हूँ, विज्ञानघन हूँ' – वह भी सविकल्प निश्चय है तथा आस्रव है, बंध का कारण है और स्वयं जो विकल्प रहित निर्विकल्प है, उसका तद्रूप परिणमन होना निर्विकल्प निश्चय है – यह दूसरा निर्विकल्प निश्चय ही मोक्ष का कारण है।

भाई ! अनन्त तीर्थंकर, केवली, गणधर और मुनिवर पुकार-पुकार कर के कह गये हैं कि यही एक अनादिकालीन मोक्ष का मार्ग है। यही सनातन सत्य दिगम्बर जैनदर्शन है। भाई दिगम्बर धर्म कोई वेश या बाड़ा नहीं है, यह तो वस्तु का स्वरूप है। अहाहा……! बाह्य में शरीर पर भले ही वस्त्र का एक धागा भी न हो, किन्तु अन्तरंग में यदि सूक्ष्म विकल्प के प्रति भी अपनत्व है तो वह दिगम्बर साधु का स्वरूप नहीं है। अहो ! दिगम्बरत्व कोई अद्भुत-अलौकिक वस्तु है। वीतरागता कहो या दिगम्बरत्व कहो – दोनों एक ही बात है।

यद्यपि भगवान आत्मा स्वय सदैव सत्स्वरूप से अन्तर में विराजमान है, तथापि उस ओर अन्तर्मुख दृष्टि करके उसमें एकाकाररूप से – चिदाकाररूप से परिणमन करने पर ही स्वरूप में स्थिरता प्राप्त करना सुलभ है। यदि स्वरूप का ज्ञान श्रद्धान नहीं हो तो पर्याय में स्वरूप का प्रगट होना दुर्लभ ही है। आत्मा का अनुभव किए बिना शुभ राग से आत्मा की प्राप्ति तीनकाल में नहीं हो सकती।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानभाव से परिणमन करने वाले ज्ञानी को व्रत, तप, शील, संयम आदि शुभकर्म नहीं होते हुए भी मोक्ष का सद्भाव है। भरतचक्रवर्ती की भांति ज्ञानी वाह्यतप आदि किए विना भी स्वरूप में स्थिरता प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त कर सकते हैं तथा अज्ञानरूप से परिणमन करने वाले अज्ञानी जीव को व्रत, तप, शील, संयम आदि शुभकर्म होते हुए भी वे सब बंध के कारण होने से मोक्ष का असद्भाव है, अर्थात् व्रतादि होते हुए भी अज्ञानी को मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(शिखरिणी)

यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति।
अतोऽन्यद्बंधस्य स्वयमपि यतो बंध इति तत्
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥१०५॥

श्लोकार्थ :—[यत् एतद् ध्रुवम् अचलम् ज्ञानात्मा भवनम् आभाति] जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुवरूप से और अचलरूप से ज्ञानस्वरूप होता हुआ – परिणमता हुआ भासित होता है, [अयं शिवस्य हेतुः] वही मोक्ष का हेतु है, [यतः] क्योंकि [तत् स्वयम् अपि शिवः इति] वह स्वयमेव मोक्षस्वरूप है; [अतः अन्यत्] उसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है [बन्धस्य] वह बन्ध का हेतु है, [यतः] क्योंकि [तत् स्वयम् अपि बन्धः इति] वह स्वयमेव बन्धस्वरूप है। [ततः] इसलिये आगम में [ज्ञानात्मत्वं भवनम्] ज्ञानस्वरूप होने का (ज्ञानस्वरूप परिणमित होने का) अर्थात् [अनुभूतिः हि] अनुभूति करने का ही [विहितम्] विधान है।

कलश १०५ पर प्रवचन

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि जो यह ध्रुव एवं अचल ज्ञानस्वरूप आत्मा ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ भासित होता है, वही मोक्ष का हेतु है।

राग का स्वाद दुःखरूप है। अशुभराग तो दुःखरूप है ही, शुभराग भी दुःखरूप ही है। शुभाशुभभावों से रहित शुद्ध आत्मा ज्ञान व आनन्दरूप है। ऐसे ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा का अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्दरूप परिणमना ही मोक्ष का कारण है। देखो, आत्मा स्वयं तो

मोक्षस्वरूप है हो, उसका स्वभावरूप परिणमन भी मोक्षस्वरूप है। इसके सिवाय अन्य जो भी शुभाशुभ परिणाम हैं, वे सब वंध के कारण हैं। ज्ञानी के भी जो वारह व्रत व पंच महाव्रत होते हैं, वे भी वन्ध के कारण हैं; क्योंकि वे स्वयं भी वन्धस्वरूप हैं। राग एवं व्यवहार की क्रिया वंध-स्वरूप है, वंध का कारण है।

अहाहा..... ....! यह ग्रन्थ अनन्त-अनन्त केवली भगवन्तों के विरह को भुलाने वाला अद्‌भुत ग्रन्थ हैं। यह भव्यों को नया जीवनदान देने वाला ग्रन्थ है। रागमय जीवन तो वन्ध कारक होने से अज्ञानमय जीवन है। राग के अभावरूप शुद्ध वीतरागमय जीवन ही ज्ञानमय जीवन है।

इसको समझने एवं प्राप्त करने के लिये किसी वड़े भारी पाण्डित्य की जरूरत नहीं है, इसके लिये तो मात्र तात्त्विक-रुचि और शुद्ध आत्मा के संस्कारों की जरूरत है। आत्मा का ज्ञानरूप एवं आनन्दरूप परिणमना ही शुद्ध का संस्कार है और यही मोक्ष का कारण है, इसलिये ज्ञानस्वरूप होने अर्थात् अनुभूति करने का ही आगम है विधान है।

आगम में अर्थात् भगवान की द्वादशांग वाणी में एक आत्मानुभूति करने का ही विधान है। व्यवहारनय से व्रत, तप, शील, संयम पालन करने का कथन भो आगम में आता है, परन्तु निश्चय से इन रागादि विकल्पों का मोक्षमार्ग में कोई स्थान नहीं है। निश्चय से तो एकमात्र अनुभूति ही करने योग्य है। समयसार नाटक में भी यही कहा है :—

"अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप,
अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्षस्वरूप।।"

भगवान आत्मा स्वयं ज्ञान व आनंदमय है, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान द्वारा जानकर उसकी अनुभूति करना ही मोक्षमार्ग है।

तात्पर्य यह है कि जिनागम में आत्मा के हित के लिए एक आत्मा-नुभूति करने का हो विधान है, शुभरागादि करने का नहीं – यही वीतराग-मार्ग है।

अथ पुनरपि पुण्यकर्मपक्षपातिनः प्रतिबोधनायोपक्षिपति—

पमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं पि मोक्खहेदुं अजाणंता ॥१५४॥

परमार्थबाह्या ये ते अज्ञानेन पुण्यमिच्छंति ।
संसारगमनहेतुमपि मोक्षहेतुमजानंतः ॥१५४॥

इह खलु केचिन्निखिलकर्मपक्षक्षयसंभावितात्मलाभं मोक्षमभिलषंतोऽपि तद्धेतुभूत सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वभावपरमार्थभूतज्ञानभवनमात्रमैकाग्र्यलक्षणं समयसारभूतं सामायिकं प्रतिज्ञायापि दुरंतकर्मचक्रोत्तरणक्लीवतया परमार्थभूतज्ञानभवनमात्रं सामायिकमात्मस्वभावमलभमानाः

अब फिर भी, पुण्यकर्म के पक्षपाती को समझाने के लिये उसका दोष बतलाते हैं :—

परमार्थबाहिर जीवगण, जानें न हेतू मोक्षका ।
अज्ञानसे वे पुण्य इच्छें, हेतु जो संसारका ॥१५४॥

गाथार्थ :—[ते] जो [परमार्थबाह्याः] परमार्थ से बाह्य हैं [ते] वे [मोक्षहेतुम्] मोक्ष के हेतु को [अजानन्तः] न जानते हुए – [संसारगमनहेतुम् अपि] संसारगमन का हेतु होने पर भी – [अज्ञानेन] अज्ञान से [पुण्यम्] पुण्य को (मोक्ष का हेतु समझकर) [इच्छंति] चाहते हैं ।

टीका :—समस्त कर्मों के पक्ष का नाश करने से उत्पन्न होनेवाले (निजस्वरूप की प्राप्ति) आत्मलाभस्वरूप मोक्ष को इस जगत् में कितने ही जीव चाहते हुए भी, मोक्ष की कारणभूत सामायिक की – जो (सामायिक) सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वभाववाले परमार्थभूत ज्ञान की भवनमात्र है, एकाग्रतालक्षणयुक्त है, और समयसारस्वरूप है उसकी – प्रतिज्ञा लेकर भी; दुरंत कर्मचक्र को पार करने की नपुंसकता के कारण परमार्थभूत ज्ञान के भवनमात्र सामायिकस्वरूप आत्मस्वभाव को न प्राप्त होते हुए, जिनके अत्यन्त स्थूल संक्लेशपरिणामस्वरूप कर्म निवृत्त हुए हैं और अत्यन्त स्थूल

प्रतिनिवृत्तस्थूलतमसंक्लेशपरिणामकर्मतया प्रवृत्तमानस्थूलतमविशुद्धपरिणामकर्माणः कर्मानुभवगुरुलाघवप्रतिपत्तिमात्रसंतुष्टचेतसः स्थूललक्ष्यतया सकलं कर्मकांडमनुन्मूलयंतः स्वयमज्ञानादशुभकर्म केवलं बंधहेतुमध्यास्य च व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्म बंधहेतुमप्यजानंतो मोक्षहेतुमभ्युपगच्छंति ।

विशुद्धपरिणामरूप कर्म प्रवर्त रहे हैं ऐसे वे, कर्म के अनुभव के गुरुत्व-लघुत्व-की प्राप्तिमात्र से ही सन्तुष्ट चित्त होते हुए भी, स्वयं स्थूल लक्षवाले होकर (संक्लेशपरिणाम को छोड़ते हुए भी) समस्त कर्मकाण्ड को मूल से नहीं उखाड़ते । इसप्रकार वे, स्वयं अपने अज्ञान से केवल अशुभकर्म को ही वन्ध का कारण मानकर, व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभ कर्मो को वन्ध का कारण होने पर भी उन्हें वन्ध का कारण न जानते हुए मोक्ष के कारणरूप में अंगीकार करते हैं – मोक्ष के कारणरूप में उनका आश्रय करते हैं ।

भावार्थ :—कितने ही अज्ञानीजन दीक्षा लेते समय सामायिक की प्रतिज्ञा लेते हैं, परन्तु सूक्ष्म ऐसे आत्मस्वभाव की श्रद्धा, लक्ष्य तथा अनुभव न कर सकने से, स्थूल लक्ष्यवाले वे जीव स्थूल संक्लेशपरिणामों को छोड़कर ऐसे ही स्थूल विशुद्धपरिणामों में (शुद्ध परिणामों में) राचते हैं । (संक्लेश-परिणाम तथा विशुद्धपरिणाम दोनों अत्यन्त स्थूल हैं; आत्मस्वभाव ही सूक्ष्म है ।) इसप्रकार वे यद्यपि वास्तविकतया सर्व कर्मरहित आत्म-स्वभाव का अनुभवन ही मोक्ष का कारण है, तथापि कर्मानुभव के अल्प-वहुत्व को ही वन्ध-मोक्ष का कारण मानकर व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मों का मोक्ष के रूप में आश्रय करते हैं ।

गाथा १५४ के शीर्षक, गाथा, टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

इस गाथा में पुनः पुण्यकर्म के पक्षपातियों को समझाते हुये आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! तू सामायिक स्वरूप अपने भगवान आत्मा को तो जानता नहीं है और वाह्य क्रियारूप सामायिक (चारित्र) ग्रहण करके अर्थात् दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि शुभराग का आचरण करके अपने को धर्मात्मा मानता है, परन्तु यह धर्म नहीं है । यह तो वंध का कारण है संसार का कारण है; इसे धर्म मानना मिथ्यात्व है ।

देखो, आचार्य कहते हैं कि समस्त पाप-पुण्य के भावों के नाश करने से आत्मलाभ की प्राप्ति होती है । यह आत्मोपलब्धि ही मोक्ष है । जगत

में कितने ही जीव इस मोक्ष को चाहते हुए भी मोक्ष का कारणभूत जो सामायिक है, उसे नहीं जानते। यह सामायिक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव वाले परमार्थभूत ज्ञान का भवनमात्र है। पूर्णानन्दमय आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान व रमणतारूप जो भवन – परिणमन है, वही सामायिक है। ऐसा सामायिक शुभराग के सूक्ष्म विकल्पों के भी अभावरूप है। शुभराग-रूप विकल्प सामायिक नहीं है। विकल्पमात्र में सामायिक की नास्ति है और सामायिक में विकल्पों की नास्ति है।

परमार्थभूत ज्ञान अर्थात् आत्मा का भवनमात्र ही सामायिक है। 'भवन' शब्द का एक अर्थ परिणमन तो है ही, दूसरा अर्थ घर भी होता है। भगवान आत्मा भी ज्ञान व आनन्द का घर है। शुभाशुभभाव का अभाव करने से जो आनन्दरूप निर्मल वीतराग परिणति होती है, वही इसका भवन – घर है। दया, दान आदि शुभभाव चैतन्य का भवन घर नहीं है।

सामायिक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाववाले परमार्थभूतज्ञान का भवन मात्र है – एक बात तो यह हुई, दूसरी बात यह है कि वह सामायिक स्वरूप में एकाग्रतारूप है। अपने ध्रुव एक चैतन्यस्वरूप को अग्र (मुख्य) बनाने से आत्मा में जो वीतरागता एवं अतीन्द्रिय आनन्दरूप परिणमन होता है, वह एकाग्रता लक्षणवाला परिणाम ही सामायिक है। जिसे उस सामायिक परिणाम की तो खबर नहीं है और आसन मारकर जमकर बैठ जाने से ऐसा मान ले कि मेरा सामायिक हो गया तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है। दूसरी ओर ये सेठ लोग दान-पुण्य में थोड़े-बहुत रुपया खर्च करके ऐसा मान लेते हैं कि हमारा धर्म हो गया; परन्तु भाई! इसमें किंचित् भी धर्म नहीं है, बल्कि इससे तो मिथ्यात्वभाव ही पुष्ट होता है, क्योंकि इस शरीर की व राग की क्रिया को करके सामायिक मानकर धर्म होना मान लिया जाता है।

भाई! सामायिक तो समयसार स्वरूप है। द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म से रहित समयसार स्वरूप आत्मा का अनुभव ही सामायिक है। एक सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से चैतन्य व आनन्दरूप भवन – परिणमन ही सामायिक है।

अज्ञानी सामायिक की प्रतिज्ञा लेकर बैठ तो जाता है, परन्तु दुरंत कर्मचक्र से पार पाने में असमर्थ रहता है। देखो, पुण्य-पाप के भाव ही

दुरंत कर्मचक्र है। अन्तर के महापुरुषार्थ से ही इस कर्मचक्र का उल्लंघन किया जा सकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। दया-दान-व्रत-तप आदि के शुभभावों से कर्मचक्र को नहीं जीता जा सकता। सामायिक में नमोकार मंत्र को जाप्य करता है, स्तुति पढ़ता है, परन्तु ये सब तो बहिर्लक्ष्यी शुभभाव है।

देखो, मूल संस्कृत टीका में 'क्लीबतया' शब्द है, जिसका अर्थ नपुंसक है। अज्ञानी अशुभ भाव तो छोड़ देता है, परन्तु दया, दान आदि के शुभभाव को छोड़ने में असमर्थ होने से ही आचार्य उसे नपुंसक कहते हैं। जैसे नपुंसक को संतति नहीं होती, उसीप्रकार अज्ञानी को भी धर्म की संतति नहीं होती। जो सर्व राग को छोड़कर पर्याय में स्वरूप की शुद्धता की रचना करता है, उसे वीर्य कहते हैं।

ज्ञानानन्द स्वभावी शुद्ध चैतन्य धातुमय भगवान आत्मा का अनुसरण करने से जो शुद्ध परिणमन होता है, उसे सामायिक कहते हैं। तथा राग का अनुसरण करने से जो परिणमन होता है, वह नपुंसकता है, वह पुरुषार्थ नहीं है। जैसा पाप को छोड़ा, उसीप्रकार पुण्य को भी छोड़कर शुद्धात्मा का अनुसरण करना ही पुरुषार्थ है और यही सामायिक है।

पुण्य-पाप का भाव एक समय का विकृत भाव है। उससे भिन्न आत्मवस्तु निर्मलानन्द चिदानन्दमय है। वस्तुस्वरूप से आत्मा स्वयं परमेश्वर परमात्मस्वरूप है; परन्तु अज्ञानी को उसकी खबर नहीं है और उसे यह बात चित्त में बैठती भी नहीं है। इसकारण पुण्य के परिणाम में अटक जाता है और अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द के परिणमनरूप सामायिक को प्राप्त नहीं होता। अहाहा........! आत्मा तो अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, परन्तु शुभभाव को छोड़ने में असमर्थ होने से अज्ञानी शुद्ध चैतन्यमय ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को प्राप्त नहीं कर पाता। इसकारण वह अत्यन्त स्थूल संक्लेश परिणामरूप कर्म अर्थात् हिंसादि के अशुभ भावरूप कर्मों से तो निवृत्त हुआ है, परन्तु अत्यन्त स्थूल विशुद्ध परिणाम उसके वर्तते हैं। तात्पर्य यह है कि पापभाव तो अज्ञानी ने छोड़ दिये हैं, परन्तु वह व्रत, तप, भक्ति, स्तुति वंदना आदि शुभभावरूप कर्मों में प्रवर्तता है। यहाँ जड़कर्म की बात नहीं है, परन्तु शुभभावरूप भाव कर्म की बात है। अहाहा ....! आत्मा सूक्ष्म अरूपी चैतन्यघनस्वरूप महाप्रभु है, इसकी उसे खबर नहीं है। इसकारण

सामायिक की प्रतिज्ञा लेकर भी वह स्थूल अचेतन शुभराग में प्रवर्तता है, परन्तु भाई ! शुभभाव आत्मा का समभावरूप सामायिक नहीं है, यह तो विषमभाव है ।

देखो, यहाँ व्रत, तप, पूजा, भक्ति आदि शुभभावों को अत्यन्त स्थूल व जड़ कहा है । गाथा ७२ में भी इसे अशुचि, अचेतन व दुःख का कारण कहा था । इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि शुभ राग मोक्ष का कारण नहीं है ।

आचार्यदेव ने यहाँ शुभभाव को लघुकर्म एवं अशुभभाव को गुरुकर्म कहा है । अशुभ जो गुरुकर्म है, उसे अज्ञानी ने अनेक बार छोड़ा, किन्तु जो लघु – हलका स्थूल शुभभाव है, उसको संचित करता रहा है; जबकि दोनों ही कर्म हैं, विकार हैं, दोष हैं । अज्ञानी दोष को दोषरूप न देखकर शुभभावरूप कर्म को ठीक मानकर, संतुष्ट चित्त होकर, उसमें मिठास का अनुभव करते हैं । अतः अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति का पुरुषार्थ नहीं करते । इसप्रकार वे स्थूल लक्ष्यवाले होकर समस्त कर्मकाण्ड को मूल से नहीं उखाड़ते ।

प्रश्न :—प्रवचनसार के अन्त में जहाँ ४७ नयों का वर्णन है, वहाँ तो प्रचण्ड कर्मकाण्ड के द्वारा ही ज्ञानकाण्ड प्रचण्ड करने को कहा गया है और यहाँ कर्मकाण्ड का सर्वथा निषेध किया जा रहा है – ऐसा क्यों ?

उत्तर :—वहाँ (प्रवचनसार में) ज्ञानकाण्ड के सहचर रूप से वर्तते हुये कर्मकाण्ड को बताने के लिये व्यवहारनय से ऐसा कथन किया है, किन्तु शुद्ध परिणति स्वयं अपने स्वकाल में स्वतः उत्पादरूप होती है, इसे राग की या निमित्त की, देव-गुरु-शास्त्र की कोई अपेक्षा नहीं है । अरे ! इस शुद्ध परिणति को निज द्रव्य की भी अपेक्षा नहीं है । वह पर्याय मात्र शुद्धचैतन्यमय द्रव्य का लक्ष्य करती है, बस बात इतनी ही है । निज शुद्ध द्रव्य का लक्ष्य करने मात्र से रत्नत्रय की शुद्ध वीतरागी पर्याय स्वतन्त्र अपने षट्कारकरूप परिणमन से होती है । यही उसका जन्मक्षण है, स्वकाल है ।

यहाँ तो यह कहते हैं कि अज्ञानी शुभभाव में वर्तता है, इसकारण वह स्थूल लक्ष्यवाला है, क्योंकि सूक्ष्म चैतन्य के लक्ष्य का उसमें अभाव है । ऐसी स्थिति में उसको सामायिक कैसे हो सकती है ? भले ही वह सामायिक की प्रतिज्ञा लेकर बैठ जावे और णमोकार मन्त्र या पंच परमेष्ठी

की स्तुति आदि का पाठ करे, पर इनसे क्या ? भगवान पंचपरमेष्ठी निज आत्मद्रव्य से भिन्न परद्रव्य है और परद्रव्य का स्मरण स्थूल शुभराग है। उस शुभराग से ज्ञान का भवन मात्र सामायिक कैसे हो सकता है ?

यहाँ "स्थूललक्ष्यवाला होकर" ऐसा कहकर यह सिद्ध किया है कि जो शुभ में वर्तते हैं, वे भी जड़-पुद्गल कर्म के उदयाधीन होकर नहीं वर्तते हैं; किन्तु अपने ही उल्टे पुरुषार्थ के कारण शुभ में वर्तते हैं। जहाँ पुरुषार्थ ही उल्टा होगा, वहाँ सामायिक कैसे हो सकता है ?

इस संदर्भ में कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि – पहले शुभभाव हो, तभी तो बाद में शुभभाव छूटकर शुद्धता प्रगट होगी। अशुभ से शुभ में आये बिना सीधी शुद्धता कैसे प्रगट हो सकती है ?

आचार्य कहते हैं कि भाई ! दोनों (शुभाशुभ) कर्म निरर्थक हैं। जब यह जीव अशुभ में वर्तता है, तब भी कर्मकाण्ड में वर्तता है और जब शुभ में वर्तता है, तब भी कर्मकाण्ड में ही वर्तता हैं; क्योंकि ज्ञानकाण्ड में अर्थात् निर्मल वीतराग परिणति में तो वह वर्ता ही नहीं है, इसकारण उसे सामायिक नहीं होती।

कर्मकाण्ड अर्थात् शुभ व अशुभ – ये दोनों ही कर्म अर्थात् विकार की धारायें हैं, दोनों ही कर्मधारायें हैं। शास्त्रों में भी ऐसी चर्चा आई है कि ज्ञानी के ज्ञानधारा व कर्मधारा – दोनों ही धारायें वर्तती हैं। वहाँ जो रागधारा है, उसे तो ज्ञानी हेय जानता है तथा शुद्ध चैतन्यमय ज्ञान-धारा को उपादेय मानता है। ज्ञानी की परिणति जितने अंश में शुद्ध निर्मल हुई है, वह तो मोक्ष का कारण है तथा जितने अंश में अशुद्ध मलिन है, वह अशुद्धता का अंश बंध का कारण है। ज्ञानी ऐसा यथार्थ जानते हैं कि पूर्ण वीतराग होने के पूर्व साधक (ज्ञानी) को ये दोनों ही धारायें होती हैं तथा केवली को केवल एक ज्ञानधारा ही होती है।

देखो, यहाँ कहते हैं कि – "अज्ञानी स्वयं अपने ही अज्ञान से" अर्थात् कर्म की प्रबलता के कारण नहीं, बल्कि अपनी ही कमजोरी के कारण बहिर्दृष्टि होने से एवं निज चैतन्य सत्ता पर दृष्टि नहीं होने से अज्ञानी होकर शुभभाव में अटकता है।

इसप्रकार अज्ञानी जीव अज्ञानवश हिंसा-झूठ-चोरी आदि अशुभकर्म को तो बन्ध का कारण मानता है, किन्तु व्रत, तप, शील आदि शुभभाव भी बन्ध का कारण मानकर अंगीकार करता है, परन्तु भाई ! शुभ व अशुभ दोनों एक ही जाति के हैं, दोनों एक ही कर्मरूप चाण्डालनी के पुत्र हैं । जैसे चण्डालनी का एक पुत्र ब्राह्मण के यहाँ पला और दूसरा चण्डालनी के यहाँ । पहला ब्राह्मणत्व के अभिमान से मदिरा आदि का सेवन नहीं करता और दूसरा उसी में डूबा हुआ रहता है । उसीप्रकार शुभकर्म में पाप प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु हैं तो दोनों एक ही कर्म की जाति के न ? अतः दोनों में जाति की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है । तथापि अज्ञानी जीव स्थूल लक्ष्यवाला होने से शुभभाव को बंध का कारण नहीं जानता हुआ उसे मोक्ष का कारण जानकर उसी का सेवन करता है ।

प्रश्न :—आपका यह कहना ठीक है, परन्तु दुकान पर बैठने और विषय-विकार का सेवन करने के अशुभराग की अपेक्षा तो शुभराग ठीक है न ?

उत्तर :—भाई ! एक अशुभराग की दुकान है तो दूसरी शुभराग की दुकान है । रागरहित होने की तो दोनों में से एक भी दुकान नहीं है । दोनों में ही परलक्ष्यी भाव है । धर्म तो दोनों में से एक में भी नहीं है । बेड़ी सोने की हो या लोहे, की, बन्धन तो दोनों ही हैं न ? मुक्ति तो दोनों के त्याग से ही होगी न ? जिसे दुःख से मुक्त होना है, उसे कर्म को कर्म व धर्म को धर्म जानना ही होगा । सुखी होने का अन्य कोई उपाय नहीं है ।

देखो, शुभ व अशुभ दोनों परिणामों को स्थूल कहा और इनसे भिन्न आत्मस्वभाव को या ज्ञायकभाव को सूक्ष्म कहा है । अशुभभाव जैसा स्थूल है, वैसा ही स्थूल शुभभाव है । बन्ध की अपेक्षा दोनों एक ही हैं ।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि यह तो निश्चय की बात है । इस निश्चय का साधन तो शुभाचरणरूप व्यवहार ही होगा न ?

उनसे कहते हैं कि भाई ! राग से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वभाव का आश्रय करना ही एकमात्र वीतरागतारूप कार्य का साधन है । राग वीतरागता का साधन नहीं हो सकता । हां; कहीं-कहीं भूमिकानुसार निश्चय के साथ सहचर रूप में राग की मंदता किस जाति की पायी जाती है,

यह ज्ञान कराने के लिये व्यवहार से राग की मंदता को भी वीतरागता का साधन कह दिया गया है। परन्तु वास्तव में शुभराग वीतरागता का साधन नहीं है। उपरोक्त कथन का अर्थ ही यह है कि मंदराग शुद्धता का साधन नहीं है।

भाई! यहाँ तो यह स्पष्ट कह रहे हैं कि संक्लेश परिणामों की तरह ही विशुद्ध परिणाम भी अत्यन्त स्थूल हैं और बन्ध का कारण है। एक आत्मस्वभाव ही सूक्ष्म है और मोक्ष का कारण है।

इसप्रकार सर्व कर्मरहित आत्मस्वभाव का अनुभव ही मोक्ष का कारण है, तथापि अज्ञानी अशुभकर्म को तो बन्ध कारण मानता है, परन्तु शुभकर्म को बन्ध का कारण न मानकर मोक्ष का कारण मानता है। यद्यपि शास्त्रों में तो शुभभाव को परम्परा से मोक्ष का कारण कहा गया है, किन्तु उस कथन की अपेक्षा जुदी है।

अज्ञानी शास्त्र के उस कथन की अपेक्षा को नहीं जानता। उसे समझाते हुये यहाँ कहते हैं कि भाई! साधक धर्मी जीव के जीवन में वर्तमान में शुभ का पूरा अभाव नहीं हुआ है, तथापि वह आत्मा का आश्रय लेकर अति-उग्र पुरुषार्थ के द्वारा उसका भी अभाव करेगा – इस अपेक्षा से उसे परम्परा कारण कहा है। भाई! बाहर में अपनी शुभभाव की भूमिका में रहते हुये भी अन्तर्मुखता के उग्र पुरुषार्थ द्वारा चैतन्य के अवलम्बन से वीतराग परिणति में वृद्धि होती जाती है, वही वीतराग परिणति क्रमशः पूर्णता को प्राप्त होती है। वास्तव में तो वही परम्परा मोक्ष का कारण है तथा उस समय क्रमशः अभावरूप होता हुआ जो शुभराग सहचरपने रहता है, उस पर आरोप करके उसे भी परम्परा कारण कहा गया है। वस्तुतः शुभराग परम्परा मोक्ष का कारण नहीं है।

समयसार गाथा १५५

अथ परमार्थमोक्षहेतुं तेषां दर्शयति—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रागादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ।।१५५।।

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं तेषामधिगमो ज्ञानम् ।
रागादिपरिहरणं चरणं एषस्तु मोक्षपथः ।।१५५।।

मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि । तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम् । जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानम् । रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रम् । तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम् । ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः ।

अब जीव को परमार्थ (वास्तविक) मोक्ष का कारण बतलाते हैं :—

जीवादिका श्रद्धान समकित, ज्ञान उसका ज्ञान है ।
रागादि-वर्जन चरित है, अरु ये हि मुक्ती पंथ है ।।१५५।।

गाथार्थ:—[जीवादिश्रद्धानं] जीवादि पदार्थों का श्रद्धान [सम्यक्त्वं] सम्यक्त्व है, [तेषां अधिगमः] उन जीवादि पदार्थों का अधिगम [ज्ञानम्] ज्ञान है और [रागादिपरिहरणं] रागादि का त्याग [चरणं] चारित्र है—[एषः तु] यही [मोक्षपथः] मोक्ष का मार्ग है ।

टीका :—मोक्ष का कारण वास्तव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है । उसमें, सम्यक्दर्शन तो जीवादि पदार्थों के श्रद्धानस्वभावरूप ज्ञान का होना—परिणमन करना है; जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभावरूप ज्ञान का होना—परिणमन करना ज्ञान है; रागादि के त्यागस्वभावरूप ज्ञान का होना—परिणमन करना सो चारित्र है । अतः इसप्रकार सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों एक द्रव्य का ही भवन (परिणमन) है । इसलिये ज्ञान ही परमार्थ (वास्तविक) मोक्ष का कारण है ।

भावार्थः—आत्मा का असाधारण स्वरूप ज्ञान ही है और इस प्रकरण में ज्ञान को ही प्रधान करके विवेचन किया है। इसलिये 'सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र – इन तीनों स्वरूप ज्ञान ही परिणमित होता है' यह कहकर ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है। ज्ञान है वह अभेद विवक्षा में आत्मा ही है – ऐसा कहने में कुछ भी विरोध नहीं है, इसीलिये टीका में कई स्थानोंपर आचार्यदेव ने ज्ञानस्वरूप आत्मा को 'ज्ञान' शब्द से कहा है।

गाथा १५५ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

इस गाथा में परमार्थ मोक्ष का कारण बताते हुये आचार्य कहते हैं कि परमार्थरूप से तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष का कारण है। तत्त्वार्थ सूत्र में तो पहला ही सूत्र है :—

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"

अर्थात् मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है तथा संसार परिभ्रमण का कारण मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

गाथा में "जीवादी सद्दहणं समत्त" अर्थात् जीवादि पदार्थों का श्रद्धान समकित है – ऐसा कहा है।

'आत्मावलोकन' में आता है कि वीतरागदेव की प्रतिमा स्थिर बिम्ब है, हिलती-डुलती नहीं है और उसकी आँख की पुतली भी नहीं फड़कती। ऐसी स्थिर जिनप्रतिमा को देखकर ऐसा विचार आता है कि वीतरागदेव को पहले संसार अवस्था में हम जैसा ही राग था, वह नष्ट होकर आत्म-वस्तु मूलतः जैसी वीतरागस्वभावी थी, वैसी ही वीतरागता पर्याय में प्रगट हो गई है अर्थात् वीतराग की मूर्ति हो या साक्षात् वीतराग परमेश्वर हो, दोनों को ही देखकर ऐसा विचार होना चाहिये कि भगवान को पहले छद्मस्थावस्था में जो दया, दान, व्रत, पूजा, उपवास आदि रूप शुभराग था, वह निकल गया है तथा प्रतिबिम्ब की भांति स्थिर वीतराग स्वभावी जो निजस्वरूप था, वह रह गया है।

भाई! आत्मानुभव बिना दया-दानादि के जितने भी शुभ परिणाम होते हैं, वे सब रागादि ही हैं, धर्म नहीं; क्योंकि धर्म तो एक वीतरागभाव ही है।

भगवान सर्वज्ञ-वीतरागदेव के जैसे हिंसादिभाव नहीं हैं, उसी तरह अहिंसादि शुभराग के परिणाम भी नहीं हैं। ये सब रागादि परिणाम तो

कृत्रिम हैं, मूलवस्तु में नहीं होते। जो अपनी मूल वस्तु में नही होते, वे निज का आश्रय लेते ही निकल जाते हैं। वीत-राग अर्थात् निकल गया है राग जिसमें से वह वीतराग है। इससे सिद्ध है कि राग आत्मा का स्वभाव नहीं था, अतः निकल गया और आत्मा वीतराग हो गया।

अब सच्चे गुरु के स्वरूप का विचार करते हैं। जिनको अन्तरंग में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध रत्नत्रय धर्म प्रकट हुआ है तथा सहभावी रूप से बाह्य में २८ मलगुणों को निरतिचार पालते हैं और शुभराग को धर्म नहीं मानते; कदाचित् उपदेश देते हैं तो मुख्यतया वीतरागस्वभावी शुद्ध चैतन्यस्वरूप का ही कथन करते हैं तथा उनके उपदेश में मुख्यतया स्वाश्रय से वीतरागता प्रगट करने की ही बात आती है, वे सच्चे गुरु हैं। इसी प्रकार वीतराग देव एवं निर्ग्रन्थ गुरु तो वीतरागस्वरूप होते ही हैं, उनकी वाणी भी जो ग्यारह अंग एवं चौदह पूर्व के रूप में है, उसका तात्पर्य भी एक वीतरागता ही है। अहाहा···· ! भगवान सर्वज्ञदेव परम वीतराग समभावी, निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरु समभावी एवं इनके द्वारा प्ररूपित धर्म भी वीतराग समभावरूप ही है। वीतराग कहो या समभाव कहो – दोनों एक ही हैं। हां, पुण्य-पाप का भाव विभावभाव है और इससे भिन्न चैतन्य का निर्मल परिणाम समभाव है, वीतराग भाव है और वही धर्म है।

धर्म के यथाथस्वरूप को समझे बिना मन्द कषाय के परिणाम कर-कर के जीव अनतकाल से दुःख का भार ढो रहा है। उपवास, प्रोषध, प्रतिक्रमण वगैरह शुभकर्म करके ऐसा मानता है कि मैं धर्म कर रहा हूँ, परन्तु भाई ! इसमें तो धर्म की गन्ध भी नहीं है, क्योंकि यह सब तो राग है। राग में धर्म मानना तो महा मिथ्यात्व है। जिनेन्द्र भगवान तो व्यवहार से भी उसे ही जैन कहते हैं, जिसको वीतरागी देव, निर्ग्रन्थ गुरु एव उन्हीं के द्वारा निरूपित वीतराग धर्म का श्रद्धान होता है। अन्तरग जैन-पना तो कोई बात ही और है।

शुभराग से रहित भगवान आत्मा ही केवल शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप है। ऐसे स्वभाव के श्रद्धान से जो आत्मा का निर्मल-वीतरागी परिणमन होता, वही सम्यग्दर्शन है। जीवादि पदार्थो का जो भेदरूप श्रद्धान है, वह भी राग रूप होने से वास्तविक सम्यग्दर्शन नहीं है। ऐसे वस्तुस्वरूप की तो खबर नहीं है और अनेकप्रकार से शुभ विकल्पों में ही धर्मबुद्धि होने से

ऐसा मानता है कि मैं तो धर्म कार्य कर रहा हूँ, मेरे सब पाप धुल रहे हैं। उनसे कहते हैं कि भाई ! इस क्रियाकाण्ड में धर्म कहाँ है, आत्मा कहाँ है, जिसमें धुलकर तेरा आत्मा पवित्र हो।

भाई ! सम्यग्दर्शन अपूर्व व अलौकिक वस्तु है। धर्मी जीव ऐसा विचार करते हैं कि यह शरीर, मन, वाणी, कर्म आदि अजीव हैं तथा ये पुण्य-पाप के भाव आस्रव हैं, बन्ध हैं और आप स्वयं इन सब से भिन्न ज्ञायकतत्त्व हैं। अतः इन पुण्य-पाप आदि सभी का लक्ष्य छोड़कर भगवान ज्ञायक के श्रद्धानरूप होना, परिणमना ही सम्यग्दर्शन है। अहाहा...... ... जो ज्ञायक की अनुभूतिरूप परिणाम होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है तथा आनन्द का धाम भगवान आत्मा ऐसा ही है – ऐसी प्रतीति का भाव उपजता है, वही सम्यग्दर्शन है। यह धर्म का प्रथम सोपान है। ऐसे सम्यग्दर्शन के विना ज्ञान भी सच्चा नहीं है। अरे ! ये व्रत, तप, शील संयम आदि तो एक के बिना शून्यवत हैं। जन्म-मरण रहित होने का भगवान जिनवर देव का मार्ग एक वीतरागतारूप ही है, सम्यग्दर्शन आत्मा की प्रतितीरूप वीतराग पर्याय है।

प्रश्न :—सराग सम्यक्त्व भी है न ?

उत्तर :— "सम्यक्त्व" तो सराग नहीं होता, जो आत्मा की प्रतीतिरूप परिणमन है, वह तो शुद्ध वीतराग ही है, परन्तु धर्मी के सहचारी चारित्र के दोषरूप जो सरागता होती है, उसका आरोप करके सम्यक्त्व को सराग-सम्यक्त्व उपचार से कहा जाता है।

यह चौथे गुणस्थान में प्रगट होने वाले सम्यग्दर्शन की बात है। पांचवें व छठे गुणस्थानवर्ती श्रावक व मुनि की वीतरागता (चारित्र) की तो बात ही कुछ और है। मुनिदशा तो रागरहित शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा के आश्रय से तीन कषाय के अभावपूर्वक प्रगट हुई वीतरागता है। वही सच्चा साधूपना है, सच्चा मुनिधर्म है।

'जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन' – यह 'एकेन्द्रियादि जीव हैं व घट-पटादि अजीव हैं' – ऐसे श्रद्धान की बात नहीं है; अपितु 'जीव ज्ञायकभावरूप हैं, वीतरागस्वभावी है, रागस्वभाव व कर्मस्वभावरूप नहीं है' – ऐसे स्वभाव-विभाव की भिन्नता के श्रद्धानरूप समकित की बात है।

"श्रद्धान स्वभाव से ज्ञान का होना" ऐसा जो टीका में कहा है, वहाँ ज्ञान का अर्थ आत्मा है। उस प्रकरण में आत्मा न कहकर "ज्ञान" कहने का प्रयोजन रागादि विकार से रहित आत्मा का ज्ञानरूप परिणमन है। अहाहा.......! वीतरागस्वरूपी आत्मा के श्रद्धानरूप वीतराग परिणति ही यथार्थ सम्यग्दर्शन है।

अब कहते हैं कि "जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभाव से ज्ञान का होना परिणमना ज्ञान है।"

देखो, यहाँ शास्त्रज्ञान की वात नहीं है, यह तो परलक्ष्यी ज्ञान है। यहाँ तो आत्मा के ज्ञान का अन्तर में स्व-संवेदनरूप "स्व" का प्रत्यक्ष ज्ञानरूप होने को ज्ञान कहा है। ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा जो अपने स्वरूप से ज्ञानरूप परिणमता है, उसे ज्ञान कहते हैं और वह वीतरागी पर्याय है। भाई ! त्रिलोकीनाथ वीतराग सर्वज्ञदेव ने इन्द्रों व गणधरों के बीच धर्मसभा में जो कहा है – वही यह बात है।

आत्मा का जीवादि पदार्थों को जाननेरूप परिणमना या निजज्ञायक के लक्ष्य से ज्ञान पर्यायरूप परिणमना ही सम्यग्ज्ञान है। पुण्य-पाप से रहित शुद्ध निजज्ञायक को जाननेवाला अर्थात् ज्ञायक के लक्ष्य से परिणमन करनेवाला ज्ञान भी पुण्य-पाप के भावों से रहित है। भाई ! यह सम्यग्ज्ञान की पर्याय वीतरागी पर्याय है। गाथा १७-१८ में भी आया है कि ज्ञान की पर्याय में तो ज्ञायक आत्मा ही जाना जाता है, परन्तु अज्ञानी का ज्ञायक पर लक्ष्य नहीं है, इसकारण उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है और ज्ञानी का लक्ष्य (दृष्टि) ज्ञायक पर है; इसलिये उनका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान-स्वभाव क लक्ष्य से परिणमन करनेवाला ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है।

जिन्हें यह आध्यात्मिक तत्त्व की बात पहले कभी सुनने का अवसर नहीं मिला, पहली बार ही जिसने यह बात सुनी है, उसे अटपटा सा लगता है और उसके मन में प्रश्न खड़ा होता है कि क्या जैनधर्म ऐसा है ? अब तक यह तो सुना था कि – जैनधर्म में देवदर्शन करना, पानी छानकर पीना, रात्रि भोजन नहीं करना, व्रत-उपवास करना, पूजा-पाठ करना, तीर्थयात्रा करना, दान-पुण्य करना, पर्व के दिनों में नियम-सयम से रहना व हरी सब्जी आदि नहीं खाना, ब्रह्मचर्य पालना, हिंसा-झूठ चोरी आदि पाप नहीं करना; परन्तु ये अध्यात्म की बातें तो कभी सुनी ही नहीं ! यह अध्यात्म क्या है ?

उनसे कहते हैं कि आपने जो सुना, वह सब तो बाहरी व्यवहार की अर्थात् शुभ राग की बातें हैं। इनमें भगवान आत्मा की बात ही कहाँ है ? और जब इनमें आत्मा की बात ही नहीं है, तो फिर इनमें धर्म कहाँ से होगा ? क्योंकि आत्मज्ञान के बिना तो धर्म का आरम्भ ही नहीं होता।

अनुभवप्रकाश में आया है कि जैसे सायंकालीन लाली सूर्य के अस्त होने की निशानी है तथा प्रातःकालीन लाली सूर्य के उदय होने की निशानी है। उसीप्रकार यह शरीर, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन-सम्पत्ति के प्रति उत्पन्न हुआ राग सायंकालीन लालिमा की भाँति आत्मा के अस्त होने की निशानी है; क्योंकि इस राग के वश हुआ आत्मा अन्ध होकर चारगति में परिभ्रमण करता है तथा स्वरूप की पहिचान सहित परम गुरु परमात्मा के प्रति हुआ राग प्रातःकालीन लालिमा की भाँति आत्मा के ज्ञानोदय की निशानी है।

स्वरूप की पहचान वाले या आत्मज्ञानी व्यक्ति यह जानते हैं कि जिसप्रकार भगवान परमवीतराग, सर्वज्ञ एवं निर्दोष – निर्मल है, उसीप्रकार मेरा चैतन्यस्वभाव भी परमवीतराग-निर्मल है। अतः ज्ञानी को स्वभाव के अवलम्बन से वीतरागता प्रगट होगी और पूर्ण केवलज्ञान का उदय होगा; क्योंकि उसके राग के प्रति ममत्व व स्वामित्व नहीं है। वह उस शुभराग को लाभदायक नहीं मानता, इसकारण उसका यह राग भी क्रमशः क्षीण होकर चैतन्य जागृत होगा व केवलज्ञान प्रगट होगा। यहाँ अरहंतादि के अनुराग को केवलज्ञान का कारण नहीं समझना, बल्कि स्वरूप के श्रद्धान ज्ञान एवं स्वरूप में ही उग्र रमणता करना केवलज्ञान का कारण है, ऐसा समझना।

यहाँ जीवादि पदार्थों के अधिगम (ज्ञान) की जो बात कही है, उसका अर्थ मात्र शास्त्रों के आधार से ज्ञान प्राप्त करने की बात नहीं है, बल्कि स्व-संवेदन-प्रत्यक्ष ज्ञान की बात है। चैतन्य का चैतन्यस्वभाव से होना, परिणमना ज्ञान है और यही मोक्ष का मार्ग है।

"रागादि परिहरण चरणं" में तो यह कहा है कि पुण्य व पाप दोनों को छोड़कर अन्तर में स्थिरता करने का नाम चारित्र है। वीतरागस्वभावी जीव का वीतरागभाव से परिणमना धर्म है, यही चारित्र है। ऐसे चारित्र के धारक चारित्रवंत गुरु भी बारम्बार इसी वीतरागभाव का उपदेश देते हैं।

प्रश्न : – तो क्या आचार्यदेव चरणानुयोग शास्त्र में निरूपित किये गये आचरण के अनुसार व्यवहार चारित्र का उपदेश नहीं करते ?

उत्तर :—चरणानुयोग में भूमिकानुसार यथायोग्य जैसा व्रतादि आचरणरूप व्यवहार होता है, उसका निरूपण किया गया है । आचार्यदेव अपने उपदेश में समय-समय पर उसका भी ज्ञान कराते हैं, ताकि साधक अपनी अन्तर्बाह्य दशा का विचार करके आत्मनिरीक्षण कर सकें । साधक की भूमिका में अपनी पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण आत्मा में स्थिरता न हो पाने से शुभाचरणरूप व्यवहारचारित्र भी होता है, किन्तु साधक उसे उपादेय व आदरणीय नहीं मानता । आचार्य भी उसे पाप से बचने के लिये निचली भूमिका में आचरण करने को कहते हैं, परन्तु व्यवहार-चारित्र या शुभाचरण उपादेय है – ऐसा उपदेश नहीं देते ।

सम्यग्दृष्टि को भूमिकानुसार जो दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का राग होता है, वह भी जाननेयोग्य है, अतः आचार्यदेव उसका भी यथास्थान यथायोग्य ज्ञान कराते हैं, परन्तु उसे कहीं उपादेय नहीं कहा ।

वस्तुतः थोड़ा गहराई से विचार करें तो पर का रक्षा करना तो अपने हाथ में ही नहीं है, क्योंकि हम किसी को आयु तो दे नहीं सकते और पर की दया करने का भाव रागभाव है ही, तथा राग की उत्पत्ति को आगम में हिंसा कहा ही है – यह तो जिनशासन का मूल सिद्धान्त ही है । पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के ४४वें श्लोक में स्पष्ट लिखा है कि :—

"अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥"

अर्थात् आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है और इनका उत्पन्न होना ही हिंसा है ।

प्रश्न :—एक जगह यह भी तो कहा है कि—

दया है सुख की बेलड़ी, दया है सुख की खान ।
अनन्त जीव मुक्ति गया, दया तणा परिणाम ॥

इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर :—हां, कहा है, परन्तु वह तो स्व-दया की बात है । पर की दया का शुभभाव तो इस जीव ने अनन्तबार किया, किन्तु आज तक अपने पर दया नहीं की । अन्यथा आज तक संसार में रखड़ता ही क्यों ? वह

स्वदया क्या है ? स्व-दया अर्थात् पुण्य-पाप के विकल्प से भिन्न आत्मा के ज्ञान व आनन्द की प्रतीति आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की पहचान व प्रतीति से ही आत्मा का अनन्त दुःख मिट सकता है, अतः उसे जानना, पहचानना एवं उसी में जमना, रमना ही स्व-दया है तथा उससे विपरीत मानना ही आत्मघात होने से हिंसा है। ऐसी स्व-दया निश्चय ही मुक्ति की खान है एवं सुख की वेल है। ऐसे दयारूप परिणाम से ही सभी अनन्त जीव मुक्त हुए हैं एवं भविष्य में होंगे।

आत्मा का स्वरूप वीतराग-विज्ञान है। उस स्वरूप को यथार्थ जानना तथा उसी में एकाग्र होकर उसी ज्ञानरूप परिणमना "ज्ञान" है।

अब कहते हैं कि – "रागादि के त्यागस्वभाव से ज्ञान का होना-परिणमना चारित्र है।"

देखो, पांच महाव्रतों को पालने का परिणाम, २८ मूलगुणों के पालन करने का परिणाम राग है। अव्रत का परिणाम पापभाव है, व्रत का परिणाम पुण्यभाव है। इन दोनों के त्यागभावरूप ज्ञान का अर्थात् आत्मा का होना – परिणमना धर्म है। यहाँ आत्मा ज्ञानस्वभाव से अन्तर में एकाग्र होकर परिणमता है, वह सहज ही रागरूप नहीं होता।

यह परिणमन ही राग के अभावरूप है तथा यही सम्यक्चारित्र है। "यह राग है, मैं इसे छोड़ता हूँ" – ऐसा नहीं होता, बल्कि जब परिणामस्वरूप में मग्न होकर स्थिर होता है, तव राग की उत्पत्ति ही नहीं होती। यही स्वरूप के आचरणरूप चारित्र है।

जगत चारित्र के इस स्वरूप को नहीं जानता, इसकारण बाह्य त्याग-वैराग में ही अटक जाता है। श्वेताम्बर धर्म में साधु के २७ मूलगुण कहे व दिगम्बर में २८, परन्तु ये सव तो शुभराग के विकल्प है, ये चारित्र नहीं हैं। चारित्र तो राग के अभावरूप आत्मा का वीतरागरूप परिणमन है। चाहे व्रतादिक के विकल्प हों या गुण-गुणी के भेदरूप विकल्प हों अथवा नवतत्त्व के भेदरूप विकल्प हों – सब राग हैं, अचारित्र हैं। इसे चारित्र मानना मिथ्यात्व है।

अहाहा…! जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर वेदन हो – ऐसे आत्मा का राग के त्यागपूर्वक आनन्द की दशारूप परिणमना चारित्र है। संक्षेप में कहें तो – "पर से खस एवं स्व में बस" अर्थात् आत्मा का पर से हटकर

स्व में बसना-रहना ही चारित्र है। भाई ! यदि तुझे चारित्र प्राप्त करने की भावना है तो तू व्रतादि के विकल्पों को छोड़कर स्वरूप में आ जा।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र – तीनों एक ज्ञान का ही भवन (परिणमन) है। इसलिये ज्ञान ही परमार्थ (वास्तविक) मोक्ष का कारण है।

देखो, उपरोक्त कथन का यह निष्कर्ष निकला कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र – तीनों एक आनन्दकन्द प्रभु आत्मा का ही चैतन्यमय परिणमन है। महाव्रत का परिणाम तो विजातीय है, अचेतन है, क्योंकि उनमें चैतन्य का अंश नहीं है। यह नग्नदशा और २८ मूलगुणों का विकल्प अजीव है, क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा से विरुद्ध जाति का भाव है। वस्त्र धारण करने वालों की तो यहाँ बात ही नहीं है, क्योंकि वह तो जैन साधु ही नहीं है। जैनधर्म में तो साधु नग्न (दिगम्बर) ही होते हैं। वस्त्र धारण करे और मुनिपना माने – यह तो जैनदर्शन से, सत्यदर्शन से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि उससे तो बाह्य द्रव्यलिंग भी यथार्थ नहीं है। यहाँ तो इससे भी ऊँची बात कह रहे हैं। मूलभूत तत्त्व की बात तो यह है कि नग्नपना और २८ मूलगुण के परिणाम भी शुभभाव होने से, रागरूप होने से धर्म नहीं है, क्योंकि धर्म तो एक वीतरागभाव रूप ही है।

प्रश्न :—भावलिंगी मुनिराजों को भी तो २८ मूलगुण का परिणाम होता है न ?

उत्तर :—हाँ, होता है, भावलिंग के साथ होने वाले द्रव्यलिंग में २८ मूलगुणों को निरतिचार पालन करने का शुभरागरूप व्यवहार होता है, परन्तु ज्ञानी इसे धर्म नहीं मानते। राग है और अपने पुरुषार्थ में कर्मों से बाह्य में निमित्त या सहकारीपने यह राग होता है तथा अन्तरंग में जो शुद्ध रत्नत्रयरूप निर्मल चैतन्य का परिणमन हुआ है, वही चारित्र है।

प्रश्न :—क्या निमित्त वास्तव में कारण नहीं है ?

उत्तर : निमित्त वास्तव में तो साधन या कारण नहीं है, किन्तु इन्हें व्यवहार से, उपचार से साधन कहा अवश्य जाता है। मोक्षमार्ग में निमित्तों का निषेध नहीं है, बल्कि निमित्तों को कर्ता मानने का निषेध है, क्योंकि कर्म विकार की उत्पत्ति में निमित्त तो हैं, किन्तु वे विकार के कर्ता नहीं हैं। जब कर्म का परिणमन कर्म में कर्म के कारण होता है, तब राग-

द्वेष के परिणाम उसमें निमित्त होते हैं। इससे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि निमित्त के कारण कर्मबन्धन हुआ। इसीतरह व्यवहार रत्नत्रयरूप शुभ परिणामों से आत्मा का चारित्ररूप वीतराग परिणमन नहीं होता। अकेला आत्मा का भवन कहा, इसमें व्रतादिरूप रागादि का निषेध हो गया। मात्र चैतन्य का वीतराग चैतन्यमय परिणमन ही रत्नत्रयरूप चारित्र है – यह सिद्ध हुआ।

अहाहा........! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रगट होने में कर्म के अभाव की अपेक्षा नहीं है तथा व्यवहार रत्नत्रय के सद्भाव की भी अपेक्षा नहीं है। अकेला आत्मा स्वयं निर्मल रत्नत्रयरूप परिणमता है। निश्चय से तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम स्वयं अपने षट्कारक से परिणमते हुए प्रगट होते हैं, इन्हें द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा नहीं है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सजातीय चैतन्यमय वीतराग परिणाम हैं, वे चैतन्यमय आत्मा के परिणमन हैं – ऐसा अभेद करके कहा, परन्तु इस परिणमन में द्रव्य-स्वभाव नहीं आता। शुद्ध द्रव्य के लक्ष्य से निर्मल वीत-राग परिणाम हुआ, इसकारण द्रव्य का, आत्मा का परिणमन कहा है, वास्तव में परिणमन तो पर्याय में होता है और परिणमन को द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा नहीं है।

प्रश्नः—कभी तो आप पर्याय को आत्मा का परिणमन कहते हो तथा कभी आत्मा का निषेध करके पर्याय का परिणमन कहते हो – इसे अच्छी तरह समझाइये न ?

उत्तरः—पर्याय की अपेक्षा से द्रव्य परिणमता है – ऐसा कहा जाता है, क्योंकि द्रव्य का परिणमना ही तो पर्याय है तथा द्रव्य तो त्रिकालध्रुव, अक्रिय अचल है – इस अपेक्षा से कहें तो केवल पर्याय ही पलटती है। दोनों अपेक्षाएँ भिन्न भिन्न हैं।

अहाहा ....! सम्यग्दर्शन-ज्ञान में जिस आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान होता है, वह आत्मा सदा ध्रुव अचल एकरूप चैतन्यमूर्ति सच्चिदानन्दस्वरूप है और उसका ज्ञान-श्रद्धान रूप से परिणमन होना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

देखो, यहाँ कहा है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों ही एक ज्ञान के भवन,- परिणमन हैं। आत्मा का मात्र वीतरागरूप होना, परिणमना ही

शुद्ध रत्नत्रय है। अहाहा······! एक पंक्ति में ही कितना भाव भर दिया है। राग में रत्नत्रय नहीं है तथा रत्नत्रय में राग नहीं है। अतः ज्ञान ही परमार्थ मोक्ष का कारण है। अहाहा·········! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु भगवान आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्दपने से परिणमना ही एकमात्र मोक्ष का मार्ग है।

गाथा १५५ के भावार्थ पर प्रवचन

'आत्मा का असाधारण स्वरूप ज्ञान ही है।' आत्मा के स्वभाव में अनन्त गुण-धर्म हैं, उनमें असाधारण गुण एक ज्ञान ही है। ज्ञान गुण आत्मा के सिवाय किसी अन्य द्रव्य में नहीं है तथा स्व व पर को भिन्न-भिन्न रूप से जानने का एकमात्र ज्ञान का ही स्वभाव है। आत्मा के किसी गुणों में भी जानने का स्वभाव नहीं है। अहाहा·········! आत्मा में जो अनन्त गुण हैं, उनमें एक ज्ञान का ही स्व-पर को भेदपूर्वक जानने का स्वभाव है। श्रद्धा, सुख आदि गुण न स्वयं को जानते हैं न अन्य गुणों को, इसकारण ज्ञान को ही आत्मा का असाधारण स्वरूप कहा है।

इस प्रकरण में ज्ञान को ही प्रधान करके विवेचन किया है। इस मोक्षमार्ग के प्रकरण में ज्ञान यानि आत्मा और आत्मा की वीतराग परिणति ही प्रधान है। व्रतादि रूप राग की चर्चा जो बीच-बीच में आती है, वह प्रधान नहीं है, क्योंकि वह मोक्षमार्ग नहीं है। ज्ञान का परिणमन ही मोक्षमार्ग है।

"इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र — इन तीनों रूप ज्ञान ही परिणमित होता है — यह कहकर ज्ञान को मोक्ष का कारण कहा है।" सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्ररूप से एक आत्मा ही परिणमता है, अर्थात यह रत्नत्रय आत्मा का ही वीतरागी परिणमन है, इसलिये आत्मा ही मोक्ष का कारण है।

"ज्ञान अभेद विवक्षा में आत्मा ही है — ऐसा कहने में कुछ भी विरोध नहीं है।"

देखो, यद्यपि ज्ञान आत्मा का एक गुण है, तथापि असाधारण होने से अभेद विवक्षा से ज्ञान को ही आत्मा कहा है।

अहाहा·········! कैसी गजब की बात है, सभी को समझने लायक है, परन्तु फुरसत मिले तब न! दिन-रात धन्धा-व्यापार में लगे रहते हैं, किन्तु भाई! ये सब धन्धा-व्यापारादि तो पाप के काम हैं। इन विषय-

कषायादि पाप से बचने के लिये एवं आत्मा को समझकर धर्म धन-की प्राप्ति करने के लिये समय निकालकर प्रतिदिन दो-चार घण्टा स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये, तत्त्व का अभ्यास करना चाहिये। स्वाध्याय करे, आत्मा का मनन-चिन्तन करे, तत्त्व विचार करे तो मंद-कषाय होने से पुण्य भी होता है और तत्त्वज्ञान के अभ्यास से धर्म प्रगट करने की योग्यता भी आती है। यद्यपि पुण्य से धर्म नहीं होता, तथापि गति सुधरती है। ऐसे अवसर में यदि कोई अन्तर पुरुषार्थ जागृत कर ले तो धर्म की प्राप्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है।

परन्तु एक तो जीवों को पाप प्रवृत्ति की प्रचुरता के कारण फुरसत ही नहीं मिलती, दूसरे कदाचित् प्रसंग बन भी जावे तो बाह्य क्रियाकाण्ड में चढ़ जाता है। पूजा, भक्ति, यात्रा, दान आदि क्रियाओं में ही धर्म मानकर सतुष्ट हो जाता है। कभी कदाचित् उपदेश सुनने को भी मिल जावे तो मिथ्या गुरु इनकी श्रद्धा व समय लूट लेते हैं।

यथार्थ बात सुनने का सौभाग्य मिलना कोई सहज बात नहीं है। जिन्दगी यों की यों ही चली जा रही है। भाई! ये वैभव आदि संयोग कोई शरण नहीं होंगे। भाई! तू तो चैतन्यमूर्ति वीतरागस्वभावी आत्मा है। इसका ज्ञान कर अन्तर्मुख होकर तू इसी की शरण में आ जा। धर्म प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

किसी को ऐसा लगता है कि आत्मा वर्तमान में वीतराग कैसे हो सकता है? यह तो जब केवली होगा, तब वीतरागी होगा। उससे कहते हैं कि – आत्मा तो सदा ही, तीनों काल स्वभाव से वीतराग स्वरूप ही है। यदि स्वभाव से वीतराग न हो तो पर्याय में वीतरागता प्रगट कहाँ से होगी? इसलिये भाई! तू तो अपने वीतरागस्वरूप आत्मा में तन्मयता से एकाग्र होकर आत्मा का ही आश्रय कर! उसी में जम जा! इससे ही तुझे पर्याय में वीतरागता प्रगट हो जावेगी। यही धर्म है, यही मोक्षमार्ग है। यही स्वयं भगवान बनने का मार्ग है।

अथ परमार्थमोक्षहेतोरन्यत् कर्म प्रतिषेधयति—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥१५६॥

मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारेण विद्वांसः प्रवर्तते ।
परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो विहितः ॥१५६॥

यः खलु परमार्थमोक्षहेतोरतिरिक्तो व्रततपःप्रभृतिशुभकर्मात्मा केषांचिन्मोक्ष हेतुः स सर्वोऽपि प्रतिषिद्धः, तस्य द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्याभवनात्, परमार्थमोक्षहेतोरेवैकद्रव्यस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्य भवनात् ।

अब, परमार्थ मोक्षकारण से अन्य जो कर्म, उनका निषेध करते हैं :—

विद्वान् जन भूतार्थ तज, व्यवहारमें वर्तन करे ।
पर कर्मनाश विधान तो, परमार्थ-आश्रित संतके ॥१५६॥

गाथार्थः—[निश्चयार्थं] निश्चयनय के विषय को [मुक्त्वा] छोड़कर [विद्वांसः] विद्वान [व्यवहारेण] व्यवहार के द्वारा [प्रवर्तते] प्रवर्तते हैं; [तु] परन्तु [परमार्थम् आश्रितानां] परमार्थ के (आत्मस्वरूप के) आश्रित [यतीनां] यतीश्वरों के ही [कर्मक्षयः] कर्मों का नाश [विहितः] आगम में कहा गया है । (केवल व्यवहार में प्रवर्तन करनेवाले पण्डितों के कर्मक्षय नहीं होता ।)

टीका :—कुछ लोग परमार्थ मोक्षहेतु से अन्य जो व्रत, तप इत्यादि शुभकर्मस्वरूप मोक्षहेतु मानते हैं, उस समस्त ही का निषेध किया गया है; क्योंकि वह (मोक्षहेतु) अन्य द्रव्य के स्वभाववाला (पुद्गलस्वभाववाला) है इसलिये उसके स्वभाव से ज्ञान का भवन (होना) नहीं बनता । मात्र परमार्थ मोक्षहेतु ही एक द्रव्य के स्वभाववाला (जीवस्वभाववाला) है, इसलिये उसके स्वभाव के द्वारा ज्ञान का भवन (होना) बनता है ।

भावार्थ :—क्योंकि आत्मा का मोक्ष होता है, इसलिये उसका कारण भी आत्मस्वभावी ही होना चाहिये। जो द्रव्य के स्वभाववाला है, उससे आत्मा का मोक्ष कैसे हो सकता है ? शुभकर्म पुद्गलस्वभाववाले हैं, इसलिये उनके भवन से परमार्थ आत्मा का भवन नहीं बन सकता; इसलिये वे आत्मा के मोक्ष के कारण नहीं होते। ज्ञान आत्मस्वभावी है, इसलिये उसके भवन से आत्मा का भवन बनता है; अतः वह आत्मा के मोक्ष का कारण होता है। इसप्रकार ज्ञान ही वास्तविक मोक्षहेतु है।

गाथा १५६ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

देखो, दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि शुभभाव यद्यपि मोक्ष के वास्तविक कारण नहीं हैं, तथापि कुछ लोग इन्हें मोक्ष का परमार्थ कारण मानते हैं; उनके भ्रमनिवारणार्थ एवं परमार्थ मोक्ष के हेतुओं का ज्ञान कराने के लिये यहाँ उन समस्त शुभभावों में मोक्षमार्ग के कारणपने का निषेध किया गया है।

भगवान आत्मा जैसा त्रिकाल स्वभाव से शुद्ध चैतन्यस्वरूप वीतराग-स्वभावी है, उसीप्रकार वर्तमान पर्याय में भी वीतरागभाव से परिणमित होना परमार्थ मोक्षमार्ग है। उससे भिन्न व्रत, तप वगैरह शुभकर्मरूप या शुभभावरूप राग यथार्थ मोक्षमार्ग नहीं है।

गाथा १५४ में तो इस संदर्भ में व्रत, नियम, शील, तप – ये चार बोल कहे हैं, यहाँ उनमें से प्रथम व अन्तिम व्रत व तप के माध्यम से कहा गया है कि कुछ अज्ञानी जीव जिन दया-दानादि पुण्यभावों को मोक्षमार्ग मानते हैं, वे वस्तुतः मोक्षमार्ग नहीं हैं। अज्ञानी ने शुभराग के प्रेम में पड़कर आत्मा की अनन्त उपेक्षा की है, उसे मरण तुल्य बना दिया है। वीतराग मार्ग तो एक ओर ही पड़ा रह गया और उसका स्थान शुभराग ने ले लिया है। सारा अज्ञानी जगत मोक्षमार्ग के नाम पर शुभराग की ही उपासना में लगा है।

अरे भाई ! जैनशासन में वीतराग मार्ग के सिवाय अन्य कोई मोक्ष का मार्ग ही नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने स्वयं मूल गाथा में यह कहा है – "मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टन्ति" अर्थात् जो शास्त्रों के पाठी विद्वानजन निश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मा के ज्ञान बिना केवल

व्रत, संयम तपादि के शुभरागरूप व्यवहार में ही प्रवर्तन कर रहे हैं, उनके कर्मों का क्षय नहीं होता, क्योंकि व्रतादि का राग वीतरागमार्ग से भिन्न है, अन्य है, अर्थात् परमार्थस्वरूप शुद्धात्मा के जाननेवाले एवं उसका आश्रय करनेवाले विद्वानों के ही कर्मों का क्षय होता है।

देखो, आचार्य कुन्दकुन्द के समय में भी शास्त्र का पठन-पाठन करनेवाले कोई-कोई विद्वान भी व्रतादि शुभरागरूप व्यवहारधर्म से मोक्ष-मार्ग होना मानते होंगे, तभी तो उन्हें ऐसा लिखना पड़ा।

तथा वैसे तो यतीश्वर प्रायः परमार्थस्वरूप आत्मा के ज्ञाता ही होते थे, तथापि उन्हें भी आचार्यदेव ने यह संकेत कर दिया है कि – परमार्थ के आश्रित मुनिवर कर्मक्षय करते हैं, अन्य यतीश्वर नहीं।

अहाहा.........! स्वरूप में गुप्त हुये अन्तर आनन्द में रमनेवाले यतीश्वर को ही आगम में मोक्ष कहा है। भाई ! तू व्रत, तप आदि रागरूप व्यवहार धर्म को ही मोक्ष का कारण मानता है, सो तेरी यह मान्यता ठीक नहीं है। शुद्ध चैतन्यमय आत्मा के आश्रय से प्रगट हुई वीतराग परिणतिरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान व चारित्र ही मोक्ष का कारण है।

बिचारे अज्ञानीजनों को तो यह भी खबर नहीं है कि वास्तविक सुख क्या है और दुःख क्या है ? और सुख की प्राप्ति का व दुःख के नाश का सच्चा उपाय क्या है ? बस देखा-देखी व्रत, तप करने लगते हैं। वे नहीं जानते कि सभीप्रकार का राग दुःख व आकुलतामय है। जब तक निराकुलतारूप अपने स्वभाव की खबर नहीं पड़ेगी अथवा आत्मज्ञान उदित नहीं होगा, तबतक अन्य कोई भी उपाय जीव को सुखी नहीं कर सकता।

अज्ञानी जन निर्णय किये बिना ही बाह्य क्रियाओं में धर्म मानकर संतुष्ट हो जाते हैं, परन्तु भाई ! यह व्रत, तपादि का शुभराग आग है, आकुलता है, किन्तु बिचारे वे क्या करें ? कभी निराकुल आनन्द का अनुभव किया हो तो उसकी तुलना में आकुलतारूप दुःख की भी पहचान हो।

आचार्य यहाँ कहते हैं कि परमार्थ (शुद्धात्मा) के आश्रय से ही मोक्षमार्ग एवं मोक्ष होता है। जो विद्वान केवल व्यवहार में ही लीन होकर प्रवर्तन करते हैं, उनको तो बन्ध ही होता है। जो बन्ध के कारणों को मोक्ष का कारण मानते हैं, वे अज्ञानी हैं, मिथ्यादृष्टि हैं।

प्रश्न :—परन्तु ये व्रतादि व्यवहार मोक्षमार्ग तो हैं न ?

उत्तर :—व्यवहारमोक्षमार्ग तो केवल कथनमात्र है। व्यवहार-मोक्षमार्ग वस्तुतः मोक्षमार्ग नहीं है। सच्चे मोक्षमार्ग के सहचारी राग को उपचार से व्यवहारमोक्षमार्ग कहा है। वास्तव में तो यह निश्चयमोक्षमार्ग में प्रवर्तन करनेवाले जीवों का रागरूप बाह्य व्यवहार दर्शाया है।

यदि शास्त्र में व्यवहार की मुख्यता से कथन किया हो, तो उसे यथास्थान सही समझने का प्रयत्न करना चाहिये। व्यवहार के कथन का यथार्थ अभिप्राय समझे बिना ही यदि कोई विद्वान राग को ही यथार्थ मोक्षमार्ग मान ले तो यह उसका अज्ञान ही है। शास्त्र पढ़कर भी बहुत लोग उसका मर्म नहीं समझ पाते, अतः उल्टा ही अर्थ ग्रहण कर लेते है। ११वीं गाथा के भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी ने लिखा है कि – "प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का (राग का) पक्ष तो अनादिकाल से ही है और इसी का उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर में करते हैं तथा जिनवाणी में भी व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्ब (सहायक) जानकर बहुत किया है, किन्तु इसका फल संसार ही है।" पं. जयचन्दजी ने कैसा स्पष्टीकरण किया है ? इसी का नाम यथार्थ पाण्डित्य है।

देखो, व्यवहार अन्य द्रव्य के स्वभावमय है, चैतन्यस्वभावमय नहीं है। ये जो व्रत, तप, शील, संयम, उपवास, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति-पूजा, विनय, शास्त्र-स्वाध्याय आदि शुभराग है, वह सब अन्य द्रव्य के स्वभावमय है, अर्थात् पुद्गलस्वभावी है, इसमें चैतन्य का स्वभाव नहीं है, क्योंकि राग के स्वभाव से ज्ञान का भवन – परिणमन नहीं होता। इसकारण व्यवहार के क्रियाकाण्ड से आत्मा का निश्चयधर्म अर्थात् मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता।

प्रश्न :—शास्त्रों में व्यवहार को भी निश्चय मोक्षमार्ग का साधन कहा है न ?

उत्तर :—हां, व्यवहार साधन व निश्चय साध्य – ऐसा कथन शास्त्रों में है, परन्तु वह निमित्त का ज्ञान कराने के लिये व्यवहारनय का कथन है। वास्तव में तो पर, विकार एवं भेद-विकल्प से भी भेदज्ञान करके अपने शुद्ध चैतन्य का साधना ही एकमात्र साधन है।

समयसार नाटक में भी कविवर बनारसीदास ने निम्नांकित पद्य में इस बात को स्पष्ट किया है :—

"जे-जे वस्तु साधक हैं, तेउ-तेउ बाधक हैं,
बाकी राग द्वेष की दशा की कौन बात है ।"

व्रत, तप आदि का शुभभाव पुद्गलद्रव्य के स्वभावमय है, उसके द्वारा आत्मा का वीतरागस्वभावरूप परिणमन नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य का परिणमन नहीं होता ।

प्रश्न :—राग-द्वेष का परिणाम तो जीव का है, क्योंकि जीव की पर्याय में होता है, इसे पुद्गल का परिणाम क्यों कहा गया है ?

उत्तरः— राग आत्मा का स्वभाव नहीं है, विकारी परिणाम है, नाशवान है, आत्मा में सदाकाल नहीं रहता नष्ट हो जाता है । यदि राग आत्मा का निजस्वभाव होवे तो आत्मा में सदैव रहना चाहिये, क्योंकि स्वभाव का कभी नाश नहीं होता, इसकारण उसे अन्य द्रव्य के स्वभावमय कहा है और पुद्गल कर्म के उदय से होता है, इसकारण उसे पुद्गल का परिणाम कहा गया है । आत्मा की चैतन्यजाति का नहीं है और पुद्गल के आश्रय से होता है, अतः सभी प्रकार के राग को पुद्गल का ही कहा है ।

भगवान आत्मा सच्चिदानन्दरूप प्रभु सदा ज्ञानानन्द स्वभावी है तथा व्रत, तप, भक्ति आदि का शुभभाव जड़ पुद्गल स्वभावी है। अतः इसके द्वारा भगवान आत्मा का निर्मल-परिणमन नहीं होता । इसीकारण व्रतादि का राग मोक्ष का कारण नहीं हो सकता । बापू ! भगवान आत्मा तो निर्मल ज्ञानानन्द स्वभावी वस्तु है, इसके स्वभाव में राग नहीं है । वर्तमान पर्याय में जो राग है, इसके निकल जाने पर भगवान आत्मा केवल शुद्धचैतन्य, ज्ञान-आनन्दमय रह जाता है । उस शुद्ध चैतन्य का अनुभव ही मोक्षमार्ग है, मोक्ष का कारण है । जो निकल जाता है, वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ?

वर्तमान में तो कुछ लोग बाह्य तप-त्याग में ही धर्म मानकर बैठे हैं। समाचार पत्रों में छपा आता है कि अमुक १० वर्ष की बालिका ने १० निर्जल उपवास किये, अमुक ने छह रस का त्याग किया आदि………। परन्तु भाई चैतन्यस्वभाव के आश्रय बिना ये सब क्रियायें पर के लक्ष्यवाली होने से पौद्गलिक कहीं जाती हैं, ये मोक्ष की कारण कैसे हो सकती हैं ? भगवान आत्मा का ज्ञान व आनन्दरूप परिणमना राग की क्रियाओं द्वारा संभव नहीं है ।

अरेरे! यह परम सत्य बात जीवों को सुनने को नहीं मिलती, इस-कारण व्यवहार में अटके रहते हैं, परन्तु इसको जाने बिना पता नहीं कहाँ-किस गति में जाना पड़ेगा। बापू! यह ठाट-बाट सब यहीं पड़ा रह जायेगा। यह पाँच-पचास करोड़ की पूँजी जिस पर जगत इतराता है, अन्त समय में काम नहीं आयेगी। यह धूल-मिट्टी का ढेर तेरा है ही कहाँ ? तेरी पूँजी तो तेरा अनंतज्ञान व अनंत आनन्द स्वभाव है, जो सदा तेरे पास है और रहेगा।

अरे रे सरोवर के किनारे आकर भी प्यासा रह गया।

यहाँ यह सिद्ध किया है कि पुद्गल के निमित्त से आत्मा में उत्पन्न हुआ राग अन्य द्रव्य का स्वभाव है, आत्मा का स्वभावरूप परिणमन उस शुभरागरूप विकार के द्वारा नहीं हो सकता। भाई ! यही मूल मुद्दे की बात है, इसका निश्चय किये विना सब बाह्य व्रतादि की क्रियायें व्यर्थ हैं।

भगवान आत्मा तो त्रिकाल ज्ञान व आनन्द स्वभाव वाला ही है तथा उसका ज्ञान व आनन्दरूप परिणमन मात्र ही मोक्ष का हेतु है। पण्डित हुकमचन्द के द्वारा बनाये गये गीत में आता है न कि "मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ"।

और भी खूब सारी बातें इस गीत में आई हैं कि – "मैं राग-रंग से भिन्न एवं भेद से भी भिन्न निराला तत्त्व हूँ" अर्थात् भगवान आत्मा राग से एवं पुद्गल से तो भिन्न है ही, गुण-गुणी भेद से भी भिन्न है।

अहाहा.........! भगवान आत्मा गुणभेद का भी स्पर्श नहीं करता – ऐसा अभेद एकरूप वस्तु है। ऐसे आत्मा का ज्ञानानन्द स्वभाव से होना, परिणमना ही मोक्षमार्ग है। शेष तो सब कहने मात्र के मोक्षमार्ग हैं, वास्तविक नहीं।

भाई ! यह किसी के घर की बात नहीं है। अपितु यह तो तीन लोक के नाथ भगवान जिनेश्वर देव के द्वारा इन्द्र व गणधरों के समक्ष समोशरण में कही गई बात है। उसी को यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा है।

अहाहा......! एक चैतन्य द्रव्य के स्वभाव के आश्रय से जो आत्मा का ज्ञातापने-आनन्दपने-शान्तिपने-स्वच्छतापने-प्रभुतापने परिणमन होता है, वही मोक्ष का हेतु है। जो शुद्ध चैतन्य से व्याप्त भगवान आत्मा पर

दृष्टि डालता है, उसका परिणमन नियम से शुद्ध चैतन्यमय होता है, तथा वही परिणमन मोक्ष का हेतु है ।

दया, दान, व्रतादि के परिणाम पुद्‌गलस्वभावी होने से निषेध किये गये हैं, क्योंकि इनसे भिन्न एक द्रव्यस्वभाव से – चैतन्यस्वभाव से जो परिणमन होता है, वही मोक्ष का हेतु है । भगवान आत्मा स्वभाव से दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप है । उसका सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपने जो आचरण होता है, जो स्वरूप आचरण होता है, वह मोक्ष का हेतु है तथा जो पररूप आचरण है, वह सब बन्ध का कारण है ।

अज्ञानी मिथ्या श्रद्धासहित शुभभावों के फलस्वरुप अनन्तबार नव ग्रैवेयक तक गया, परन्तु उससे भवभ्रमण नहीं मिटा । मिथ्यात्वसहित शुभभाव के समय भी घातिया कर्मो का बन्ध होता है, साथ में अघाती कर्मो में पुण्य प्रकृतियों का बन्ध भी होता है, उसके फल में एकाध भव स्वर्ग का मिल जाता है अथवा बड़ा सेठ या राजा हो जाता है, तो उससे क्या ? मिथ्यात्व का परम्परा फल तो निगोद ही है न ?

कदाचित बड़े-बड़े करोड़पति, अरबपति सेठ जैन होने के नाते शराब, मांस आदि अभक्ष्य भक्षण न करते हों तो नरक तो नहीं जायेंगे, परन्तु सत्समागम, स्वाध्याय तथा आत्मा का चिन्तन-मनन के अभाव में व धंधा पानी में मायाचारी व झूठ-सच की परिणति से अशुभभाव के फल में तिर्यञ्चगति में जावेगें । क्या करें ऐसे परिणामों का यही फल है । यदि तिर्यञ्चगति में न जाना हो तो आत्मा को समझना ही पड़ेगा । मिथ्यात्व परिणति छोड़े बिना कुगति से बचने का अन्य कोई उपाय नहीं है ।

भाई जब मैं स्थानकवासी सम्प्रदाय में घर-गृहस्थी में था, तब पालेज दुकान पर स्थानकवासी शास्त्रों में - आचरांग, सूत्रकृतांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन वगैरह सब शास्त्रों का स्वध्याय किया था, परन्तु जब यह समयसार हाथ आया और इसका अवगाहन किया तो ऐसा लगा कि सच्चा मोक्षमार्ग तो इसमें दर्शाया है, अन्य में तो सब जगह क्रिया-काण्ड की ही बाते हैं ।

गाथा १५६ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यह तर्क दिया है कि जब मोक्ष अर्थात् सिद्धपद आत्मा को ही होता है, तो उसका कारण भी आत्मा के स्वभावमय ही होना चाहिये ।

तात्पर्य यह है कि यदि जीव का स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा, वीतरागी, निराकुल आनन्दमय है तो उसके मोक्ष का कारण भी वैसा ही हो सकता है। मिट्टी से ही तो मिट्टी का घड़ा बनता है, अन्य धातु से मिट्टी का घड़ा कैसे बन सकता है ? उसी तरह जो अन्य द्रव्य के स्वभाववाला है, उससे आत्मा का मोक्ष कैसे हो सकता है ? ये दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि का भाव अन्य द्रव्य के स्वभाववाला है, रागस्वभावी है, अतः इससे आत्मा का मोक्ष नहीं हो सकता। राग यदि जीव का स्वभाव होता तो आत्मा में से निकल कैसे जाता ? जो वीतरागी हो गये, उन सब का राग निकल गया है न ? इसकारण यह सिद्ध ही है कि राग अन्य द्रव्य के स्वभाववाला है, इसकारण राग मोक्ष का कारण नहीं हो सकता।

देखो भाई ! आत्मा की इस सूक्ष्म बात को सुनने का अवसर बड़े भाग्य से ही मिलता है, क्योंकि एक तो स्त्री-पुत्रादि के पालन-पोषण तथा धंधा-व्यापार के सांसारिक कार्यों से ही फुरसत निकालकर शास्त्र सुनने का प्रयत्न करे भी तो तत्त्व की मूल बात के बदले बाह्य उपदेशादि में ही अटक जाता है। भाई ! यदि इसीप्रकार पाप-पुण्य की क्रियाओं में जीवन चला गया तो चार गति की भ्रमणा नहीं मिटेगी।

दुनियाँ में तो दो-पाँच करोड़ की सम्पत्ति हो, घर में दो-तीन लड़के-लड़कियाँ हों, सबको आवासादि की सभी सुख-सुविधायें हों तो जगत उसे भाग्यशाली कहता है, वह भी अपने को भाग्यशाली मानता है; परन्तु यह कोई भाग्यशालीपने का लक्षण नहीं है। यह सब तो भोगशाली हैं, इस अपेक्षा पापी हैं। भाग्यशाली तो उसे कहते हैं, जो बाह्य अनुकूलता का आत्मा के हित में उपयोग करता है। तत्त्व की बात को, आत्मा की सत्य बात को समझने का पुरुषार्थ करता है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की शरण में जाकर आत्मा-परमात्मा को जानने-पहचानने का प्रयत्न करता है। दर्शन-पाठ में कहा भी है कि :—

"अति पुण्य उदय मम आया, प्रभु तुमरा दर्शन पाया।"

निज को जाने बिना, समयसार की सत्य बात समझे बिना जिन्दगी को खोना तो इस मानव जीवन की सबसे बड़ी हार है।

श्वेताम्बरों के यहाँ एक "शत्रुंजय माहात्म्य" पुस्तक है, दिगम्बर समाज में भी एक साधू के पास "सम्मेदशिखर माहात्म्य" की एक पुस्तक

देखी थी। वे साधू कहते थे कि इसमें ऐसा है कि जो सम्मेदशिखरजी की यात्रा करता है, उसे ४९ भव में मोक्ष हो जाता है। तब भी मैंने उनसे कहा था कि – हे भाई ! परद्रव्य के दर्शन से संसार पार नहीं होते। ऐसा लिखा हो सकता है, किन्तु उसे भक्तिवश कहा गया व्यवहार का कथन समझना चाहिये। जहाँ जो अपेक्षा हो उसे समझना पड़ेगा।

यहाँ तो यह कहा गया है कि – दया, दान, पूजा, यात्रा, आहार-दान आदि भाव अन्य द्रव्य स्वभावी होने से ससार के ही कारण हैं, मोक्ष के कारण नहीं। मोक्ष तो आत्मा को होता है, इसलिये मोक्ष का कारण भी आत्मस्वभावी ही होना चाहिये। राग जो आत्मा का विभावस्वभाव है, वह मोक्ष का हेतु बने और उससे ससार मिटे – यह बात तीनकाल में कभी भी सभव नहीं है।

श्वेताम्बरों के यहाँ "ज्ञानसूत्र" नामक शास्त्र में एक मेघकुमार का अधिकार है। उसमें कथा है कि – मेघकुमार के जीव ने अपने पूर्व भव हाथी की पर्याय में एक खरगोश पर करुणा की थी, इससे उसने अपने संसार का अभाव किया। कथा इसप्रकार है :—

मेघकुमार का जीव पूर्व में हाथी था, उस समय एक बार उसे विचार आया कि जंगल में कभी भी आग लग सकती है, अतः उसके बचने के लिये कुछ उपाय करना चाहिये। एतदर्थ उसने एक योजन जगह झाड़ियों से रहित साफ-सुथरी करके मैदान बना लिया। उसकी संभावना के अनुसार एक बार चारों ओर जंगल में आग लग गई तो सभी जानवर अपनी प्राण रक्षा हेतु उस मैदान में आ गये। मैदान पूरा भर चुका था, जरा भी जगह खाली नहीं थी, उस हाथी ने विश्राम हेतु अपना पैर ऊपर को उठाया ही था कि एक खरगोश उसके पैर के नीचे आ गिरा। हाथी अपने पैर के नीचे खरगोश को पड़ा देखकर उसकी प्राण रक्षा के लिये अपना पैर ढाई दिन तक (जब तक अग्नि नहीं बुझी) ऊँचा ही किये रहा। इसप्रकार उसने खरगोश की दया पाली। उस दया के फलस्वरूप हाथी को संसार का अभाव हो गया। किन्तु भाई ! यह अकाट्य सत्य है कि अन्य द्रव्य के स्वभाव से तीन काल में भी किसी का संसार नहीं घटता। दया आदि का भाव भी अन्य द्रव्य के स्वभावमय है, अतः उससे संसार कैसे कट सकता है ? परन्तु क्या करें ? स्वयं कुछ समझते नहीं, जिनवाणी पढ़ते नहीं, अज्ञानियों के रचे शास्त्र पढ़कर भ्रमित होते हैं, तो होनहार का विचार करके समता आती है।

देखो भाई ! आत्मा का ज्ञाता-दृष्टारूप चैतन्यमय परिणमन ही मोक्ष का हेतु है और रागादिरूप परिणमन मोक्ष का हेतु नहीं है । भगवान आत्मा तो आनन्द का नाथ व ज्ञान का सागर है । उसमें ही रुचि होना और उसी में निमग्न होना – परिणमना ही आत्मस्वभावी परिणमन है और यही निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान व चारित्ररूप परिणमन मोक्ष का कारण है । व्रतादि शुभकर्मरूप परिणमन अन्य द्रव्यस्वभावी होने से आत्मा के परिणमनरूप नहीं हो सकता, अतः वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ?

जिस तरह समुद्र के तल में विद्यमान रत्नों को प्राप्त करने के लिये लोग साधनों को जुटाकर समुद्र तल में पहुँचते हैं, उसीप्रकार भगवान आत्मा भी ज्ञान का समुद्र है, उसमें भी अनत चतुष्टयरूप रत्न विद्यमान है, उन रत्नों को प्राप्त करना हो तो शुभाशुभ की तरंगों को भेदकर आत्मा के तल में जाना पड़ेगा ।

भगवान ज्ञान समुद्र आत्मा अपने तल में गुणरत्नों के कारण उछल रहा है । जो भाग्यवान धर्मी पुरुषार्थी जीव वहाँ अन्तरतल में पहुँचता है, वह आनन्द, शान्ति एवं ज्ञानरूप रत्नों को प्राप्त करता है, उनसे ही उसे मोक्षमार्ग मिलता है और जो भाग्यहीन यानि पुरुषार्थहीन व्यक्ति तल में नहीं पहुँच पाते, उन्हें राग व पुण्य शंख ही हाथ आते हैं । उन्हें संसार ही प्राप्त होता है । अहाहा……! धर्मी जीवों को तो ज्ञान व आनन्द की प्राप्ति होती है और पुण्य की रुचिवाले जीवों का केवल संसार ही पकता है ।

भाई ! कुछ लोग कहते हैं कि "कानजी स्वामी जादूगर हैं, उनके पास जादू की एक लकड़ी है, जिसके द्वारा उन्होंने लोगों को अपने वश में कर रखा है । जो एकबार वहाँ जाता है, वहीं का हो जाता है ।" इसप्रकार जिसके जो मन में आता है, सो हमारे बारे में कहता है । हमने तो कभी-कहीं ऐसा कहते किसी से नहीं सुना है । तुम्हीं लोग जो दुनियादारी की बातें बता देते हो, सो सुन लेते हैं । हम तो दुनियादारी की बातों में पड़ते भी नहीं है ।

अरे भाई ! हम लोगों के पास कोई जादू-फादू नहीं है । यह लकड़ी तो शास्त्र का पन्ना पलटने के लिये रखते हैं । हाथ का पसीना शास्त्र में लगे तो शास्त्र की असादना होती है न ? इसलिये रखते हैं । एक चन्दन

की अच्छी लकड़ी थी, वह भी कोई दे गया था। उसे जादू की लकड़ी समझकर कोई चुराकर भी ले गया है। यह दूसरी प्लास्टिक की है। इस लकड़ी में क्या है? यह तो जड़-पुद्गल है। इसमें कोई मंत्र-तंत्र भी नहीं किया है। भाई? यहाँ तो बस एक ही मंत्र है कि - "प्रभु! तू स्वयं ज्ञान व आनन्द का नाथ है, कारण परमात्मा है।" इसी बात को सुनकर जिज्ञासु जीव खिंचे चले आते हैं। बस यही एकमात्र मंत्र है।

भाई! यह जवानी यों ही चली जायेगी, वृद्धावस्था आकर घेर लेगी, अंग-अंग शिथिल हो जावेंगे, तब फिर पश्चाताप करने से क्या लाभ होगा? अतः जब तक वृद्धावस्था नहीं आ जाती, इन्द्रियाँ शिथिल नहीं होतीं, शरीर में रोग नहीं व्यापते, उसके पहले ही तत्त्वाभ्यास पूर्वक आत्म-ज्ञान कर लें। तत्त्वदृष्टि से सभी प्रकार की प्रतिकूलताओं का सामना करने की अद्भुत सामर्थ्य प्रगट हो जाती है।

यदि अवसर चूक गया और तत्त्वदृष्टि प्राप्त नहीं कर सका तो वृद्धावस्था में शारीरिक प्रतिकूलताओं के साथ ऐसा मरणतुल्य मानसिक क्लेश होगा, जिसकी तूने कभी कल्पना भी न की होगी।

इसलिये तत्काल आत्महित में प्रवृत्त हो जा। इस साढ़े तीन हाथ के शरीर के एक-एक रोम में ९६-९६ रोग हैं – ऐसा भगवान के ज्ञान में आया है। अतः अब विषय-कषाय की प्रवृत्ति छोड़ दे, राग की दृष्टि छोड़ दे, यह सब तो आकुलता की जननी है।

मोक्षमार्ग तो एक द्रव्यस्वभावी है। परमार्थ से परद्रव्य से आत्मा का भवन नहीं हो सकता, इसलिये वह आत्मा के मोक्ष का कारण नहीं हो सकता।

अहाहा.........! ज्ञानरूप से, आनन्दरूप से, वीतराग भावपने से आत्मा का परिणमन होना ही मोक्ष का कारण है। इसप्रकार ज्ञान ही वास्तविक मोक्ष का हेतु है। ज्ञान अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा ही मोक्ष का कारण है, अन्य कोई मोक्ष का कारण नहीं है।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(अनुष्टुप)

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥१०६॥

श्लोकार्थ :—[एकद्रव्यस्वभावत्वात्] ज्ञान एकद्रव्यस्वभावी (जीव-स्वभावो) होने से [ज्ञानस्वभावेन] ज्ञान के स्वभाव से [सदा] सदा [ज्ञानस्य भवनं वृत्तं] ज्ञान का भवन वनता है; [तत्] इसलिये [तद् एव मोक्षहेतुः] ज्ञान ही मोक्ष का कारण है।

कलश १०६ पर प्रवचन

जानना, श्रद्धान करना एवं स्थिर होना – ये तीनों एक मात्र जीव-द्रव्य स्वभावी या चैतन्यस्वभावी हैं। राग की क्रिया से भिन्न रहकर आत्मा का जो अन्तर्परिणमन हुआ, वह चैतन्यस्वभावी होने से ज्ञान का अर्थात् आत्मा का ही परिणमन है। आत्मद्रव्य के शुद्ध स्वभाव के आश्रय से ही आत्मद्रव्य का शुद्ध होना – परिणमना होता है। इसमें किसी परद्रव्य की या राग के आश्रय की अपेक्षा नहीं है।

नियमसार की दूसरी गाथा की टीका में आता है कि – 'निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान ज्ञान व अनुष्ठानरूप शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग परम निरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है।' तात्पर्य यह है कि शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग शुद्ध चैतन्य के भवन – परिणमन मात्र ही है, इसलिये ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। ज्ञान अर्थात् स्वरूप को जानने-देखने रूप परिणाम स्वरूप में विश्रान्तरूप वीतराग परिणाम को प्रगट करने के लिये यह जानने-देखनेरूप ज्ञान ही मोक्ष का कारण है।

देखो, इस कलश में कितना सार भरा है। ज्ञान-श्रद्धान व शान्ति-रूप वीतराग परिणति – ये तीनों एक जीव द्रव्य स्वभावी हैं और यही मोक्ष का कारण है। राग की क्रिया अन्य द्रव्यस्वभावी होने से धर्म का कारण नहीं हो सकती।

(अनुष्टुप)

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यांतरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ।।१०७।।

श्लोकार्थ :—[द्रव्यान्तरस्वभावत्वात्] कर्म अन्यद्रव्यस्वभावी (पुद्गलस्वभावी) होने से [कर्मस्वभावेन] कर्म के स्वभाव से [ज्ञानस्य भवनं न हि वृत्तं] ज्ञान का भवन नहीं बनता; [तत्] इसलिये [कर्म मोक्षहेतुः न] कर्म मोक्ष का कारण नहीं है।

कलश १०७ पर प्रवचन

देखो, कर्म अर्थात् व्रत, तप, दया, दान, भक्ति, पूजा आदि सभी शुभभाव अन्यद्रव्यस्वभावी यानि पुद्गल द्रव्यस्वभावी हैं। राग आत्मा का स्वभाव नहीं है, यदि राग आत्मा का स्वभाव हो तो वह आत्मा से कभी पृथक् नहीं हो सकता था; किन्तु जब आत्मा अपने चैतन्यस्वभाव में स्थिर होता है, तब राग निकल जाता है और आत्मा केवलज्ञानस्वरूप रह जाता है।

आत्मावलोकन शास्त्र में आता है कि – "भगवान की मूर्ति या साक्षात् अरहंत भगवान को देखकर धर्मी जीवों को ऐसा विचार आता है कि जिसतरह भगवान के होंठ नहीं हिलते, पग नहीं चलते, शरीर स्थिर है, आँख की पलक भी नहीं हिलती है, उसीतरह अपना आत्मस्वभाव भी अचल है, स्थिर है। तथा जिसतरह पहले परमात्मा के भी संसार दशा में राग था फिर टल गया और जो वीतरागस्वभाव था, वह रह गया, उसीतरह अपने आत्मा के अन्दर वीतराग स्वभाव ही है। राग आत्मा का स्वभाव नहीं है।

अहाहा........! भगवान आत्मा तो चैतन्यस्वभाव का सागर है तथा राग जड़स्वभावी है। राग को कहाँ खबर है कि – "मैं राग हूँ" इस शरीर व राग को जाननेवाला तो जीव है, जो स्वयं सदा ही ज्ञानस्वरूप है; परन्तु अज्ञानी को अपने इस चैतन्यस्वभाव व उसकी सामर्थ्य का पता नहीं है, अतः बारम्बार प्रश्न उठाता है कि वैभव को प्राप्त कर सकेगा न ? आत्मा को पाने के लिये व्यवहार धर्म का पालन भी तो करना पड़ेगा न ? आदि ......।

उनसे कहते हैं कि भाई ! जो शुभराग को उपादेय मानकर उसे कर्ताबुद्धि से करता है, उसे मिथ्यात्व का महापाप होता है; क्योंकि यह राग मैं करूँ और यह मेरा कर्तव्य है – यह मान्यता ही मिथ्यात्व है।

भरत चक्रवर्ती सम्यग्दृष्टि थे, यद्यपि उनके ९६ हजार स्त्रियाँ थीं, ९६ करोड़ पैदल सेना थी, ९६ करोड़ ग्राम थे, इसप्रकार अपार वैभव के रहते हुये भी वे आत्मज्ञानी थे, क्योंकि उनके अन्तर में यह ज्ञान था कि जो मुझमें इन संयोगों के प्रति राग उत्पन्न होता है, जब वह भी मेरा स्वभाव नहीं है तो ये संयोग मेरे कैसे हो सकते हैं ? अतः ये सब पर हैं, इनसे मुझे

किंचित् भी लाभ या हानि नहीं है। मैं तो एक ज्ञान व आनन्द का घनपिण्ड हूँ।

यह बात यथार्थ है कि वे छः लाख पूर्व तक चक्रवर्ती पद में रहे। (एक पूर्व में ७० लाख छप्पन हजार करोड़ वर्ष होते हैं) उससमय उनके यद्यपि चारित्र नहीं था, परन्तु श्रद्धा यथार्थ थी, इसकारण चक्रवर्ती जैसा वैभव संबंधी राग भी उन्हें विशेष कर्मबन्ध का कारण नहीं बन सका। दीक्षा लेकर अन्तर में फिर ध्यानमग्न हुये तो अन्तर्मुहूर्त में ही सब कर्मो का क्षय कर डाला और केवलज्ञान उत्पन्न कर लिया। यद्यपि उनमें चारित्र का दोष था, तथापि सम्यक्त्व का बल भी था। मिथ्यात्व नहीं था, इस-कारण जो बंध हुआ था, वह अत्यन्त अल्प था।

देखो, एक ओर मिथ्यात्व का ऐसा महापाप जो नरक-निगोद के अनन्त भव धारण करावे और दूसरी ओर भरत चक्रवर्ती के ९६ हजार रानी व छः खण्ड की विभूति ग्रहण करने जैसा राग एवं असंयम व अचारित्ररूप मलिन पर्याय होने पर भी समकित सहित होने से वह पाप अल्पस्थिति व अल्प अनुभाग वाला था। जब उनका पुरुषार्थ जागृत हुआ तो लीला मात्र में उखाड़ फेंका तथा अन्तर्मुहूर्त में ही जलहल ज्योतिर्मय केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

अहाहा........! एक भवावतारी इन्द्र जिसके पास मित्ररूप से बैठता था तथा जो हीराजड़ित सिंहासन पर बैठता था, वह भरत चक्रवर्ती आत्मज्ञानी था। उसे राग व बाह्य वैभव से भिन्न अपनी परिपूर्ण शुद्ध चैतन्यस्वभावमय भगवान आत्मा का अन्तर में भान था। भगवान ऋषभ-देव जब कैलाश पर्वत पर से मोक्ष पधारे, तब भरतजी वहाँ उपस्थित थे। उस समय ३२ लाख विमानों का स्वामी एकभवावतारी इन्द्र भी वहाँ पहुँचा था। जब वहाँ इन्द्र ने भरतजी को देखा तो भरतजी की आँखों से अश्रुधारा बह रही थी। भरतजी विलाप कर रहे थे कि अरे! आज भरतक्षेत्र का केवल्य सूर्य अस्त हो गया है। यह लौकिक सूर्य तो रोज प्रातः उदित होता है एवं शाम को अस्त हो जाता है, परन्तु आज तो केवलज्ञान का सूर्य अस्त हुआ है, जिससे सर्वत्र अन्धकार हो गया है। इसप्रकार विलाप करते हुये भरतजी की आँख में आँसू देखकर इन्द्र ने कहा – अरे, भरतजी यह मैं क्या देख रहा हूँ? आपका भी तो यह अन्तिम भव है,

आप भी तो अति आसन्न भव्य, चरमशरीरी हैं। मुझे तो अभी एक मनुष्य भव और धरना पड़ेगा, तब कहीं मोक्ष मिलेगा। तब भरत ने कहा – हे इन्द्र ! मुझे सब पता है, परन्तु क्या करूँ, धर्मात्मा के वियोग से ऐसा राग आ गया है यह मेरी पुरुषार्थ की कमजोरी है।

आचार्य यहाँ कहते हैं कि भरतजी को वह चारित्र का दोष था उनके द्वारा श्रद्धान में किंचित् कमी नही थी।

अहाहा........! सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक वस्तु है। इसका विषय क्या है ? इस बात का अज्ञानी जन को पता नहीं है, इसकारण केवल बाह्य क्रियाकाण्ड में ही अटक जाते हैं और उसी के गीत गाया करते हैं, परन्तु सम्यक्त्व बिना इस बाह्याचार रूप कर्म की कोई कीमत नहीं है। यहाँ कहते हैं कि यह बाह्याचाररूप शुभभाव अन्यद्रव्य स्वभावी है, अतः इससे आत्मा का भवन – परिणमन नहीं हो सकता। निश्चय से ब्रह्मस्वरूप शुद्ध आत्मा में रमना – आचरण करना ही ब्रह्मचर्य है और वही वास्तविक धर्म है। यही इस कलश में कहा है – "कर्म मोक्ष हेतुः न" अर्थात् शुभकर्म मोक्ष का कारण नहीं है।

देखो, आचार्यदेव ने खूब घोषणा कर-करके कहा है कि – व्रत, तप आदि बाह्य क्रियारूप शुभकर्म मोक्ष का कारण नहीं हैं, तथापि यह बात लोगों को क्यों नहीं सुहाती ? समझना तो बहुत दूर, सुनना भी नहीं चाहते। "जिसका महान भाग्योदय होगा, उसे ही यह बात रुचेगी, सुनेगा भी वही और समझेगा भी वही।" यह विचार करके हो संतोष धारण करना पड़ता है।

अकेले सुनने से भी काम नहीं चलेगा, जब पुरुषार्थ करके अन्तर्निमग्न होगा, तब आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान होगा। दिव्यध्वनि के सुनने मात्र से भी आत्मज्ञान नहीं होता। भगवान आत्मा के स्वद्रव्य के आश्रय से ही सम्यग्ज्ञान होता है। कलश १०६ की प्रथम पंक्ति में कहा है कि ज्ञान एक द्रव्यस्वभावी होने से उसमें ही मोक्ष का कारणपना है तथा यहाँ कहा है कि कर्म अन्यद्रव्यस्वभावी है, अतः इसमें मोक्ष का कारणपना घटित नहीं होगा।

अब आगामी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं :—

(अनुष्टुभ्)

मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात्स्वयमेव च ।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥१०८॥

श्लोकार्थ :—[मोक्षहेतुतिरोधानात्] कर्म मोक्ष के कारणों का तिरोधान करनेवाला है और [स्वयम् एव बन्धत्वात्] वह स्वयं ही बन्धस्वरूप है [च] तथा [मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्] मोक्ष के कारणों का तिरोधायिभावस्वरूप (तिरोधानकर्ता) है, इसलिये [तत् निषिध्यते] उसका निषेध किया गया है ।

कलश १०८ पर प्रवचन

यह कलश अगले कथन की सूचना के रूप में लिखा गया है । इसमें कहते हैं कि – कर्म मोक्ष के कारण का तिरोभाव करनेवाला है । कर्म अर्थात् पुण्य-पाप के भाव, वास्तव में तो यहाँ कर्म से केवल पुण्यभाव से प्रयोजन है, क्योंकि पुण्य में ही अज्ञानी कोक्ष का कारणपना देखते हैं । पाप को तो कोई भी मोक्ष का कारण या धर्म नहीं मानता । अत: यहाँ पाप की चर्चा से प्रयोजन नहीं है । व्रत, तप, दान, शील, भक्ति आदि के शुभभाव मोक्ष के कारणों का घात करनेवाले हैं । जो मोक्षमार्ग का घातक है, वे ही मोक्ष का कारण कैसे बन सकते हैं ? नहीं बन सकते । अत: यह कहना निरर्थक है कि व्यवहार से निश्चय होता है ।

भगवान आत्मा के मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है । पूर्णस्वभाव की प्रतीति, पूर्णस्वभाव का ज्ञान एवं पूर्णस्वभाव में रमणता-लीनतारूप आत्मा का होना, परिणमना ही मोक्ष का कारण है । व्रत, तप, भक्ति, पूजा, दान आदि समस्त शुभकर्म मोक्ष के कारणों के अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के घातनशील हैं । यह दुनियाँ को स्वीकृत हो या न हो – यह उसकी जिम्मेदारी है, दुनियाँ तो अनादि से अज्ञान के पंथ में हैं, उनके न मानने से मोक्षमार्ग नहीं बदलेगा । यदि सुखी होना हो, मुक्त होना हो तो दुनियाँ को ही अपनी मान्यता ठीक करना पड़ेगी ।

अहाहा.........! पूर्णानन्द स्वभावी चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा के आश्रय के सिवाय अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है । व्रत, तप, शील आदि शुभभाव स्वयं बन्धस्वरूप हैं, इसकारण वे बन्ध के ही कारण हैं और मोक्षमार्ग का नाश करनेवाले हैं ।

समयसार कलश में भी इसी श्लोक की टीका करते हुये श्री राजमल जी ने स्वयं शंका-समाधान करते हुये लिखा है कि – यहाँ कोई जानेगा कि शुभ-अशुभ क्रियारूप जो आचरण या चारित्र है, वह जिसतरह करने योग्य नहीं है, उसीतरह निषेध करने योग्य भी तो नहीं है। उसका समाधान इसप्रकार है कि – निषेध करने योग्य है, क्योंकि उसका व्यवहार चारित्र नाम होते हुये भी वह दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है – इसकारण विषय-कषाय की तरह ही क्रियारूप चारित्र भी निषिद्ध है।

सम्यग्दर्शन विना सब अंक विना शून्य है, निस्सार है, क्योंकि सम्यग्दर्शन विना चारित्र होता ही नहीं है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने दर्शनप्राभृत की गाथा ३ में कहा है कि :—

"दंसण भट्टा भट्टा दंसण भट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरिय भट्टा, दंसण भट्टा ण सिज्झंति ॥"

जो दर्शन-श्रद्धान से भ्रष्ट हैं, वे सभी प्रकार से भ्रष्ट हैं, वे कभी भी मुक्ति प्राप्त नहीं करेंगे तथा जो चारित्र से भ्रष्ट होते हुये भी श्रद्धा एवं ज्ञान से भ्रष्ट नहीं हुये हैं, वे कालान्तर में चारित्र को प्राप्त कर अवश्य ही मुक्ति को प्राप्त कर लेंगे।

भाई! वीतराग मार्ग वीतरागभाव से प्रारंभ होता है, सम्यग्दर्शन से शुरू होता है। जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं है, वहाँ ज्ञान भी सच्चा नहीं है और चारित्र भी सच्चा नहीं है।

अब कहते हैं कि – "मोक्षहेतु तिरोधायित्वात्" अर्थात् व्रतादिरूप जितना शुभकर्म है, वह सब मोक्ष के कारण के विरुद्ध स्वभाववाला है, इसकारण उस कर्म का निषेध किया गया है।

इसप्रकार शुभकर्म निम्नांकित ३ बोलों से निषिद्ध कहा गया है :—

1. कर्म मोक्ष के कारण का घातक है।
2. कर्म स्वयं बन्ध का स्वरूप है।
3. कर्म मोक्ष के कारणों के विरुद्ध स्वभाववाला है।

अहाहा.........! भगवान आत्मा तो चैतन्यस्वभावी सदा मुक्तस्वरूप ही है तथा इसके आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के निर्मल परिणाम होते हैं, वे भी अबन्धस्वरूप हैं; इसलिये एकमात्र वे ही मोक्ष के कारण

हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि शुभभाव से आत्मा का कल्याण होना मानना मिथ्यादर्शन है।

यहाँ मिथ्यादर्शन, ज्ञान व चारित्र के परिणाम को विपरीत स्वभाववाला कहकर जड़ अचेतन कहा है। तात्पर्य यह है कि जहाँ चैतन्य के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम होते हैं, वहाँ मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम नहीं होते। दोनों जाति के परिणाम एकसाथ नहीं होते। जिसे आत्मा का निर्विकल्प श्रद्धान-ज्ञान एवं शान्ति का वेदन होता है, उसे कदाचित् राग होता है, परन्तु उस ज्ञानी-समकिती को मिथ्यात्व नहीं होने से उस राग के प्रति स्वामित्व नहीं होता। इसकारण उसे पूर्ण वीतरागता न होने पर भी मिथ्याचारित्र नहीं है, सम्यक्चारित्र ही है।

अहाहा.......! स्वभाव से ही आत्मद्रव्य भगवानस्वरूप वीतरागस्वरूप है। उसका श्रद्धान-ज्ञान व रमणतारूप परिणाम मोक्षमार्ग है और शुभाशुभ कर्म उसके घातक हैं, स्वयं बन्धस्वरूप हैं और शुद्ध परिणति से विपरीत स्वभाववाले हैं, अतः निषेध्य हैं।

भाई ! यह भगवान की वाणी तो भवरोग का नाश करनेवाली परमामृतस्वरूप है, परन्तु जिसको शुभभाव की रुचि है, उस कायर को यह बात सुहाती नहीं है। शुभभाव की रुचिवालों को शास्त्र में भी कायर-नपुंसक कहा है, *क्योंकि उनके धर्म की संतति नहीं होती।*

जो दर्शन-श्रद्धान से भ्रष्ट हैं, वे सबसे भ्रष्ट हैं। "शुभभाव करते रहने से धीरे-धीरे कल्याण हो जायेगा" – ऐसी जिसकी मान्यता है, वह दर्शन से अर्थात् श्रद्धा से भ्रष्ट है, इसलिये वह दर्शन-ज्ञान व चारित्र – इन तीनों से भ्रष्ट है। इसीकारण तो कहा है कि – पाँच महाव्रत, गुप्ति समिति आदि २८ मूलगुणरूप जो व्यवहारचारित्र का परिणाम है, वह शुभभावरूप कर्मकाण्ड है। ऐसे पुण्य के परिणाम तो अनन्तबार किये, परन्तु उनसे क्या ? लेशमात्र भी किंचित् भी सुख नहीं पाया, अतः इस शुभभाव का मोक्षमार्ग में निषेध किया गया है।

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधानकरणं साधयति—

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णादव्वं ॥१५७॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं ॥१५८॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं ॥१५९॥

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।
मिथ्यात्वमलावच्छन्नं तथा सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यम् ॥१५७॥
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।
अज्ञानमलावच्छन्नं तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यम् ॥१५८॥
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।
कषायमलावच्छन्नं तथा चारित्रमपि ज्ञातव्यम् ॥१५९॥

अब पहले, यह सिद्ध करते हैं कि कर्म मोक्ष के कारणों का तिरोधान करनेवाला है :—

मलमिलनलिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्रका ।
मिथ्यात्वमलके लेपसे, सम्यक्त्व त्यों ही जानना ॥१५७॥
मलमिलनलिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्रका ।
अज्ञानमलके लेपसे, सद्ज्ञान त्यों ही जानना ॥१५८॥
मलमिलनलिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्रका ।
चारित्र पावे नाश लिप्त कषाय मलसे जानना ॥१५९॥

गाथार्थ :—[यथा] जैसे [वस्त्रस्य] वस्त्र का [श्वेतभावः] श्वेतभाव [मलमेलनासक्तः] मैल के मिलने से लिप्त होता हुआ [नश्यति] नष्ट हो जाता है – तिरोभूत हो जाता है, [तथा] उसीप्रकार [मिथ्यात्व-

ज्ञानस्य सम्यक्त्वं मोक्षहेतुः स्वभावः परभावेन मिथ्यात्वनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते, परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत् । ज्ञानस्य ज्ञानं मोक्षहेतुः स्वभावः परभावेनाज्ञाननाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते, परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत् । ज्ञानस्य चारित्रं मोक्षहेतुः स्वभावः परभावेन कषायनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते. परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्र-

---

मलावच्छन्नं] मिथ्यात्वरूपी मैल से व्याप्त होता हुआ – लिप्त होता हुआ [सम्यक्त्वं खलु] सम्यक्त्व वास्तव में तिरोभूत होता है [ज्ञातव्यम्] ऐसा जानना चाहिये । [यथा] जैसे [वस्त्रस्य] वस्त्र का [श्वेतभावः] श्वेतभाव [मलमेलनासक्तः] मैल के मिलने से लिप्त होता हुआ [नश्यति] नाश को प्राप्त होता है – तिरोभूत हो जाता है, [तथा] उसीप्रकार [अज्ञानमलावच्छन्न] अज्ञानरूपी मैल से व्याप्त होता हुआ – लिप्त होता हुआ [ज्ञानं भवति] ज्ञान तिरोभूत हो जाता है [ज्ञातव्यम्] ऐसा जानना चाहिये । [यथा] जैसे [वस्त्रस्य] वस्त्र का [श्वेतभावः] श्वेतभाव [मलमेलनासक्तः] मैल के मिलने से लिप्त होता हुआ [नश्यति] नाश को प्राप्त होता है – तिरोभूत हो जाता है, [तथा] उसीप्रकार [कषायमलावच्छन्नं] कषायरूपी मैल से व्याप्त – लिप्त होता हुआ [चारित्रम् अपि] चारित्र भी तिरोभूत हो जाता है [ज्ञातव्यम्] ऐसा जानना चाहिये ।

टीका :—ज्ञान का सम्यक्त्व जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है, वह परभावस्वरूप मिथ्यात्व नामक कर्मरूपी मैल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत हो जाता है, जैसे परभावस्वरूप मैल से व्याप्त हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है, ज्ञान का ज्ञान जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है, वह परभावस्वरूप अज्ञान नामक कर्ममल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत हो जाता है, जैसे परभावस्वरूप मैल से व्याप्त हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है । ज्ञान का चारित्र जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है । वह परभावस्वरूप कषाय नामक कर्ममल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत होता है, जैसे परभावस्वरूप मैल से व्याप्त हुआ श्वेतवस्त्र का स्वभावभूत श्वेतवस्भाव तिरोभूत हो जाता है । इसलिये मोक्ष के कारण का (सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का) तिरोधान करनेवाला होने से कर्म का निषेध किया गया है ।

स्वभावभूतश्वेतस्वभाववत् । अतो मोक्षहेतुतिरोधानकरणात् कर्म प्रतिषिद्धम् ।

भावार्थ :—सम्यक्दर्शन-ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग है । ज्ञान का सम्यक्त्वरूप परिणमन मिथ्यात्वकर्मसे तिरोभूत होता है; ज्ञान का ज्ञानरूप परिणमन अज्ञानकर्म से तिरोभूत होता है; और ज्ञान का चारित्ररूप परिणमन कषायकर्म से तिरोभूत होता है । इसप्रकार मोक्ष के कारणभावों को कर्म तिरोभूत करता है, इसलिये उसका निषेध किया गया है ।

गाथा १५७ से १५९ एवं उनकी टीका पर प्रवचन

देखो, यहाँ जो मिथ्यात्वरूप कर्ममल की चर्चा है, वह भावमिथ्यात्व की बात है, 'शुभभाव धर्म है' – ऐसी विपरीत मान्यतारूप मिथ्यात्व की बात है । इस मिथ्यात्वरूप मैल से व्याप्त होने से त्रिकाली चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का सम्यक्त्व तिरोभूत हो जाता है, जिसे टीका में "ज्ञान का सम्यक्त्व" कहा है । ज्ञान का सम्यक्त्व कहो या आत्मा का सम्यक्त्व कहो – एक ही बात है । इसका अर्थ है त्रिकाली शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा की अनुभूति या प्रतीति, वह प्रतीति मोक्ष के कारणरूप आत्मा का निज स्वभाव है ।

जिसतरह श्वेत वस्त्र को श्वेत स्वभाव से अन्यभूत मैल लगने से उसका श्वेत स्वभाव ढक जाता है, उसीतरह भगवान आत्मा को उसकी विपरीत श्रद्धानरूप मैल लग जाने से उसका समकित स्वभाव ढक जाता है, प्रगट नहीं होता । यह तो ज्ञान के सम्यक्त्व की बात हुई ।

अब ज्ञान के ज्ञान या आत्मा के ज्ञान की बात करते हैं । "ज्ञान का ज्ञान" अर्थात् ज्ञानानन्द स्वभावी चैतन्य सूर्य भगवान आत्मा का ज्ञान, जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है, वह परभावस्वरूप अज्ञान नामक कर्ममल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत हो जाता है ।

देखो, यहाँ ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान चैतन्यस्वरूप निज आत्मा के ज्ञान को ही "ज्ञान का ज्ञान" कहा है । इसप्रकार यहाँ सम्पूर्ण आत्मा को "ज्ञान" शब्द से सम्बोधित किया है । ज्ञान का ज्ञान अर्थात् अखण्ड एकरूप त्रिकाली चैतन्यमय ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा का ज्ञान । चैतन्यमय [illegible] का यह ज्ञान ही मोक्ष का कारण है । यहाँ शास्त्रज्ञानरूप पराश्रित

ज्ञान की बात नहीं है। यह तो उस आत्मज्ञान की बात है, जिसमें संवर, निर्जरा व मोक्ष की पर्याय भी नहीं है तथा जो शुद्ध चैतन्यमय नित्यानन्द-स्वरूप अनंत गुण का एक रूप है – ऐसा आत्मज्ञान ही मोक्ष के कारणरूप स्वभाववाला है।

ऐसा जो मोक्ष का कारणरूप आत्मस्वभाव है, वही ज्ञान का ज्ञान है। वह ज्ञान परभावरूप अज्ञानरूपी कर्ममल से ढक जाता है। शुभभाव का धर्म मानना ही अज्ञान है और वह अज्ञान ही मैल है। ऐसे अज्ञानरूपी मैल से व्याप्त होने से आत्मा का ज्ञान तिरोभूत हो जाता है, सम्यग्ज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

वीतराग मार्ग में समझने योग्य और भी बहुत सी बातें हैं, जिनके जाने बिना मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता। उन्हें जानने के बजाय जगत सारे दिन सांसारिक कामों में उलझा रहता है, रचा-पचा रहता है, रात्रि के ६-७ घण्टा नींद के निकल जाते हैं। मुश्किल से कदाचित् थोड़ा-बहुत समय धर्म के नाम पर निकालता भी है, सो उसमें भी समाज की नेतागिरी या बाह्य क्रिया-कलापों में, तीर्थयात्रा आदि में तथा खाने-पीने में ही खराब कर देता है। ऐसी चित्त की अस्थिरता में कहीं सूक्ष्म बात समझ में आती है? इसके लिये तो चित्त की स्थिरतापूर्वक उग्र पुरुषार्थ की जरूरत है, धंधे-पानी की तरह इसमें भी तन-मन से लगना पड़ता है। प्रभु! यह मार्ग संसार मार्ग से भिन्न है। दुनियादारी की बातें तो पूर्वपरिचित हैं, अतः सुलभ भी हैं; परन्तु यह बात तो अनादिकालीन अपरिचय के कारण सरल होने पर भी कठिन लगती है, अतः सावधानी से सुनना चाहिए। सुखी होने का इसके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है।

जैन परमेश्वर यह कहते हैं कि – ज्ञान का ज्ञान अर्थात् आत्मा का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। शास्त्र का ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। भाई! बहुत गंभीर बात है। साक्षात् भगवान की दिव्यध्वनि से सुनने से उत्पन्न हुआ ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान भी बहिर्लक्ष्यी – परलक्ष्यी है न? भगवान की दिव्यध्वनि तो अज्ञानी से भी अनन्त बार सुनी है, परन्तु उससे क्या हुआ? दिव्यध्वनि सुनकर जो धारणारूप परलक्ष्यी ज्ञान होता है, वह सम्यग्ज्ञान नहीं है। दिव्यध्वनि तो निमित्तमात्र है। यहाँ आचार्य कहते हैं कि ज्ञान का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। सम्पूर्ण ज्ञान का पिण्ड चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा जो इस देह-देवालय के अन्दर विराजता है,

उसका स्वसंवेदन ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। ऐसा ज्ञान का ज्ञान शुभभावरूप अज्ञान से, कर्ममल से ढक जाता है, आच्छादित हो जाता है।

अब ज्ञान के चारित्र यानि आत्मा के चारित्र की बात कहते हैं – "ज्ञान का चारित्र" जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है, वह परभाव-स्वरूप कषाय नामक कर्ममल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत होता है, जैसे कि परभाव स्वरूप मैल से व्याप्त हुआ श्वेतवस्त्र का स्वभावभूत श्वेतपना तिरोभूत हो जाता है।

देखो, यहाँ 'सच्चा चारित्र किसे कहते हैं ?' – यह समझाया जा रहा है। त्रिकाल आनन्दस्वरूपी भगवान आत्मा जो अपने ही अंदर सदा विद्यमान है, उसमें अन्तर्दृष्टि करके उसी में अन्तर्लीन होने पर, रमणता करने पर जो अतीन्द्रिय आनन्द का एवं शान्ति का वेदन होता है, वह चारित्र है। उसे ही यहाँ 'ज्ञान का चारित्र' कहा गया है। ज्ञान का चारित्र अर्थात् आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्व-संवेदन। आत्मा के इसी चारित्र को यहाँ मोक्ष का कारणरूप स्वभाव कहा है।

पंच महाव्रतादिरूप पुण्य का परिणाम मोक्ष का कारणरूप स्वभाव नहीं है। यह तो शुभराग है, कषायरूप मैल है। यह तो ज्ञान के चारित्र को अर्थात् आत्मा के चारित्र को ढक देता है, आच्छादित करता है, घात करता है। जो आत्मा का घातक है, वह आत्मा को लाभदायक कैसे हो सकता है ? जो व्यक्ति पुण्य के परिणाम को आत्मा के लिये लाभदायक मानता है, उसकी तो मूल मान्यता ही उल्टी है।

तीर्थंकर परमात्मा की दिव्यध्वनि में तो चारित्र का स्वरूप ऐसा आया है कि – सच्चिदानन्दस्वरूप वीतरागस्वभावी ध्रुव आत्मा में अन्तर-रमणतारूप निर्विकल्प वीतराग परिणति का होना ही चारित्र है तथा ऐसे ज्ञान के चारित्र का अर्थात् आत्मा के चारित्रगुण का परभावरूप से परिणमना, कषायरूप होना, शुभरागरूप होना आत्मा का घातक परिणाम है। उस घातक परिणाम को करते-करते अर्थात् शुभरागरूप व्यवहार करते-करते वीतरागभावरूप निश्चय धर्म प्रगट कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता।

जिसतरह परभावस्वरूप मैल से व्याप्त हुआ श्वेत वस्त्र का श्वेत-पना आच्छादित हो जाता है, उसीप्रकार परभावस्वरूप मिथ्यात्व

अज्ञान एवं कषाय नामक जो कर्ममल है, उससे मोक्ष का कारणस्वरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तिरोभूत हो जाता है। इसलिये कहते हैं कि – "मोक्ष के कारण (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) का तिरोधान करनेवाला होने से कर्म का निषेध किया गया है।" अर्थात् शुभभाव या पुण्यभावरूप कर्म मोक्ष के कारण का घातनशील होने से निषेध किया गया है।

गाथा १५७-१५८-१५९ के भावार्थ पर प्रवचन

"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष का मार्ग है।" तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम सूत्र में भी यही कहा गया है। यहाँ कहते हैं कि – "ज्ञान का अर्थात् आत्मा का सम्यक्त्वरूप परिणमन मिथ्यात्वरूप कर्म से तिरोभूत होता है।" शुभ-भाव को अपना स्वरूप और आत्मा के लिये लाभदायक मानना ही मिथ्यात्वभाव है। वह मिथ्यात्वभाव आत्मा के सम्यक्त्वरूप परिणमन का घातक है, अर्थात् सम्यक्त्व को प्रकट नहीं होने देता। यहाँ मिथ्यात्व कर्म का अर्थ जीव का मिथ्या श्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव है। जड़ कर्म तो उसमें निमित्त मात्र है, जब जड़ कर्म का उदय जीव का स्पर्श ही नहीं करता, तो वह जीव का घात तो कैसे करेगा ? परन्तु कर्मोदय के निमित्त से जो जीव का मिथ्यात्वभाव – विपरीतभावरूप परिणमन होता है, वह उसके अ-विपरीतभाव का – स्वभावभाव का घात करता है।

यद्यपि यहाँ कर्म की बात कही जा रही है, परन्तु यहाँ कर्म का अर्थ द्रव्यकर्म नहीं है; किन्तु द्रव्यकर्म के निमित्त से हुये जीव के भाव कर्म की बात है। पीछे १५६वीं गाथा में भी यह बात आ चुकी है। वहाँ कहा है कि व्रत, तप आदि शुभरागरूप भावकर्म ही शुभकर्म है। वह हानिकारक होने से निषिद्ध किया गया है। यहाँ यह कहते हैं कि इसका जो रागरूप अशुद्ध उपादान है, वह शुद्ध उपादान की परिणति का घात करता है।

"आत्मा का ज्ञानरूप परिणमन अज्ञानरूप कर्म से तिरोभूत होता है।" स्वरूप का अज्ञान अथवा शुभभाव में अटकनेरूप अज्ञान आत्मा के ज्ञानरूप परिणमन को रोक देता है। शुभभाव में रुका ज्ञान अज्ञान है और वह सम्यग्ज्ञान के परिणाम का घात करता है।

भाई ! यह धर्म कथा है। आत्मा के हित की बात है। शुभाशुभ-भावरूप कर्म आत्मधर्म का घातक परिणाम है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जड़कर्म आत्मा का घात करता है, परन्तु यह बात यथार्थ नहीं है।

कर्म तो परवस्तु है, निमित्तमात्र है। वह आत्मा का घात नहीं कर सकता। पूजा में कहा भी है—

"कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई।।

दुःख का मूल कारण स्वयं को नहीं पहचानना है। दौलतराम आदि के आध्यात्मिक भजनों में भी बार-बार ऐसे कथन आते हैं :—

"अपनी सुधि भूल आप, दुःख उपायो,
ज्यों शुक नभ चाल विसरि, नलनी लटकायो।

× × ×

"अपने को आप भूल के हैरान हो गया"

अरे भाई! तू अपने को भूल रहा है, यही तेरा अज्ञान है और यह अज्ञान ही तेरी निर्मल परिणति का बाधक है।

इसीप्रकार 'ज्ञान का अर्थात् आत्मा का चारित्ररूप परिणमन कषाय-कर्म से तिरोभूत होता है।' पंच महाव्रतरूप परिणमन आत्मा का चारित्र नहीं है। यह तो आत्मा का रागरूप यानि आकुलतारूप परिणमन है। आत्मा का चारित्र तो वीतराग परिणतिरूप है। यह वीतरागी चारित्र कषायरूप कर्म से अर्थात् व्रत, तप, शील आदि से तिरोभूत होता है। ये शुभभाव आत्मा के चारित्र का घात करते हैं, अर्थात् चारित्र नहीं होने देते।

इसप्रकार मोक्ष के कारणभूत भावों को शुभभावरूप कर्म तिरोभूत करते हैं, अतः इनका निषेध किया गया है।

इहि विधि सधै मुकतिकौ मारग

जब चेतन संभारि निज पौरुष,
　　निरखै निज दृग सौं निज मर्म।
तब सुखरूप विमल अविनासिक,
　　जानै जगत सिरोमनि धर्म।।
अनुभौ करै सुद्ध चेतनकौ,
　　रमै स्वभाव वमै सब कर्म।
इहि विधि सधै मुकतिकौ मारग,
　　अरु समीप आवै सिव सर्म।।५।।

— समयसार नाटक, अजीव द्वार

समयसार गाथा १६०

अथ कर्मणः स्वयं बन्धत्वं साधयति—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणावच्छण्णो ।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वतो सव्वं ।।१६०।।

स सर्वज्ञानदर्शी कर्मरजसा निजेनावच्छन्नः ।
संसारसमापन्नो न विजानाति सर्वतः सर्वम् ।।१६०।।

यतः स्वयमेव ज्ञानतया विश्वसामान्यविशेषज्ञानशीलमपि ज्ञानमनादिस्वपुरुषापराधप्रवर्तमानकर्ममलावच्छन्नत्वादेव बन्धावस्थायां सर्वतः सर्वमप्यात्मानमविजानदज्ञानभावेनैवेदमेवमवतिष्ठते, ततो नियतं स्वयमेव कर्मैव बन्धः । अतः स्वयं बन्धत्वात्कर्म प्रतिषिद्धम् ।

अब, यह सिद्ध करते हैं कि कर्म स्वयं ही बन्धनस्वरूप है :—

यह सर्वज्ञानी-दर्शि भी, निजकर्म रज आच्छादसे ।
संसारप्राप्त, न जानता वो सर्वको सब रीतसे ।।१६०।।

गाथार्थ :—[सः] वह आत्मा [सर्वज्ञानदर्शी] (स्वभाव से) सर्व को जानने देखनेवाला है, तथापि [निजेन कर्मरजसा] अपने कर्ममल से [अवच्छन्नः] लिप्त होता हुआ – व्याप्त होता हुआ [संसार समापन्नः] संसार को प्राप्त हुआ वह [सर्वतः] सब प्रकार से [सर्वं] सर्व को [न विजनाति] नहीं जानता ।

टीका :—जो स्वयं ही ज्ञान होने के कारण विश्व को (सर्व पदार्थों को) सामान्य-विशेषतया जानने के स्वभाववाला है, ऐसा ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य, अनादि काल से अपने पुरुपार्थ के अपराध से प्रवर्तमान कर्ममल के द्वारा लिप्त या व्याप्त होने से ही, बन्ध-अवस्था में सर्वप्रकार से सम्पूर्ण अपने को अर्थात् सर्व प्रकार से सर्व ज्ञेयों को जाननेवाले अपने को न जानता हुआ, इसप्रकार प्रत्यक्ष अज्ञानभाव से (अज्ञानदशा में) रह रहा है; इससे यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है, इसलिये स्वयं बन्धस्वरूप होने से कर्म का निषेध किया गया है ।

गाथा १६० की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

इसके पूर्व १५७, १५८ एवं १५९ – तीन गाथाओं में यह कह आये हैं कि – व्रत, तप, दान, शील, भक्ति आदि के शुभभाव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मा की निर्मल परिणति के घातक हैं, इसलिये मोक्षमार्ग में उनका निषेध है। उसी संदर्भ में इस गाथा में यह कहते हैं कि – व्रत तप आदि के शुभभाव स्वयं ही बन्ध स्वरूप है। जड़कर्म तो द्रव्यबन्ध है। इनके साथ तो आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु जीव की दशा में जो रागादि परिणाम होते हैं, वह भावबन्ध है। भगवान आत्मा अबन्धस्वरूप है और इस अबन्धस्वरूप भगवान आत्मा के आश्रय से होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम भी अबन्धस्वरूप हैं। व्रतादि के शुभभाव बन्ध-स्वरूप होने से अबन्धस्वभाव में निषेध किये गये हैं।

भगवान आत्मा ज्ञान व दर्शनस्वरूप है। सामान्य-दर्शन व विशेष-ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। वह ज्ञान-दर्शनमयी आत्मद्रव्य शरीर, द्रव्य कर्म व शुभाशुभभावरूप भावकर्म से भिन्न तत्त्व है। जड़कर्म तो निमित्त-मात्र है, वे तो आत्मा का स्पर्श भी नहीं करते। शरीर, मन, इन्द्रिय एवं जड़कर्म – रजकण वगैरह को तो भगवान आत्मा छूता भी नहीं है। अरूपी आत्मा रूपी पदार्थ को कैसे छुये ? यदि एक-दूसरे का स्पर्श करें तो दोनों को एकत्व का प्रसंग प्राप्त होगा।

हाँ, जब जड़कर्म के उदयकाल में आत्मा स्वयं ही अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से पर को जानने में अटक जाता है, तब उसे शुभ व अशुभ भाव होते हैं। ये शुभाशुभभाव भाव-आवरण हैं। कर्म पुद्गल तो जड़ आवरण है। वह तो पर – निमित्त है, इसे तो आत्मा छूता ही नहीं है। वस्तुतः तो आत्मा ही उस काल में अपने को नहीं जानता – यही उसके पुरुषार्थ की कमी है या उसका अपराध है। यही भाव आत्मा का घातक है। अहाहा…! आत्मा सदैव ज्ञाता-दृष्टा स्वभाववाला अनादि-अनन्त तत्त्व है, परन्तु अनादिकाल से अपने पुरुषार्थ के अपराध से कर्मों से आच्छादित है। देखो, यहाँ 'कर्म के कारण आच्छादित हैं' – ऐसा नहीं कहा, बल्कि यह कहा कि "अपने अपराध से आच्छादित है।" जड़कर्म आत्मा में कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। पुण्यभावों में इष्टबुद्धि एवं एकत्व-ममत्व बुद्धि ही आत्मा की सबसे बड़ी भूल है, यही ऐसा अपराध है, जो आत्मा को आच्छादित करता है। शुभाशुभभाव आत्मा की पर्याय में बन्ध के भेष हैं,

वे आत्मा के निजस्वरूप नहीं है। स्व-पर को जानना-देखना ही जिसका स्वभाव है – ऐसे ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव वाले तत्त्व का नाम ही आत्मा है। उस आत्मा में जो शुभराग का परिणाम है, वह भावबन्धस्वरूप है और उस शुभराग या भावबन्ध में अटकना – रुकना ही आत्मा का सबसे बड़ा अपराध है।

ज्ञान-दर्शनमयी भगवान आत्मा सर्वज्ञ व सर्वदर्शी है। सर्वज्ञ व सर्वदर्शीपना आत्मा का शक्तिरूप स्वभाव है, गुण है। ऐसे सर्वज्ञ व सर्वदर्शी स्वभाव को भूलकर राग में रुक जाना ही अपने पुरुषार्थ का अपराध है तथा उस अपराधरूप से प्रवर्तता हुआ आत्मा ही कर्ममल से लिप्त होता है। पुण्य-पाप का परिणाम कर्ममल है, उसी से आत्मा लिप्त होता है, कर्म के कारण नहीं, क्योंकि कर्म तो जड़ है।

अहाहा..........! अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभावसामर्थ्य को भूलकर भगवान अपने अपराध से व्रत, शील दान आदि के राग में अटककर बन्ध-भाव को प्राप्त हुआ है। भाई! अशुभ की भाँति शुभ भी बन्धभाव है और इससे उसे भी यहाँ निषेध किया गया है।

अहाहा..........! भगवान! तू अनादि से अपने ही अपराध से भूला है। तेरी दृष्टि आत्मा पर होने के बजाय राग पर है – यही तेरा अपराध है। यहाँ खासकर पुण्य परिणाम को मैल कहा है, अशुभ तो मैल है ही और उसे सभी मैल मानते भी हैं, उसमें बहुत कम भूल होती है, सबसे अधिक भूल तो पुण्य को भला मानने की या पुण्यक्रिया में धर्म मानने में होती है, अतः मुख्यतः उसे ही यहाँ बन्धरूप कहा गया है।

"कर्ममल से लिप्त हुआ होने से ही" – का अर्थ जड़कर्म से व्याप्ति नहीं है, अर्थात् भगवान आत्मा व्यापक व जड़कर्म व्याप्य ऐसा नहीं है; किन्तु अज्ञानदशा में आत्मा का व्याप्य व्रत, तप आदि रूप भावकर्म है, क्योंकि इन व्रत-तप के शुभभावों में रुक जाने से आत्मा का ज्ञान-दर्शन अर्थात् जानने-देखने का कार्य नहीं होता है।

शरीर, मन, वाणी, कर्म, नोकर्म आदि बाह्य वस्तुओं को तो आत्मा कभी स्पर्श ही नहीं करता, किन्तु सदा अबन्धस्वरूप अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से भ्रष्ट होकर भगवान आत्मा राग में रुक गया है – यह आत्मा का अपराध है और यही भावबन्ध है।

देखो, राग में रुकने की दशा में, सर्वप्रकार से सम्पूर्ण अपने त्रिकाली अनन्तगुण के पिण्ड ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा को नहीं जानता हुआ अज्ञानभाव से वर्तता है।

आत्मा का स्वभाव तो परिपूर्ण सर्वज्ञ व सर्वदर्शी है, परन्तु स्वयं राग में रुक जाने से अपने पूर्णानन्द स्वभाव को यह आत्मा देखता नहीं है, इसकारण अनादि से दुःखी हो रहा है।

देखो, यह अध्यात्म की बात है, अतः यहाँ कहते हैं कि – दया-दान-व्रत-तप आदि वृत्तियों का उत्थान भी राग है, यह चैतन्य आत्मा का स्वरूप नहीं है। चैतन्यस्वरूप में राग है ही कहाँ? फिर भी राग में अटकता है – यही इसकी भूल है।

जैनधर्म में भी जहाँ-तहाँ कुछ ऐसी मान्यतावाले लोग हैं, जो जड़-कर्म को सुख-दुःख का कर्ता-धर्ता मानते हैं – उनसे यहाँ कहते हैं कि – हे आत्मन्! तू पर को या राग को जानने-देखने में अटक गया है, अतः सर्वज्ञ स्वभावी होकर भी अपने को नहीं देखता, ये ही तेरा अपराध है। हे आत्मन्! तुझे अपने सच्चिदानन्द भगवान का अनुभव करना चाहिये था, परन्तु तू उसके बदले पर को या राग को जानता है और इसी में अटक गया है, ये तेरा अपराध है, अज्ञानभाव है। अहो! आचार्यदेव ने कैसी अद्भुत टीका रची है।

देखो, मूलगाथा में "सव्वणाणदरसी" पाठ है, उसमें टीकाकार आचार्यदेव ने यह रहस्य निकाला है कि – विश्व को अर्थात् सर्वपदार्थों को जानने-देखने के स्वभाववाला द्रव्य जो स्वयं है, उसे जानना चाहिये, उसके बदले तू पर के राग को जानता है – अनुभव करता है और उसी में रुक जाता है, यह तेरा अपराध है, अज्ञानभाव है, क्योंकि यह राग आस्रव व बन्ध तत्त्व है।

पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में आता है कि आत्मा में जो मिथ्यात्व के परिणाम होते हैं, वे भी पर से निर्पेक्ष अपने षट्कारकरूप परिणमन से स्वतन्त्र होते हैं, वे अन्य कर्म के कारकों की अपेक्षा नहीं रखते। जैसे आत्मा का विकारी अशुद्ध परिणमन कर्म के कारण नहीं होता, उसीतरह द्रव्य-गुण के कारण भी नहीं होता, क्योंकि द्रव्य-गुण तो सदा शुद्ध निर्मल ही हैं। वहाँ पंचास्तिकाय में अस्तिकायपना सिद्ध किया है तथा सत् को अहेतुक सिद्ध किया है।

यहाँ कहते हैं कि अपने अपराध से राग में रुकना ही मिथ्यादर्शन है।

प्रश्न :—सम्यग्दृष्टि के भी तो पंच परमेष्ठी की भक्ति आदि होती है न ?

उत्तर :—हाँ, सम्यग्दृष्टि को भी पंच परमेष्ठी की भक्ति आदि का शुभराग होता है, परन्तु वह शुभराग मुक्ति का कारण नहीं है, जितने अंश में शुभराग है, वह तो बन्ध का ही कारण है तथा उस शुभराग में ज्ञानी अटकता भी नहीं है, मात्र उसका ज्ञाता-दृष्टा रहता है। उसे राग में स्वामित्व व अहंबुद्धि नहीं है। जितना राग है, वह उसे चारित्र का दोष मानता है। उतना अल्प बन्ध भी है। भाई ! आत्मा का ऐसा स्वभाव ही नहीं है कि शुभराग के कारण या व्यवहार के कारण आत्मा में मोक्ष पर्याय प्रगट हो।

प्रश्न :—जिनवाणी में ऐसा कथन आता है कि – ज्ञानी निरास्रव व निर्बन्ध होता है – इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर :—जब दृष्टि व दृष्टि के विषय की अपेक्षा कथन होता है, तब ज्ञानी राग को पर जानता है, उस अपेक्षा ज्ञानी को निरास्रव व निर्बन्ध कहा जाता है। जब वही कथन ज्ञान की अपेक्षा हो तो जितने अंश में ज्ञानी राग-द्वेष रूप परिमणता है, उतना उसका अपराध है – ऐसा ज्ञानी स्वयं भी जानता है। यह अपराध ज्ञानी की स्वयं की पर्याय की सत्ता में है तथा जब वही कथन चारित्र की अपेक्षा कहा गया हो तो राग का परिणाम जहर है – ऐसा कहा जाता है। सारांश यह है कि – राग दृष्टि की अपेक्षा पर है, ज्ञान की अपेक्षा स्वयं का ज्ञेय है और चारित्र की अपेक्षा जहर है। दृष्टि की अपेक्षा पर कहकर जब सर्वथा पृथक् कर दिया, भेदज्ञान करा दिया, तो फिर पर से बन्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता, इसी के कारण ज्ञानी को दृष्टि की अपेक्षा निर्बन्ध कहा गया है। अहाहा·········! ऐसी परमामृत की बात दिगम्बर जैन धर्म के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं है। बापू ! अन्यत्र तो सब जगह बहुत गड़बड़ है। क्या करें ? वीतराग परमेश्वर का यह मार्ग लोगों को यथार्थ सुनने व समझने को मिला ही नहीं है।

भगवान ! तू परमात्मस्वरूप है। जिसतरह परमेश्वर परमात्मा प्रगट पर्याय में सर्वज्ञ या सर्वदर्शी है, उसीतरह तू स्वभाव में त्रिकाली द्रव्यस्वरूप

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी है। जो ऐसे त्रिकाली द्रव्यस्वरूप को न देखकर राग को देखने में ही अटक जाते हैं, वे पर्यायदृष्टि में अटक जाने के कारण अपने सर्वगुण सम्पन्न अनन्तज्ञान, अनन्तसुख आदि अनंत सामर्थ्य से भरे अनन्त गुणमण्डित परिपूर्ण आत्मा को नहीं जानते। सर्वप्रकार से सर्व ज्ञेयों का जाननेवाला आत्मा स्वयं को नहीं जानता। देखो, यहाँ राग में रुके जीव सर्वज्ञ को नहीं जानते – यह नहीं कहा, वल्कि यह कहा कि सर्व ज्ञेयों को जाननेवाला अपने को नहीं जानता। अपने को जानना मुख्य है, क्योंकि जो स्वयं को जानता है, वही सर्व को जानता है।

अहाहा..........! जिनकी सभा में इन्द्र तथा गणधर वैठे हों – ऐसे साक्षात् सर्वज्ञ का भले वर्तमान में विरह हो, तथापि समयसार के रूप में विद्यमान उनकी साक्षात् वाणी अपने स्वरूप का सम्बोधन करने के लिये आज भी हमारे पास है। यह समयसार साक्षात् सर्वज्ञ की वाणी है। कुन्दकुन्द आचार्य संवत् ४६ में जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में स्थित साक्षात् विद्यमान सीमन्धर परमात्मा के समोशरण में गये थे, वहाँ उन्होंने जो दिव्यध्वनि सुनी, उसका सार यह समयसार है। अतः यह समयसार तो भरतक्षेत्र का साक्षात् भगवान ही है। ऐसे इस समयसार की टीका आचार्य अमृतचन्द्र ने की है – टीका कैसी गजब है, साक्षात् अमृत ही बरसाया है। इसकी महिमा में एक कवि ने कहा है :—

"वचनामृत वीतराग के परम शान्तरस मूल।
औषधि है भव रोग की, पर कायर को प्रतिकूल।
ज्ञानी अमृत बरसाया रे पंचमकाल में..............।"

अहो! तीनों लोक के नाथ का संदेश प्रगट करके आचार्य भगवान ने परमामृत वरसाया है। एक-एक गाथा में कैसा सार भर दिया है।

पहले आया था कि राग मोक्षमार्ग की परिणति का घातक है। अब कहते हैं कि – राग स्वयं बन्धस्वरूप है। इसीकारण उसका यहाँ निषेध है। सब को जानने-देखने वाले आत्मा का स्वभाव तो अबन्धस्वरूप है। ऐसा अबन्धस्वरूप भगवान आत्मा राग में अटक जाने के कारण स्वयं को नहीं जानता, यह कहा है। यह नहीं कहा कि सर्व ज्ञेयों को नहीं जानता, क्योंकि स्वयं को जानना – यह निश्चय है और पर को जानना – यह व्यवहार है।

स्व को अर्थात् न केवल पर को बल्कि स्व और पर को जानने-देखने-वाला भगवान आत्मा स्वयं राग में अटक कर स्वयं को ही जानता हुआ प्रत्यक्ष अज्ञानभाव से प्रवर्तता है। देखो, यह बन्ध के स्वरूप को सिद्ध करता है। यह शुभभाव व शुभभाव में अटकना बन्ध का स्वरूप है। राग में प्रवर्तना प्रत्यक्ष अज्ञानभाव है। राग में जानने की शक्ति नहीं है। वह न तो स्वयं को जानता है और न ही आत्मा को जानता है। शुभाशुभरूप सभी प्रकार का राग अचेतन होने से अज्ञानमय ही है और भगवान आत्मा शक्तिरूप से सर्वज्ञ-सर्वदर्शी – सब को जानने-देखने के स्वभाववाला है, किन्तु अपने स्वभाव को भूलकर वह भगवान आत्मा स्वयं को जानने में प्रवृत्त न होकर राग को व पर को जानने में ही प्रवर्त रहा है, यही उसका अज्ञानभाव है। राग तो स्वयं अज्ञानी है ही, उसमें प्रवर्तन करनेवाला, रुकनेवाला आत्मा भी अज्ञानी है।

अब कहते हैं कि – "इससे यह नक्की हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्ध-स्वरूप है, इसलिये कर्म का निषेध किया गया है।"

देखो, यहाँ यह कहा है कि व्रत, तप, भक्ति, दान, पूजा आदि के शुभभावरूप कर्म बन्धस्वरूप है। यहाँ कर्म का अर्थ रागरूप कार्य है, यह जड़ पुद्गल कर्म की बात नहीं है। स्वयं बन्धस्वरूप होने से व्रतादि कर्म निषेध किये गये हैं।

पच्चीस प्रकार के मिथ्यात्व की जो चर्चा आती है, वह इसीप्रकार की तो हैं – अधर्म को धर्म मानना, धर्म को अधर्म मानना, साधु को कुसाधु मानना और कुसाधु को साधु मानना, रागपोषक वाणी को जिनवाणी मानना व वीतरागवाणी को अधर्म मानना आदि मिथ्यात्व है, परन्तु अज्ञानी को मिथ्यात्व के स्वरूप का ही पता नहीं है। यहाँ तो आचार्य स्पष्ट कह रहे हैं कि शुभरागरूप कर्म स्वय बन्धस्वरूप होने से निषेध किये गये हैं। शुभभाव धर्म नहीं है, जो धर्म नहीं है, वह सब अधर्म है। शुभाशुभ रागरूप कर्म को बन्ध कहो या अधर्म कहो – दोनों एक ही बात है।

गाथा १६० के भावार्थ पर प्रवचन

मूलपाठ में जो "ज्ञान" शब्द पड़ा है, उसका अर्थ आत्मा है।

यह आत्मा स्वभाव से तो सबको देखने-जाननेवाला ही है, परन्तु अनादि से अपने अपराध के कारण कर्मों से आच्छादित होने से अपने सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं जानता।

यहाँ "कर्मों से आच्छादित" का अर्थ राग-द्वेष-मोहरूप भाव कर्मों से आच्छादित होने की बात है, क्योंकि ये भावकर्म ही आत्मा के स्वभाव के घातक हैं। द्रव्यकर्म तो जड़ हैं, पर हैं। क्या परद्रव्य कभी आत्मा का घात कर सकता है ? नहीं कर सकता, भावकर्म ही आत्मा का वैरी है।

भाई ! ऐसी मनुष्य पर्याय मिली, यदि इस समय भी जिनेश्वरदेव के पंथ को नहीं पहचाना तो फिर कभी जन्म-मरण का चक्कर मिटना संभव नहीं होगा। यह अवसर चूका तो फिर पता नहीं कहाँ जा पड़ेंगे। यदि किसी कूकरी-सूकरी के पेट में जाकर जन्म ले लिया तो फिर यह सब साधन कहाँ मिलेंगे ? बापू ! यह बात विचारणीय है। तू अनंत ज्ञान-दर्शन की लक्ष्मी से भरा भगवान स्वरूप है, किन्तु तुझे अपनी इस सामर्थ्य की खबर नहीं है, उसे जानने की रुचि भी नहीं है। केवल पर की (धन-वैभव की) रुचि है, परन्तु भाई ! आचार्य कहते हैं कि – संयोगों से तू अरबपति भी हो तो भी भिखारी है। अरे ! भगवान !! यदि तू इस सबको देखनेवाले-जाननेवाले का स्वामी नहीं हुआ तो तू केवल धूल का ही धनी है, जड़ का ही स्वामी है।

यहाँ कहते हैं कि तू राग में रुका है, अटका है, अपने को नहीं पहचानता है, यह तेरा ही अपराध है, किसी कर्म का दोष नहीं है।

देखो, ऐसा नहीं कहा कि पर को या सर्व को नहीं जानता – यह तेरा अपराध है, बल्कि यह कहा कि स्वयं को नहीं जानता – यह तेरा अपराध है।

सम्यग्दर्शन में जैसा अपना सम्पूर्ण स्वरूप है, वैसी ही प्रतीति होती है।

सम्यग्दर्शन में अपने आत्मा के सम्पूर्ण स्वरूप की प्रतीति होती है। यद्यपि अभी केवलज्ञान नहीं है, तथापि सम्यग्दृष्टि को वर्तमान में अनन्तगुणों का पिण्ड परिपूर्ण ज्ञाता-दृष्टास्वभावी आत्मा प्रतीति में आता है। मैं अपने में परिपूर्ण हूँ – ऐसा उसे यथार्थ श्रद्धान होता है। वह राग को अपना नहीं मानता एवं अल्पज्ञ पर्याय जितना भी अपने को नहीं मानता।

देखो, यह चतुर्थ गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि की बात है। जो सम्यग्दर्शन बिना बाह्य व्रतादि के राग-विकल्पों में रुक जाता है, उसे अपने सम्पूर्ण स्वरूप का अनुभव नहीं होता।

अहाहा.........! केवल अर्थात् मात्र ज्ञानस्वरूप प्रज्ञाब्रह्म, ज्ञान की मूर्ति, अकेला ज्ञान का रसकन्द भगवान आत्मा सदा मुक्तस्वरूप ही है। केवल ज्ञाता-दृष्टास्वरूप है। इसमें बन्ध कहाँ से होगा ? भगवान आत्मा स्वयं तो अबन्धस्वरूप ही है। ऐसा केवलज्ञानस्वरूप या मुक्तस्वरूप आत्मा कर्म से अर्थात् पुण्य-पापरूप भावकर्म से लिप्त होने से अज्ञानरूप व बन्धरूप वर्तता है. राग में अज्ञानपने से वर्तता है। इसलिये यह नक्की हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है तथा कर्म स्वयं बन्धस्वरूप होने से कर्म का अर्थात् शुभाशुभ भाव का निषेध किया गया है।

देखो, संसार में आत्मा के दो प्रकार के भेष है – एक जड़कर्म का भेष, दूसरा राग का भेष। पहला अजीव बन्ध का भेष है, द्रव्यबन्ध है और दूसरा जीवबन्ध का भेष है, भावबन्ध है। चेतन का विकारी भेष है।

कर्मों से सम्पूर्णतया छूटना द्रव्यमोक्ष है तथा राग से सम्पूर्णतया छूटना भावमोक्ष है। मोक्ष भी आत्मा का एक भेष है। द्रव्य त्रिकाली है और मोक्ष उसका पर्यायरूप भेष है। यद्यपि मोक्ष की पर्याय द्रव्य का त्रिकाली स्वरूप नहीं है, तथापि मोक्ष पूर्ण निर्विकार चैतन्यमय पर्याय होने से आत्मा का वास्तविक भेष है, इसकारण उसका निषेध नहीं है।

यहाँ तो इस जीव ने जो अनादि से बन्ध का भेष धारण कर रखा है, उसकी बात है। अहा.......! स्वभाव से अबन्धस्वरूप सर्वज्ञानी-सर्वदर्शी आत्मा वर्तमान में अपने को जानता नहीं है, क्योंकि यह कर्म को व राग को जानने में अटक गया है। दूसरे प्रकार से कहें तो राग, जो कि परज्ञेय है, उसे ही निज मान बैठा है। अर्थात् वही इसका स्वज्ञेय बन बैठा है। इसकारण अपना त्रिकाली ज्ञान-दर्शनमय अबन्ध तत्त्व इसकी दृष्टि में नहीं आ रहा है। यही इसका मिथ्या मान्यतारूप महा अपराध है। इसी से कर्म का निषेध किया गया है।

शुभभाव बन्धस्वरूप है, स्वयं बन्ध अवस्थारूप है। वस्तुत: तो यह ज्ञान का ज्ञेय मात्र है, परन्तु अज्ञानी ऐसा न मानता हुआ 'यही मैं हूँ" – ऐसा मानकर उसी में रुक जाता है। यही उसका मिथ्यास्वरूप महा-बन्ध है।

इसप्रकार—(१) शुभभाव दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप चैतन्य की निर्मल परिणति का घातक होने से गाथा १५७, १५८, व १५९ में निषेध किया गया है।

(२) शुभभाव स्वयं बन्धस्वरूप है, इसलिये भी उसका निषेध किया गया है।

(३) शुभभाव का श्रद्धान-ज्ञान व आचरण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप मोक्षमार्ग से विपरीत भाव है, इसलिये यह शुभभाव भी निषेध किया गया है। यह तीसरा बोल आगे १६१, १६२ एवं १६३ तीन गाथाओं में स्पष्ट करेंगे।

शुभोपयोग हेय - शुद्धोपयोग उपादेय

जब यह आत्मा धर्मपरिणत स्वभाववाला होता हुआ शुद्धोपयोग परिणति को धारण करता है – बनाये रखता है, तब जो विरोधी शक्ति से रहित होने के कारण अपना कार्य करने के लिये समर्थ है ऐसा चरित्रवान होने से (वह) साक्षात् मोक्ष को प्राप्त करता, है और जब वह धर्मपरिणत स्वाववाला होने पर भी शुभोपयोग परिणति के साथ युक्त होता है तब जो विरोधी शक्ति सहित होने से स्वकार्य करने में असमर्थ है और कथंचित् विरुद्ध कार्य करनेवाला है – ऐसे चरित्र से युक्त होने से, जैसे अग्नि से गर्म किया हुआ घी किसी मनुष्य पर डाल दिया जावे तो वह उसकी जलन से दुःखी होता है, उसी प्रकार वह स्वर्ग सुख के बन्ध को प्राप्त होता है, इसलिये शुद्धोपयोग उपा-देय है और शुद्धोपयोग हेय है।

– आचार्य अमृतचन्द्र, प्रवचनसार गाथा ११ की टीका

समयसार गाथा १६१-१६२-१६३

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वं दर्शयति—

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णादव्वो ।।१६१।।

णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो ।।१६२।।

चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो ।।१६३।।

सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं मिथ्यात्वं जिनवरैः परिकथितम् ।
तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः ।।१६१।।

ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं अज्ञानं जिनवरैः परिकथितम् ।
तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्यः ।।१६२।।

चारित्रप्रतिनिबद्धः कषायो जिनवरैः परिकथितः ।
तस्योदयेन जीवोऽचारित्रो भवति ज्ञातव्यः ।।१६३।।

अब, यह बतलाते हैं कि कर्म मोक्ष के कारण के तिरोधायिभावस्वरूप (मिथ्यात्वादि भावस्वरूप) हैं :—

सम्यक्त्वप्रतिबन्धक करम, मिथ्यात्व जिनवरने कहा ।
उसके उदयसे जीव मिथ्यात्वी बने यह जानना ।।१६१।।

त्यों ज्ञानप्रतिबन्धक करम, अज्ञान जिनवरने कहा ।
उसके उदयसे जीव अज्ञानी बने यह जानना ।।१६२।।

चारित्रप्रतिबन्धक करम, जिनने कषायोंको कहा ।
उसके उदयसे जीव चारितहीन हो यह जानना ।।१६३।।

गाथार्थ :—[सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं] सम्यक्त्व को रोकनेवाला [मिथ्यात्व] मिथ्यात्व है ऐसा [जिनवरैः] जिनवरोंने [परिकथितम्] कहा है; [तस्य उदयेन] उसके उदय से [जीवः] जीव [मिथ्यादृष्टिः]

सम्यक्त्वस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकं किल मिथ्यात्वं, तत्तु स्वयं कर्मैव, तदुदयादेव ज्ञानस्य मिथ्यादृष्टित्वम्। ज्ञानस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकं किलाज्ञानं तत्तु स्वयं कर्मैव, तदुदयादेव ज्ञानस्याज्ञानित्वम्। चारित्रस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकः किल कषायः, स तु स्वयं कर्मैव, तदुदयादेव ज्ञानस्याचारित्रत्वम्। अतः स्वयं मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्कर्म प्रतिषिद्धम्।

मिथ्यादृष्टि होता है [इति ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिये। [ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं] ज्ञान को रोकनेवाला [अज्ञानं] अज्ञान है ऐसा [जिनवरैः] जिनवरोंने [परिकथितम्] कहा है; [तस्य उदयेन] उसके उदय से [जीवः] जीव [अज्ञानी] अज्ञानी [भवति] होता है [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिये। [चारित्रप्रतिनिबद्धः] चारित्र को रोकनेवाला [कषायः] कषाय है ऐसा [जिनवरैः] जिनवरोंने [परिकथितः] कहा है; [तस्य उदयेन] उसके उदय से [जीवः] जीव [अचारित्रः] अचारित्रवान [भवति] होता है [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिए।

टीका :- सम्यक्त्व जो कि मोक्ष के कारणरूप स्वभाव है, उसे रोकनेवाला मिथ्यात्व है; वह (मिथ्यात्व) तो स्वयं कर्म ही है, उसके उदय से ही ज्ञान के मिथ्यादृष्टिपना होता है। ज्ञान जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है, उसे रोकनेवाला अज्ञान है; वह तो स्वयं कर्म ही है, उसके उदय से ही ज्ञान के अज्ञानीपना होता है। चारित्र जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है, उसे रोकनेवाली कषाय है; वह तो स्वयं कर्म ही है, उसके उदय से ही ज्ञान के अचारित्रपना होता है। इसलिए स्वयं मोक्ष के कारण का तिरोधायिभावस्वरूप होने से कर्म का निषेध किया गया है।

भावार्थ :—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्ष के कारणरूप भाव हैं, उनसे विपरीत मिथ्यात्वादि भाव हैं। कर्म मिथ्यात्वादि भाव स्वरूप हैं, इसप्रकार कर्म मोक्ष के कारणभूत भावों से विपरीत भावस्वरूप हैं।

पहले तीन गाथाओं ने कहा था कि कर्म के कारणरूप भावों का सम्यक्त्वादि घातक है। बाद की एक गाथा में यह कहा है कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है और इन अन्तिम तीन गाथाओं में कहा है कि कर्म मोक्ष के कारणरूप भावों से विरोधी भावस्वरूप है- मिथ्यात्वादिस्वरूप है। इसप्रकार यह बताया है कि कर्म मोक्ष के कारण का घातक है, बन्धस्वरूप है और बन्ध का कारणस्वरूप है, इसलिये निषिद्ध है।

अशुभ कर्म तो मोक्ष का कारण है ही नहीं, प्रत्युत बाधक ही है, इसलिये निषिद्ध ही है, परन्तु शुभ कर्म भी कर्म सामान्य में आ जाता है इसलिए वह भी बाधक ही है इसलिये निषिद्ध ही है – ऐसा समझना चाहिये।

गाथा १६१-१६२-१६३ को उत्थानिका, गाथाओं एवं टीका पर प्रवचन

प्रस्तुत गाथाओं में पुण्य परिणामरूप कर्म को मोक्ष के हेतुभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का तिरोधायी भाव कहा गया है। अर्थात् विरुद्ध भाव कहा गया है। शुभभाव की रुचि मिथ्यादर्शन, शुभभावों में अटका ज्ञान अज्ञान और शुभभावरूप आचरण अचारित्र है। ये तीनों ही भाव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से विपरीत भाव हैं, इसकारण मोक्षमार्ग में ये शुभभावरूप कर्म निषेध किये गये हैं।

इसके पूर्व गाथा १५७-१५८-१५९ में इस सम्बन्ध में ऐसा कह आये हैं कि ये शुभभावरूप कर्म मोक्ष के कारणरूप निर्मल रत्नत्रय परिणति के घातक हैं। तथा १६०वीं गाथा में यह कहा है कि शुभभावरूप कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप हैं, इसकारण निषेध करने योग्य हैं।

वस्तुतः शुभभाव स्वयं मिथ्यात्व नहीं है, बल्कि शुभभाव को अपना मानना मिथ्यात्व है। तथा मिथ्यात्वसहित ज्ञान व आचरण अज्ञान व अचारित्र है।

देखो, शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव करके प्रतीति करना सम्यक्त्व है और यह सम्यक्त्व मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। यहाँ स्वभाव का अभिप्राय त्रिकाली स्वभाव से नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शन पर्याय की बात है। सम्यक्त्व मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है और उसे रोकनेवाला मिथ्यात्व है, यहाँ मिथ्यात्व अर्थात् जीव के परिणाम की बात है, मिथ्यात्व कर्म की नहीं। कर्म के निमित्त से तो कथन किया जाता है। वस्तुतः तो तत्त्व के अश्रद्धानरूप मिथ्यात्वभाव ही सम्यक्त्व का रोकनेवाला है, प्रतिबन्धक कारण है, जड़कर्म मोक्षमार्ग का अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का प्रतिबन्धक नहीं है, क्योंकि वह तो परद्रव्य है। आत्मा जड़ को तो छूता नहीं है और जड़ ने भी चेतन को आजतक कभी भी स्पर्श नहीं किया, तब फिर जड़ चेतन के स्वभावरूप परिणमन में प्रतिबन्धक कारण कैसे हो सकता है, नहीं हो सकता। मात्र आत्मा ने अपनी मिथ्या श्रद्धारूप विपरीत दशा का स्पर्श किया है। सम्यक्त्व को

रोकनेवाला प्रतिबन्धक तो केवल आत्मा का मिथ्या श्रद्धानरूप विपरीत भाव ही है, क्योंकि वही मोक्ष के कारण से विपरीत भावरूप है।

यहाँ गाथा में मिथ्यात्वादि के उदय की जो बात कही है, उसका अर्थ यह है कि – शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप भगवान आत्मा की प्रतीतिरूप श्रद्धान से विपरीत परिणमन होना ही मिथ्यात्व का उदय है। यथा पुण्य से धर्म होता है, निमित्त से आत्मा में लाभ हानि होती है, मैं दूसरों का भला-बुरा कर सकता हूँ या दूसरे लोग मेरा भला-बुरा कर सकते हैं – यह मान्यता ही सम्यक्त्व के विरुद्ध है और यह विरुद्ध भावरूप परिणमन ही मिथ्यात्व है।

कर्म तो अजीव का भेष है और मिथ्यात्वभाव जीव का भेष है।

प्रश्नः—यदि मिथ्यात्वभाव जीव का भेष है तो उसे पुद्गल स्वभावी क्यों कहा ?

उत्तर :—मिथ्यात्वभाव को पुद्गल कहने का हेतु यह है कि मिथ्यात्वभाव आत्मा के निमित्ताधीन हो जाने से होता है। शुद्ध जीवद्रव्य में तो मिथ्यात्वभाव है नहीं, इसलिए दृष्टि अपेक्षा से उसको पुद्गलस्वभावी कहा है। वस्तुतः तो यह जीव की ही अशुद्ध परिणति है। इसका पर के साथ क्या सम्बन्ध है ? कुछ भी नहीं। भाई ! अशुद्ध परिणमन जीव का ही भेष है, जीव में ही होता है। मिथ्यात्वभावरूप अशुद्ध परिणमन जीव की पर्याय में अपने षट्कारक से होता है, उसे पर की या कर्म की तो अपेक्षा है ही नहीं अपने-अपने आत्मद्रव्य व गुणों की भी अपेक्षा नहीं है। वस्तु का ऐसा ही स्वतन्त्र परिणमन है। शुभभाव करते-करते सम्यग्दर्शन होगा – ऐसी विपरीत मान्यता से जो मिथ्यात्वभाव होता है; वह जीव की स्वयं की परिणति है तथा सम्यक्त्व से विरुद्ध है।

कुछ लोगों की धारणा है कि राग-द्वेष कर्मोदय के कारण होते हैं, कर्म का अभाव होवे तो फिर राग-द्वेष की उत्पत्ति भी नहीं होगी, परन्तु भाई ! यह उनका मिथ्या भ्रम है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो फिर जैसे लोक में ईश्वर को कर्त्ता कहा जाता है, उसीप्रकार जैनमत में कर्म कर्त्ता ठहरेगा, फिर दोनों में अन्तर ही क्या रहा ? तथा कर्म तो जड़ है, उसमें जीव की नास्ति है और जीव में कर्म की नास्ति है। जीव अरूपी है व कर्म रूपी। जब कर्म ने जीव को त्रिकाल में – कभी भी छुआ तक नहीं है तो कर्म जीव का क्या कर सकता है ? कुछ नहीं कर सकता। भाई ! जीव

अपनी दृष्टि में – श्रद्धा में जो विपरीतता करता है, वह मिथ्यात्व है, आत्मा के सम्यक्त्व से विरुद्ध भाव है। जड़कर्म को जो विरुद्ध कहा है वह तो जड़ में – पर में है। केवल निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा से किया गया उपचार कथन है।

भगवान आत्मा तो त्रिकाल सच्चिदानन्द प्रभु सत् (शाश्वत) ज्ञान और आनन्द का सागर है। इसका यथार्थ श्रद्धान सम्यक् परिणित है और मिथ्यात्व परिणति इससे विरुद्ध है।

अनुभवप्रकाश में आया है कि "अपना बैरी अपना ही विकार है", यह निश्चय है, "पर" किसी का वैरी हो – ऐसा तो वस्तुस्वरूप ही नहीं है।

प्रश्न :—"णमो अरिहंताणं" में तो ऐसा कहा है कि "जिन्होंने कर्म वैरी का हनन किया उन अरिहंतों को नमस्कार हो" उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर :—भाई ! वह तो निमित्त का कथन है, वास्तविक नहीं। वास्तव में तो अनिष्टकारक होने से अपने अज्ञानमय विकारी परिणाम ही अपने "अरि – शत्रु" हैं। उन्हीं का घात कर के पूर्ण वीतरागता प्रगट की है। इसी कारण वे "अरिहंत" हैं।

प्रवचनसार ग्रन्थ की ६१वीं गाथा में आया है कि – केवली भगवान ने सर्व अनिष्ट का नाश किया है और सर्व इष्ट को प्राप्ति की है। वहाँ अनिष्ट का अर्थ जड़ अनिष्ट की बात नहीं है, वल्कि अपने रागादि विकारी-भावरूप अज्ञान व असंयम के परिणामों को ही अनिष्ट कहा है। भगवान ने इन सर्व अनिष्टों का अभाव करके सर्व इष्ट अर्थात् केवलज्ञान व अनंत सुख प्राप्त किया है।

गाथा में "सम्मत्त पडिणिबद्धं" ऐसा जो पाठ है, उसका अर्थ यह है कि मिथ्यात्वादि के अनिष्ट परिणाम सम्यग्दर्शन आदि के प्रतिबन्धक हैं।

प्रश्न :—गाथा ७५ में जो मिथ्यात्वादि को पुद्गल कहा है उस कथन का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर :—यह अशुद्ध परिणाम जीव का त्रिकाली स्वभाव नहीं है, जीव की चैतन्य जाति का नहीं है, और जीव में से निकल जाता है; इस कारण वह परिणाम जीव का नहीं है। रागादि अशुद्धता यदि जीव की हो तो उसे जीव से कभी भी जुदी नहीं होना चाहिए, किन्तु वह तो निकल

जाती है, जुदी हो जाती है और आत्मवस्तु जैसी आनन्दघन स्वरूप एवं वीतरागरूप है, उसी रूप में रह जाती है; इसलिए रागादि अशुद्धता जीव की नहीं है। जो जीव की नहीं है वह अजीव है, अचेतन है, और पुद्गल के साथ उत्पन्न होती है, इसलिए उसे पुद्गल कहा गया है। इसी अपेक्षा से मिथ्यात्वभाव को भी पुद्गल कहा गया है।

वहाँ इस कथन का प्रयोजन पर्याय का लक्ष्य छुड़ाकर त्रिकाली चैतन्यस्वभाव का लक्ष्य कराना है।

प्रश्न :—यहाँ एक प्रश्न यह भी उठता है कि – पर्याय में यदि सम्यग्दर्शन नहीं है तो उसका प्रतिबन्धक कौन है ?

उत्तर :—अपनी विपरीत मान्यता या मिथ्या श्रद्धानरूप परिणाम ही सम्यक्त्व का प्रतिबन्धक है, जड़कर्म नहीं। स्वयं ही जो रागादि में अटककर विपरीत परिणमन कर रहा है, वह विपरीत परिणमन ही सम्यक्त्व का प्रतिबन्धक है। जड़कर्म को प्रतिबन्धक कहना तो निमित्त का कथन है।

यह पुण्य-पाप अधिकार है, इसलिए पहले तो कर्म की मुख्यता से ही कथन किया है, किन्तु बाद में अर्थ करते समय खूब खुलासा कर दिया है – अर्थ में साफ-साफ कहा है कि – जिस परिणाम से पुण्य बंधता है, वह शुभ है और जिस परिणाम से पाप बंधता है वह अशुभ है। दोनों ही अज्ञान-भाव हैं।

विकार के परिणाम का कर्त्ता जड़कर्म नहीं है। जिस तरह मिथ्यात्व परिणाम का कर्त्ता जड़कर्म नहीं है, उसीतरह जीव के द्रव्यगुण भी उस परिणाम के कर्त्ता नहीं हैं। वस्तुतः अविकारी परिणाम का कर्त्ता वह परिणाम स्वयं ही है।

पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में आया है कि निश्चयनय से अभिन्न कारक होने से कर्म और जीव स्वयं स्वरूप के (अपने-अपने रूप के) कर्त्ता हैं। जीव के औदयिकादिभाव रूप से परिणमित होने की क्रिया में वास्तव में जीव स्वयं ही अपने षट्कारक रूप से वर्तता है, उसमें उसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है। परिणाम स्वयं ही अपना कर्त्ता है। परिणाम का कर्त्ता निमित्त भी नहीं है और उस परिणाम का आधारभूत द्रव्य गुण भी उसका कर्त्ता नहीं है।

यहाँ यह कहा है कि मोक्ष के कारणभूत सम्यक्त्व परिणाम को रोकनेवाला मिथ्यात्वभाव है। मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत मान्यता। यहाँ इस विपरीत मान्यतारूप मिथ्यात्व को ही कर्म कहा गया है। यह मिथ्यात्व भावकर्म है, आत्मा नहीं है।

दर्शनमोह का उदय तो जड़ का भेष है। उसमें जुड़ा आत्मा का उपयोग मिथ्यात्व परिणाम है। वह जीव की विपरीत दृष्टि स्वयं अपने कारण से है, कर्म के कारण नहीं। कर्म तो परद्रव्य है। वह न शत्रु है न मित्र है। अपनी विपरीत दृष्टि ही अपनी शत्रु है, जो स्वयं अपनी तत्समय की योग्यता से होती है।

देखो, मिथ्यात्व तो स्वयं कर्म नहीं है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। उसके उदय से अर्थात् मिथ्यात्व के प्रगट होने से ही ज्ञान के अर्थात् आत्मा के मिथ्यादृष्टिपना होता है। उदय का अर्थ उदयभाव है। मिथ्यात्व उदयभाव है। कर्म का उदय तब कहलाता है, जब कि आत्मा का उपयोग उसमें जुड़े। यदि उपयोग न जुड़े तो कर्म को तो अपने स्वसमय में अपने ही कारण खिरना ही है सो खिर जाता है। अहा! आत्मा जो अपनी शुद्ध चैतन्यमय वस्तु को भूलकर स्वयं दर्शन के वश होकर पर को जानने-देखने में रुक गया है – अटक गया है, वह उसका ही अपराध है और वही मिथ्यात्वभाव है। इस मिथ्यात्वभाव के कारण ही आत्मा को मिथ्या-दृष्टिपना है, जड़कर्म के कारण नहीं।

प्रश्न :—कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि विकार कर्म के कारण होता है। इस विषय में उनका कहना है कि यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो विकार को स्वभाव होने का प्रसंग प्राप्त हो जायगा ?

उत्तर :—नहीं भाई ? ऐसा नहीं। गाथा ३७२ में तो आत्मा का स्वयं का परिणमन होने से स्वभाव कहा गया है। वहाँ गाथा में कहा है कि अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य के गुण की उत्पत्ति नहीं हो सकती, इस कारण यह सिद्धान्त प्रतिफलित होता है कि सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। यद्यपि यहाँ विकार की बात है तथापि यह भी स्वभाव अर्थात् स्व का भवन या अपना परिणमन है। वहाँ उस गाथा की टीका में भी कहा है कि – "जीवद्रव्य से क्या रागादि परद्रव्य उत्पन्न हो सकता है ? ऐसी शंका नहीं करना, क्योंकि अन्य से अन्य द्रव्य के गुण का (पर्यायों

का) उत्पाद करने की अयोग्यता है, क्योंकि सर्व द्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है।

देखो, कर्म से आत्मा में विकार उत्पन्न हो या कर्म आत्मा में विकार उत्पन्न करे – ऐसी कर्म में योग्यता ही नहीं है। विकारी परिणाम हो या अविकारी परिणाम हो – दोनों ही प्रकार के परिणामरूप से परिणमना पर्याय का स्वयं का स्वभाव है। यहाँ यह कथन पर्याय दृष्टि से "स्वस्वभवनं तु स्वभाव:" अर्थात् स्व का परिणमन ही स्वभाव है – कि अपेक्षा से है। जहाँ ऐसा कहा है कि – विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है, उसे द्रव्यदृष्टि से किया गया कथन समझना चाहिए।

विकार द्रव्य में तो है नहीं और पर्याय में से भी निकल जाने योग्य है, इस अपेक्षा से यह बात है।

इस तरह "कर्म विकार कराता है" यह मान्यता सर्वथा असत्यार्थ है अयथार्थ है। विकार अपने उल्टे पुरुषार्थ से होता है।

प्रश्न :—गोम्मटसार में तो ऐसा आता है कि ज्ञानावरणीय कर्म घातिया कर्म है और वह ज्ञान का घात करता है, वह कथन किस अपेक्षा से है?

उत्तर :—भाई! वह निमित्त की मुख्यता से किया गया व्यवहारनय का कथन है। वस्तुत: तो जब ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा का स्पर्श ही नहीं करता तो वह ज्ञान का घात कैसे कर सकता है? नहीं कर सकता। जब जीव स्वयं ही ज्ञान की पर्याय में भावघातीरूप हीन परिणमन करे, तब द्रव्यघाती को निमित्त कहा जाता है। निमित्त ज्ञान के परिणमन में कुछ कर सके – ऐसा तीन काल में भी संभव नहीं है।

प्रश्न :—जब घातीकर्म घात नहीं करता तो उसका नाम घातीकर्म ही क्यों पड़ा?

उत्तर :—भाई! प्रवचनसार की १६वीं गाथा की टीका में आया है कि घातीकर्म भी दो प्रकार के हैं – एक भावघाती और दूसरा द्रव्यघाती। भावघातीकर्म जीव के ज्ञान-दर्शन आदि गुणों की अशुद्ध विकारी दशा है और द्रव्यघाती जीव की विकारी दशा के परिणमन में निमित्त जड़कर्म की अवस्था है।

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति पूर्ण स्वभाव से भरा हुआ चिदानंद-घन त्रिकाल प्रभु है। उसके सन्मुख होने पर उसकी जो निर्विकल्प निर्मल प्रतीति होती है अथवा उसमें अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आता है, वह सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन धर्म का प्रथम सोपान है और मोक्ष का कारण है। तथा जो इस मोक्ष के कारण से विपरीत है, वह मिथ्यात्वभाव है और वही भावघाती कर्म है। जीव का पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। दर्शनमोहनीय, ज्ञानावरणीयादि कर्म तो जड़-पुद्गल का खेल है। कर्म से, निमित्त से व्यवहारनय का कथन किया जाता है, यह बात जुदी है, किन्तु कर्म या निमित्त जीव को विकार करते नहीं हैं। यहाँ कहते हैं कि मिथ्यात्व के उदय से अर्थात् मिथ्यात्वभाव प्रगट करने से ही ज्ञान को या आत्मा को मिथ्यादृष्टिपना आता है, क्योंकि मिथ्यात्वभाव आत्मा के सम्यक्त्व को रोकनेवाला विरोधी भाव विपरीत भाव है।

अब यहाँ ज्ञान को रोकनेवाले अज्ञान की बात कहते हैं। यहाँ आत्मा के अर्थ में जो 'ज्ञान" शब्द आया है, वह त्रिकाली आत्मा के अर्थ में नहीं है, बल्कि आत्मा का ज्ञानरूप से परिणमन होने पर जो सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, उसकी बात है। आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान व आनंद का कन्द प्रभु है। उसके सन्मुख ढलते हुए जो स्वरूप का ज्ञान होता है, वह सम्यग्ज्ञान है तथा वही मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। शास्त्रज्ञान स्वयं सम्यग्ज्ञान नहीं है, क्योंकि यह तो परलक्ष्यी ज्ञान है, अतः अज्ञान ही है तथा वकालात, डाक्टरी आदि का लौकिक ज्ञान भी परलक्ष्यी होने से सम्यग्ज्ञान नहीं, अज्ञान ही है। ज्ञान तो उसे कहते हैं जो स्वलक्ष्य से पूर्णानंद के नाथ ज्ञानस्वरूप निज शुद्धात्मा को जानता-अनुभवता हुआ हो, वही ज्ञान मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। उसे रोकनेवाला एवं उसका विरोधी होने से शेष सब अज्ञान है। वस्तुतः ज्ञान का राग में व परद्रव्यों के जानने में अटकना या रुकना ही अज्ञान है और यह अज्ञान सम्यग्ज्ञान का विरोधी है।

भाई! अज्ञानी को वीतराग देव के द्वारा कहे गए सच्चे मोक्षमार्ग की तो खबर नहीं है और व्रतादि करने को ही मोक्षमार्ग मानकर उसमें ही अटक जाते हैं तथा मन्दिर बनवाने, यात्रादि करने को ही धर्म मानकर संतुष्ट हो जाते हैं, परन्तु यह सब तो शुभ राग है। इनसे तो पुण्यबन्ध होता है, इसे तो अनन्त बार किया है, तथापि कल्याण नहीं हुआ।

"मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो ॥"

अहाहा······! आनंदमूर्ति भगवान चैतन्यदेव सदैव अन्दर विरज-मान है। उसके सन्मुख होने से, उसी में ढलने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वही आत्मज्ञान है, वह आत्मज्ञान आनन्द व वीतरागता सहित है। और वही मोक्ष के कारण रूप स्वभावभाव है। यहाँ स्वभाव का अर्थ त्रिकाली स्वभाव नहीं है, अपितु सम्यग्ज्ञानरूप पर्याय की बात है। उसे रोकनेवाला अज्ञान है। वह अज्ञान स्वयं कर्म ही है अर्थात् विकारीभाव ही है, आत्म-स्वभाव नहीं। उसके उदय से अर्थात् अज्ञान प्रगट होने से आत्मा को अज्ञानीपना होता है। इसप्रकार मिथ्यात्व व अज्ञान मोक्षमार्ग से विपरीत भाव है – ये दो बोल हुए।

अब चारित्र का ती . . . बोल कहते हैं – पूर्णानंद के नाथ ज्ञायक-मूर्ति भगवान आत्मा में रमने को, उसी में लीन होने को चारित्र कहते हैं। समयसार नाटक में भगवान आत्मा की महिमा का वर्णन करते हुए पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं—

चेतन अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो,
मोह महातम आतम अंग, कियो परसंग महातम घेरो,
ज्ञानकला उपजी अब मोहि, कहो गुन नाटक आगम केरो,
जासु प्रसाद सधै सिवमारग, वेगि मिटै भववास बसेरो ॥

उक्त पद्य में वे कहते हैं कि – यद्यपि मेरा पद तो त्रिकाल सिद्ध भगवान के समान ही चैतन्यमय अमूर्तीक और अनुपम है। जिस तरह सिद्ध भगवान अनुपमेय हैं, रागादिरहित केवल ज्ञाता-दृष्टास्वरूप चैतन्यमूर्ति और अमूर्तीक हैं, उसी तरह नित्य उद्योतरूप, जागृतस्वरूप, रागादि मेरा स्वरूप है, परन्तु मोहरूपी महा अंधकार का संग करने से, मैं अबतक अन्धा बन रहा था। अर्थात् रागादिभावरूप पाप व पुण्य का संग करने से मैं अपने निजपद को नहीं पहचान पाया था। अब मुझे ज्ञान की ज्योति प्रगट हो गई है। अहाहा······! अब मुझे ऐसा भान हो गया है कि दया, दान, व्रत, भक्ति आदिक शुभभाव से रहित शुद्ध चैतन्यमय निज स्वरूप में एकाग्र होकर अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करना ही चारित्र है। पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि – ऐसी ज्ञानज्योति प्रगट होने से अब मैं "नाटक समयसार" ग्रन्थ लिखता हूँ – क्योंकि इसके प्रसाद से मुझे परम विशुद्धि की

प्राप्ति होकर मोक्षमार्ग की सिद्धि होगी और संसार का निवास-जन्म-मरण छूट जावेगा।

यहाँ कहते हैं कि स्वरूप में रमणतारूप प्रगट हुए चारित्र में आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द को भोगता है। चारित्र कहते ही उसे हैं, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्वसवेदन प्रगट हुआ हो। अहाहा·········! भगवान आत्मा अकेला आनन्द की खान है। आत्मा की पर्याय आनन्द की प्रकृष्ट धारा के प्रवाहित होने का नाम ही चारित्र है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने पाँचवी गाथा में कहा है कि मैं अपने उस निज वैभव से शुद्धात्मा बताऊँगा, जिसमें प्रचुर स्वसंवेदन एवं आनन्द का उग्र वेदन हुआ है। तथा जो अनुभव की मुद्रा से मुद्रित है। देखो, आचार्यदेव ने पाँच पचास लाख की बाह्य धन-सम्पत्ति को वैभव नहीं कहा, क्योंकि यह तो धूल-मिट्टी है। पुण्यादि भी आत्मा का वैभव नहीं है, क्योंकि यह भी राग है, आकुलता है। इसमें आनन्द नहीं है। त्रिकाल निर्मलानंदस्वरूप भगवान आत्मा में रमणता करने से उत्पन्न प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द जिसकी मोहर (शील) है – ऐसा जो आत्मा का अनुभव प्रगट होता है, वह आत्मा का निज वैभव है और वही चारित्र है। वह चारित्र ही मोक्ष के कारणरूप स्वभाव है। यहाँ जो स्वभाव की बात कही वह त्रिकाली स्वभाव की बात नहीं है, बल्कि पर्याय की बात है।

अब कहते हैं कि शुभाशुभभावरूप कषाय परिणाम ही चारित्र का विरोधी परिणाम है, चारित्र को रोकनेवाला भाव है। शरीर की नग्नता तो जड़-माटी की अवस्था है, जो कि दुःख का ही कारण है। आस्रव का भाव तो चारित्र है नहीं। चारित्र तो अपने सिद्ध समान शुद्धात्मा के स्वरूप में रमणता से उत्पन्न हुआ अपना समरसीभावरूप परिणाम है। वही मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। यह शुभाशुभ भाव उस चारित्ररूप स्वभाव को रोकनेवाला भाव है। इसे चाहे व्यवहार कहो, कषाय कहो या चारित्र का विरोधीभाव कहो – ये सब एकार्थवाचक हैं।

ऐसा होते हुए भी कुछ लोग कहते हैं कि शुभभाव से चारित्र होता है। उन्हें यह बात समझनी ही होगी कि जो परिणाम चारित्र को रोकनेवाला है, चारित्र से विपरीत परिणाम है, वह चारित्र को कैसे प्रगट कर सकता है? अरे भाई! शुक्ल लेश्या जैसा मन्द कषाय रूप पुण्य परिणाम तो इस जीव ने अनन्त बार किया, उसके फलस्वरूप नौग्रैवेयक तक भी गया,

परन्तु उससे क्या लाभ मिला ? शुक्ल लेश्या का परिणाम तो अभव्य को भी हो जाता है, अतः यह मोक्ष का कारणरूप चारित्र नहीं हो सकता। भाई ! जिनेश्वर देव का कहा हुआ मुक्ति का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। ऐसी सूक्ष्म बात दिगम्बर जैन शास्त्रों के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं है।

त्रिलोकीनाथ परमात्मा कहते हैं कि – आत्मा त्रिकाल सच्चिदानंद स्वरूप सिद्ध समान परमेश्वर है। वर्तमान में भी आत्मा स्वभाव से सिद्ध समान ही है। जिस तरह सिद्ध भगवान में अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द प्रगट है, उसीप्रकार भगवान आत्मा में अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द का स्वभाव सदैव विद्यमान है। उस स्वभाव में अन्तर्लीन होकर रमने व प्रचुर आनन्द का अनुभव करने का नाम ही यथार्थ चारित्र है। यही चारित्र मोक्ष का कारण है। उसे रोकनेवाली कषाय है। कष् यानि संसार व आय यानि प्राप्ति। जिससे संसार की प्राप्ति हो, वह कषाय है। यह कषाय मोक्ष के कारण में रुकावट पैदा करती है।

शुभभाव कषाय है, क्योंकि यह भी जगपन्थ है। समयसारनाटक के मोक्षद्वार के निम्नलिखित ४०वें पद्य में भी शुभभाव को जगपन्थ कहा है।

"ता कारण जगपन्थ इत उत शिवमारग जोर।
परमादी जग मै धुकै अपरमादो सिव ओर।।

पंचमहाव्रत के शुभराग का विकल्प जगपन्थ अर्थात् संसारपंथ है, इससे भिन्न आत्मा का अनुभव मोक्ष का पन्थ है।

भाई ! संसारपरिभ्रमण करते-करते अनन्तकाल बीत गया, किन्तु आजतक भव का अन्त नहीं आया। कोई बहुत पाप करे तो नरक में जाता है, मायाचार-कपट करे तो तिर्यंच हो जाता है। कदाचित् कषाय की मन्दता व सरल परिणाम हो जावें तो मनुष्य हो जाता है और व्रत, तप, शीलादि का पालन करके विशेष शुभ परिणाम हुए तो देव हो जाता है, किन्तु ये चारों ही गतियाँ संसार हैं, दुःखरूप हैं। देव भी विषयसुख के आधीन होने से दुःखी ही हैं। विषयभोग के परिणाम रागरूप हैं, अतः देवगति में दुःख ही है।

केवल आत्मा ही अकेला आनन्द का धाम है। यह आत्मा जो अन्यत्र खोजने जाता है, यह इसकी मूढ़ता है, अज्ञानता है। जिसतरह

मृगतृष्णा में पानी खोजने जाना मूर्खता है, उसीतरह इन्द्रियों के विषयों में सुख खोजना मूढ़ता है। रेगिस्तान की रेतीली जमीन पर सूर्यकिरणों की चमक, जो रेत में पानी होने का भ्रम पैदा करती है, उसे मृगतृष्णा-मृगजल या मृगमारीचिका कहते हैं। वहाँ पानी तो होता नहीं है, परन्तु मृग को ऐसा भ्रम हो जाता है कि पानी है। अतः वह पानी के लिए इधर से उधर, उधर से इधर दौड़ता है और अन्ततः प्यास से तड़फ-तड़फ कर मर जाता है। ठीक इसी तरह अज्ञानी बाह्य इन्द्रियों के विषयों में सुख मानकर उन्हें करने के उपायों में ही अपना जीवन गवाँ देता है।

आचार्य कहते हैं कि यदि सुखी होना हो तो अनन्त सुख का धाम तो तेरा आत्मा स्वयं है, उसे ही जान, उसी को पहचान और उसी में जम जा, उसी में रम जा तू पूर्ण सुखी हो जायेगा। अपने आनन्द के सागर भगवान आत्मा को तो देखता नहीं है और बाहर की सुख की खोज करता है, यह तेरी मूर्खता है।

लोक में ऐसा माना जाता है कि पैसेवाले (करोड़पति) लोग सुखी हैं, परन्तु भाई! पैसे में, बंगलों में, मोटरगाड़ियों में सुख नहीं है। सुख का धाम तो एकमात्र आत्मा है।

यहाँ कहते हैं कि स्वरूप के आचरणरूप चारित्र में ही सुख है, आनन्द है। स्वरूप में चरना ही कहा है। "स्वरूपे चरणं चारित्रं" ऐसा कुन्दकुन्द ने स्वयं प्रवचनसार में कहा है। यह चारित्र ही मोक्ष अर्थात् सुख का कारणरूप स्वभाव है।

उस चारित्र को रोकनेवाली कषाय है। दया-दान-व्रत-तप आदि का जो शुभभाव है, वह चारित्र को रोकनेवाला है। वह शुभभाव ही स्वयं कर्म है, उसके उदय से अर्थात् उत्पन्न होने से आत्मा के अचारित्रपना होता है। इसीलिए कहा है कि "कर्म स्वयं मोक्ष के कारण का तिरोधायी भाव-स्वरूप होने से उसका निषेध किया गया है।"

इससे स्पष्ट है कि शुभभाव धर्म नहीं है, क्योंकि वह विकारीभाव होने से स्वयं निषेध कर दिया गया है। वह धर्म तो है ही नहीं, धर्म का कारण भी नहीं है, बल्कि धर्म से विरुद्ध स्वभाववाला है।

धर्मी जीवों को भी शुभभाव आता है, परन्तु उसे वह धर्म नहीं मानता, बल्कि हेय मानता है।

गाथा १६१-१६२-१६३ के भावार्थ पर प्रवचन

"सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र मोक्ष के कारणरूप भाव हैं।"

मोक्ष अर्थात् आत्मा की निर्मल पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द या निर्बाधसुख की प्राप्ति।

बाह्य धनसम्पत्ति आदि भोगसामग्री में सुख नहीं है। वहाँ सुख मानना तो अज्ञानी का भ्रम है। सुख तो अन्दर आत्मा में है। उसी सुख का पर्याय में प्रगट हो जाना मोक्ष है।

उस मोक्ष के कारणरूप भाव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। सम्यग्दर्शन अर्थात आत्मदर्शन अहाहा.........! भगवान आत्मा स्वभाव से तो सदा परिपूर्ण ज्ञानानंद स्वभावी ही है। उसके सन्मुख होकर उसी में ढलने से उस परिपूर्ण तत्त्व की जो यथार्थ प्रतीति होती है, उसी का नाम आत्मदर्शन या सम्यग्दर्शन है। उसके वेदन सहित जो उसका ज्ञान होता है, वह सम्यग्ज्ञान है और उसी में रमणता – लीनता होनेपर जो प्रचुर आनन्द का वेदन होता है, वह सम्यक्चारित्र है। यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष के कारणरूप भाव हैं।

उस सम्यक्त्वादि से विपरीत मिथ्यात्वादिभाव हैं। पर में सुख है, पुण्यभाव से धर्म होता है, शरीरादि पर पदार्थ धर्म व सुख के साधन हैं – इत्यादि मिथ्या मान्यतायें सम्यग्दर्शन से विपरीत हैं। परलक्ष्य व पर का ज्ञान मिथ्याज्ञान है एवं स्वरूप के आचरण से भिन्न पुण्य-पापरूप आचरण मिथ्याचारित्र है। यह मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र सम्यक्त्वादि से विपरीत हैं।

"कर्म मिथ्यात्वादि भावस्वरूप हैं' देखो, यहाँ कर्म का अर्थ मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मिथ्यात्वभाव किया है। इसप्रकार मिथ्यात्वादि भावकर्म मोक्ष के कारणरूप भावों से विपरीत भावस्वरूप हैं।

पहले तीन (१५७-१५८-१५९) गाथाओं में कहा था कि व्रत, नियम, तप, शील आदि शुभभावरूप कर्म मोक्ष के कारणरूप सम्यक्त्वादि भावों के घातक हैं। अर्थात् वे भाव सम्यग्दर्शनादि को प्रगट नहीं होने देते। १६०वीं गाथा में भी कहा है कि – कर्म स्वयं बन्धस्वरूप हैं। स्वयं ही बन्धस्वरूप होने से वे मोक्ष के कारण होने लायक नहीं हैं। उसके बाद इन अन्तिम तीन गाथाओं में कहा है कि कर्म मोक्ष के कारणरूप भावों से

विरुद्ध भावस्वरूप हैं। इसलिए सम्पूर्ण कर्म निषेध करने लायक हैं, क्योंकि वह धर्म का कारण नहीं है, बल्कि धर्म से विरुद्धभावस्वरूप है।

प्रश्न :—शुभभावरूप कर्म को मोक्ष का परम्परा कारण तो कहा है न ?

उत्तर :—वस्तुतः तो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को जो शुद्धता प्रगट हुई है, जो चारित्र प्रगट हुआ है, वह वृद्धिगंत होता हुआ पूर्णता को प्राप्त होकर मोक्ष का परम्परा कारण बनता है; किन्तु इसके साथ जो सहचारी शुभभाव शेष रहता है, जिसे कि चैतन्य के आश्रय से क्रमशः क्षीण करता जाता है, उसे उपचार से आरोप करके मोक्ष का परम्परा कारण कहा है। वास्तविक रूप से तो वह मोक्ष का परम्परा कारण भी नहीं है, क्योंकि निश्चय से राग मोक्ष का परम्परा कारण भी नहीं हो सकता।

इसप्रकार यहाँ यह बताया है कि – कर्म मोक्ष के कारण का घातक है, बन्धस्वरूप है और बन्ध के कारणस्वरूप है, इसलिए उसका निषेध किया गया है।

भाई! ज्ञानी तो एक अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ त्रिकाल ज्ञान-स्वभावी भगवान आत्मा को ही उपादेयरूप ज्ञेय मानते हैं और शुभराग को हेयरूप ज्ञेय जानते हैं। ज्ञेय तो तीनों हैं, एक त्रिकाली शुद्ध आत्मा ज्ञेय है, दूसरा मोक्षमार्ग का परिणाम ज्ञेय है और तीसरा पुण्य-पाप का भाव भी ज्ञेय है; किन्तु इन तीनों में त्रिकाली शुद्धात्मा त्रिकाल उपादेयरूप ज्ञेय है, मोक्षमार्ग का कारण प्रगट करने के लिए तात्कालिक उपादेयरूप ज्ञेय है और पुण्य-पाप का परिणाम हेयरूप ज्ञेय है।

अब कहते हैं कि अशुभ कर्म तो मोक्ष के कारण हैं ही नहीं, बाधक ही हैं, इसकारण वे तो निषिद्ध हैं ही, किन्तु शुभकर्म भी कर्मसामान्य में गर्भित हैं, अतः वे भी बाधक ही हैं। अतः वे भी निषिद्ध ही हैं।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(शार्दूलविक्रीडित)

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
सन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥ १०९ ॥

श्लोकार्थ : -- [मोक्षार्थिना इदं समस्तम् अपि तत् कर्म एव संन्यस्तव्यम्] मोक्षार्थीको यह समस्त ही कर्ममात्र त्याग करने योग्य है। [संन्यस्ते सति तत्र पुण्यस्य पापस्य वा किल का कथा] जहाँ समस्त कर्मों का त्याग किया जाता है, फिर वहाँ पुण्य या पाप की क्या बात है ? (कर्ममात्र त्याज्य है, तब फिर पुण्य अच्छा है और पाप बुरा है – ऐसी बात को अवकाश ही कहाँ है ? कर्म सामान्य में दोनों आ गये हैं।) [सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनात् मोक्षस्य हेतुः भवन्] समस्त कर्म का त्याग होने पर, सम्यक्त्वादि अपने स्वभावरूप होने से – परिणमन करने से मोक्ष का कारणभूत होता हुआ, [नैष्कर्म्यप्रतिबद्धम् उद्धतरसं] निष्कर्म अवस्था के साथ जिसका उद्धत (उत्कट) रस प्रतिबद्ध है – ऐसा [ज्ञानं] ज्ञान, [स्वयं] अपने आप [धावति] दौड़ा चला आता है।

भावार्थः—कर्म को दूर करके, अपने सम्यक्त्वादिस्वभावरूप परिणमन करने से मोक्ष का कारणरूप होनेवाला ज्ञान अपने आप प्रगट होता है, तब फिर उसे कौन रोक सकता है ?।

कलश १०९ पर प्रवचन

यहाँ अमृतचंद्र आचार्य कहते हैं कि – मोक्षार्थी को समस्त कर्म त्यागने योग्य हैं। जिसे परमानन्द की प्राप्ति का प्रयोजन है, उसे समस्त-कर्म अर्थात् पुण्य-पापरूप सम्पूर्ण कर्म त्यागने योग्य है। देखो, जहाँ समस्त कर्म त्यागने की बात कह दी गई हो, उसमें पुण्य-पाप सभी कर्म आ गये, ऐसा कोई भी कर्म शेष नहीं रहा, जिसका पृथक् से उल्लेख किया जावे। तो फिर पुण्य-पाप की पृथक् से कथा करने की आवश्यकता ही क्या ? कर्म में पुण्य ठीक व पाप ठीक नहीं – ऐसा भेद ही नहीं है, क्योंकि दोनों ही बन्ध के कारण हैं।

यद्यपि यह बात सुनने में कठोर लगती है, परन्तु वीतराग देव का मार्ग ही वीतरागता से प्रारम्भ होता है। शुभराग की दृष्टि से वीतरागता की दृष्टि प्राप्त नहीं होती, किन्तु चैतन्यमूर्ति त्रिकाली भगवान आत्मा जो वीतरागी देवतुल्य अन्तर में विराजता है, उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, अतः मोक्षार्थी को पुण्य-पाप दोनों एक से ही निषेध करने लायक हैं।

योगीन्द्रदेव ने योगसार में पुण्य को भी पाप कहा है ।

पाप तत्त्व को पाप तो, जाने जग सब कोय ।
पुण्य तत्त्व भी पाप है, कहे अनुभवी लोय ।।

इसी अधिकार में आचार्य जयसेन की टीका में भी यह बात आती है—

"अत्राह शिष्य :—"जीवादिसद्दहणम्" इत्यादि व्यवहार रत्नत्रय-व्याख्यानं कृतं तिष्ठति कथं पापाधिकार इति"

यहाँ आचार्य जयसेन ने शिष्य के मुख में डालकर ऐसा प्रश्न उठाया है कि इस अधिकार में तो जीवादि के श्रद्धान रूप व्यवहार रत्नत्रय का व्याख्यान किया है, फिर इसे पाप अधिकार क्यों कहा गया है ?

जयसेनाचार्य के ही शब्दों में उत्तर इसप्रकार है – "यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादुपादेय: परम्परया जीवस्य पवित्रताकारणात् पवित्रस्तथापि वहिर्द्रव्यालबनेन पराधीनत्वात्पतति नश्यतीत्येकं कारणं ।

अर्थात् यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय रत्नत्रय का उपादेयभूत कारण होने से पवित्र है, तथापि बहिर्द्रव्य का आलम्बन होने से एव पराधीन होने से स्वरूप से पतित करता है, स्वाधीनता को नष्ट करता है, इस अपेक्षा पुण्यरूप व्यवहाररत्नत्रय को पाप कहा गया है ।"

व्यवहार रत्नत्रय के कषाय की मंदतारूप शुभ भावों को पाप कहने का दूसरा कारण बताते हुए वे लिखते हैं – "निर्विकल्प समाधिरतानां व्यवहार विकल्पालंबनेन स्वरूपात्पतितं भवतीति द्वितीयंकारणम् इति निश्चयनयापेक्षया पापं । अर्थात् निर्विकल्प समाधि में लीन पुरुष व्यवहार के विकल्प के अवलम्बन से स्वरूप से पतित हो जाते हैं इस कारण भी व्यवहार रत्नत्रय के शुभ विकल्पों को निश्चयनय की अपेक्षा पाप कहा गया है ।"

इसी क्रम में तीसरा कारण वताते हुए आचार्य जयसेन ही आगे लिखते हैं कि—

"अथवा सम्यक्त्वादि विपक्षभूतानां मिथ्यात्वादीनां व्याख्यानं कृतमिति व पापाधिकार:"

अर्थात् सम्यक्त्वादि से विरुद्ध होने से मिथ्यात्वादि को पाप का अधिकार कहा है, क्योंकि व्यवहार रत्नत्रय का शुभराग सम्यक् रत्नत्रय के वीतरागी परिणाम से विरुद्ध होने से पाप है। इसकारण यह पाप अधिकार चलता है – ऐसा कहा गया है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने भी प्रवचनसार की ७७वीं गाथा में कहा है—

"पुण्य व पाप में कोई अन्तर नहीं है – ऐसा जो नहीं मानता, वह मोह-मिथ्यात्व से आच्छादित है। अथवा पुण्य व पाप में अन्तर नहीं होते हुए भी जो उन दोनों में अन्तर है – ऐसा मानता है, वह मोह से मिथ्यात्व से आच्छादित रहता हुआ अपार संसार में डोलता है।"

पुण्य व पाप दोनों ही सामान्य रूप से बन्धरूप होने पर भी जो पुण्य को अच्छा व पाप को बुरा मानता है, वह घोर संसार में रखड़ेगा।

अहो! मात्र कुन्दकुन्द ही नहीं, सर्व दिगम्बर संत इस सनातन वीतरागी जैनदर्शन के प्रवाह का ही पोषण करते हैं।

आ० कुन्दकुन्द आज से दो हजार वर्ष पूर्व हुए, आ० अमृतचंद उनके बाद आज से एक हजार वर्ष पूर्व हुए तथा आ० जयसेन आज से ९०० वर्ष पूर्व हुए अर्थात् आ० अमृतचंद्र से १०० वर्ष बाद आचार्य जयसेन हुए। आचार्यों में काल का इतना अन्तर होते हुए भी सभी दिगम्बर संतों का एक ही कथन है कि देव-गुरु-शास्त्र की व्यवहार श्रद्धा, बारह व्रतों व पाँच महाव्रतों का भाव तथा शास्त्रों का परलक्ष्यी ज्ञान ये सभी निश्चय की अपेक्षा अर्थात् स्वभाव से पतित करानेवाले हैं।

जो जीव ऐसा मानते हैं कि व्यवहार के शुभ राग से धर्म होगा और ये 'निश्चय से मोक्ष के कारण हैं – वे भूले हैं, सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं। वे ज्ञान व चारित्र से भी भ्रष्ट हैं। अरे भाई! ऐसा शुभभाव तो अनन्तबार किया और इससे नवग्रैवेयक तक गया, किन्तु उससे आजतक तो सम्यग्दर्शन हुआ नहीं।

प्रश्न :—जब काललब्धि आयेगी, तभी तो सम्यग्दर्शन होगा न?

उत्तर :—भाई! काललब्धि तो तभी आयेगी, जब जीव स्वभाव-सन्मुख होने का पुरुषार्थ करेगा। काललब्धि हुई – इसका यथार्थ ज्ञान भी उसी को होता है – जो जीव स्वभाव सन्मुख होने का पुरुषार्थ करता है।

यह काललब्धि का प्रश्न सम्बत् १९७२ में उठा था। उससमय क्रमबद्धपर्याय की चर्चा में जब यह कहा कि – "केवलज्ञानी ने जब, जो, जहाँ जिसके कारण से जैसा होना देखा होगा; तभी, वही, वहीं उसी कारण से वैसा ही होगा।" तब इस कथन पर अनेक शंकायें खड़ी की गई थीं। परन्तु भाई ! ऐसा विश्वास उसी को होगा जिसको केवली पर श्रद्धा है। उक्त बात में शंका का अर्थ है केवलज्ञान व केवलीज्ञानी (देव-शास्त्र-गुरु) में शंका करना।

जिसतरह केवली की श्रद्धा बिना क्रमबद्ध की श्रद्धा नहीं हो सकती, उसीतरह स्वभावसन्मुख हुए बिना काललब्धि की श्रद्धा-विश्वास संभव नहीं है।

जब जीव स्वभाव सन्मुखता का पुरुषार्थ करता है तो उसे काललब्धि सहित पाँचों समवायों का श्रद्धान तो आ ही जाता है।

१. जीव स्वभावसन्मुख हुआ उसमें स्वभाव तो आ ही गया।
२. स्वभाव सन्मुखता का पुरुषार्थ किया अतः पुरुषार्थ भी आ गया।
३. जिससमय अपनी निर्मल पर्याय प्रगट हुई वही काललब्धि है।
४. जो काम हुआ वही भवितब्यता है, क्योंकि जो होने योग्य था वही हुआ।
५. कर्म का निमित्त हट गया, यही कर्म का उपशम है।

इसप्रकार पाँचों समवाय एकसाथ आ जाते हैं। भाई ! वीतराग मार्ग का समझना स्वयं में एक अद्भुत पुरुषार्थ है।

निश्चय से तो निर्मल रत्नत्रय रूप ज्ञातादृष्टा परिणाम होना आत्मा का कर्म है और भगवान आत्मा उसका कर्ता है।

द्रव्य को कर्ता और पर्याय को कर्म कहना भी व्यवहार है। वस्तुतः तो परिणाम स्वयं ही परिणाम का कर्ता-कर्म-करण आदि है, द्रव्य-गुण नहीं, क्योंकि द्रव्य-गुण तो अक्रिय है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में शुद्ध द्रव्य का दर्शन हो जाय अथवा मात्र द्रव्य का काम दर्शन देना है। शेष तो वह सम्यग्दर्शन की पर्याय स्वयं अपनी कर्ता है। स्वयं ही कर्म है स्वयं ही अपना करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण है। छहों कारक पर्याय के स्वयं पर्याय में ही हैं। चाहे सम्यग्दर्शन का परिणाम हो या मिथ्यादर्शन का, इसके कर्ता द्रव्य-गुण भी नहीं और निमित्त भी नहीं। पर्याय स्वयं ही स्वयं की षट्कारक भाव को प्राप्त होकर स्वतन्त्र रूप से परिणमता है।

लोक में ऐसा कहा जाता है कि – लाखों क्षुद्र कीड़ियाँ (चींटियाँ) मिलकर कालेनाग को भी मार डालती हैं, कोलकर खा जाती हैं। किन्तु यह बात अध्यात्म के क्षेत्र के बाहर की है। अध्यात्म में जहाँ कण-कण और जन-जन को स्वतंत्रता और उसकी प्रत्येक पर्याय के स्वतंत्र स्वाधीन परिणमन की बात कही गई है, उसमें एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का या उसकी पर्याय का कर्ता कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

मिथ्यादृष्टि भगवान द्वारा निरूपित तत्त्व की बात को न माने तो इसकारण किसी को उनके प्रति वैर-विरोध नहीं करना चाहिए। शक्तिरूप से तो सभी भगवान ही हैं। यद्यपि वही पर्याय में भूल है, परन्तु वह स्वभाव के आश्रय से निकल जाने योग्य है। अन्तर में तो सभी आत्माएँ सच्चिदानन्दमय भगवान स्वरूप ही हैं। चाहे वे बालक के शरीर में हो या स्त्री के, पुरुष के। शरीर में हो, या नपुंसक के कीड़ी-कीड़ा के शरीर में हो या हाथी के – सभी के अन्दर शुद्ध चैतन्य भगवानस्वरूप आत्मा ही विराज रहा है।

पुण्य-पाप का लक्ष्य छोड़कर अपने उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का आश्रय करने से मोक्ष का मार्ग उत्पन्न होता है।

प्रवचनसार की गाथा ७७ में भी कहा है कि – पुण्य-पाप में कुछ भी अन्तर नहीं है। तथापि जो दोनों में अन्तर देखते हैं अर्थात् एक को उपादेय व दूसरे को हेय मानते हैं वे मोह से आच्छादित रहते हुए अनन्त-कालतक संसार सागर में गोते लगायेंगे।

यद्यपि बात बहुत स्पष्ट है तथापि न जाने क्यों कुछ लोग प्रवचनसार की ४५वीं गाथा में आये "पुण्यफला अरहंता" के असली अर्थ को न मानकर अपने मन का अर्थ करते हैं। इसकर सही अर्थ समझने के लिए इसी गाथा की उत्थानिका दृष्टव्य है – संस्कृत टीकाकार आचार्य अमृतदेव कहते हैं कि – "अथैवंसति तीर्थकृतं पुण्यविपाको किंचित्करएवेत्यवधारयति" अर्थात् इसप्रकार होने पर भी तीर्थंकारों के पुण्य का विपाक अकिंचित्कर ही है (कुछ करता नहीं है द्रस्वभाव का किंचित् घात नहीं करता) अब ऐसा निश्चित करते हैं—

इतना स्पष्ट कथन होने पर भी कुछ लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि – पुण्य के फल में अरहंत पद मिलता है। कैसी विचित्र बात है तो इसमें तो यह कहा है कि अरहंतों के अतिशय पुण्य होता है। अरहंत पद में जो

समोशरण की रचना, दिव्यध्वनि, विहार वगैरह की क्रिया होती है – ये सब पुण्य के फल हैं। यद्यपि ये सब औदयिकी क्रियायें हैं, किन्तु मोहादि से रहित होने से इन्हें क्षायिकी कहा गया है। तात्पर्य यह है कि उनके मोहभाव न होने से उनका उदयभाव प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, इसकारण उदय की क्रिया को वहाँ क्षायिकी क्रिया कहा गया है।

इस कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि अरहंत पद की प्राप्ति पुण्य के फल में नहीं होती, बल्कि अरहंत के पद में विशेष जाति के पुण्य का उदय होता है।

अब कहते हैं कि अपने सम्यक्त्वादि स्वभावरूप परिणमन करने से मोक्ष का कारण रूप होनेवाला ज्ञान रागादि की परवाह किए बिना अपने आप प्रगट होता है तब फिर उसे कौन रोक सकता है ?

पुण्य-पाप का भाव जो विभावभाव है उसका सम्पूर्ण त्याग होने पर तथा सम्यक्त्वादि जो आत्मा का निज स्वभाव है, उस रूप परिणमन पर रागादिकर्म का त्याग करता हुआ निष्कर्म अवस्था के साथ उत्कट रस संयुक्त ज्ञान अपने आप दौड़ा चला आता है। जिसप्रकार कुटुम्ब में कोई उद्धत लड़का हो तो वह माता-पिता व बड़े भाई को भी नहीं गिनता, उसीतरह जिसको श्रद्धा-ज्ञान व स्वरूप में रमणता प्रगट हुई हो वह ज्ञान राग को कुछ भी नहीं गिनता।

देखो, पुण्य-पाप का रस तो दुःखरूप जहर है तथा उसके त्याग से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है, वह परम अतीन्द्रिय आनन्द रूप अमृत रस से सम्बन्धित है।

अरे ! लोक चारित्र को दुःखरूप कहते हैं। लोहे के चने चबाने जैसा कठिन कहते हैं, किन्तु भाई ! ऐसा नहीं है। चारित्र तो सहज सुखरूप है। यह तो अतीन्द्रिय आनन्द के रस से लबालब भरा हुआ है। यह दुःखरूप नहीं है। इसे दुःखरूप मानना तो मिथ्यादृष्टि का लक्षण है।

छहढाला में कहा है—

"आतम हित हेतु विराग ज्ञान, ते लखे आपको कष्टदान।"

मिथ्यादृष्टि ऐसा मानता है कि चारित्र कष्टदायी है। यहाँ आचार्य अमृतचंद तो इस कलश में यह कहते हैं कि – चारित्र आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द रस से लबालब भरा हुआ है।

ज्ञान के वह निर्मल परिणमन स्वयं प्रगट होता है, उसे व्यवहार की कोई अपेक्षा नहीं है। जहाँ शास्त्रों में ऐसा कहा है कि – "कषाय की मंदतारूप व्यवहार रत्नत्रय से निश्चय प्रगट होता है, उपचार से व्यवहार-नय का कथन समझना चाहिए।

यहाँ कहते हैं कि – व्रतादि शुभकर्म दुःख से भरे हैं तथा पुण्य-पाप से रहित आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान व चारित्र रूप निर्मल परिणमन अतीन्द्रिय आनन्द के रस से भरा है, क्योंकि भगवान आत्मा अकेला आनन्द का कन्द है।

जैसा प्रवचनसार के ज्ञेय अधिकार में आया है कि – प्रत्येक द्रव्य की पर्याय एक के बाद एक क्रमशः स्वतः दौड़ती आती है, उसीप्रकार यहाँ कहते हैं कि मोक्ष के कारणभूत आनन्द के उत्कृष्ट रस से भरा ज्ञान (आत्माका निर्मल परिणमन) स्वतः दौड़ता आता है। उसने वर्तमान में पुण्य के परिणाम होते हुए भी पुण्य परिणाम का उलंघन करके ज्ञान की पर्याय को द्रव्य में जोड़ दिया उसे उस पर्याय में उत्कृष्ट आनन्दरस का स्वाद आता है, क्योंकि मोक्षमार्ग की दशा सहज आनन्द रस से भरी हुई है।

लोक में तो बाह्य अनुकूलताओं के होने पर सुखी माना जाता है – स्वस्थ्य शरीर हो, २०-२५ लाख की सम्पत्ति हो, अच्छी आय हो, आज्ञाकारी पुत्र-नौकर-चाकर हों, रूपवान सेवाभावी मधुरभाषी पत्नी हो तो दुनिया उसे सुखी मानती है और वह भी अपने को सुखी महसूस करता है, परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि बाह्य की सभी अनुकूलतायें क्षणिक हैं, नाशवान हैं, और तेरे पुण्य के उदय से ये अनुकूल लगती हैं, सुहावनी से लगती हैं, वस्तुतः इसमें किंचित् मात्र भी सुख नहीं। सुख का धाम तो एकमात्र आत्मा है। एक मोक्षमार्ग की दशा ही आनन्द के रस से प्रतिबद्ध है, संयोगों में तो सुख है ही नहीं, शुभाशुभ कर्म में भी सुख नहीं है।

कलश १०९ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, भगवान आत्मा शुद्ध चिदानंदघन स्वभावी वस्तु है, उसकी निर्मल प्रतीति, उसके सन्मुख हुआ ज्ञान व उसी में रमणतारूप परिणमन से पूर्ण आनन्द स्वरूप मोक्ष दशा स्वतः प्रगट होती है। आत्मा पुण्य-पाप के भाव से रहित अपने त्रिकाली स्वभाव के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-

चारित्ररूप परिणमन करने से स्वतः मोक्ष दशा को प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा को मोक्ष या मोक्ष के कारणरूप परिणमित होने में अन्य किसी पर कारण की या निमित्त की अथवा व्यवहार रत्नत्रय की अपेक्षा नहीं होती।

जिन पुण्य-पाप के भावों में जीव अटका है, यदि उन्हें छोड़ देवे तो मोक्ष का कारण ज्ञान तो अपने आप प्रगट हो जाता है। जहाँ इसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, वहाँ इसे प्रगट होने से कौन रोक सकता है? जिसने दृष्टि में से शुभ-अशुभ भावों को हेय कर दिया है और एक त्रिकाली ज्ञायकभाव पर दृष्टि स्थापित करके उसका आश्रय किया है, उसे अपने आप रत्नत्रयरूप निर्मल परिणमन हो जाता है, जो कि साक्षात् मोक्ष का कारण है।

जब आत्मा के स्वभाव सन्मुखता रूप स्वतन्त्र परिणमन में किसी भी प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा नहीं है, तो आत्मा में रत्नत्रयरूप धर्म प्रगट होने से कौन रोक सकता है?

शरीर-मन-वाणी, इन्द्रियों की तो बात ही क्या – ये तो बाह्य वस्तुयें हैं, इनका तो आत्मा में अस्तित्व ही नहीं है। दया-दान-व्रत-तप-भक्ति आदि शुभ भावों का भी आत्मा की पर्याय में केवल एकसमय मात्र का सम्बन्ध है, उस पर से लक्ष्य हटा ज्ञायकस्वभावी आत्मा में एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का जो सहज परिणमन होता है, वह धर्म है, मोक्ष का कारण है। यह सम्यक् एकान्तरूप है।

इसके अतिरिक्त जो ऐसा कहते हैं कि व्रत-तप आदि शुभ राग करते-करते निश्चयधर्म प्रगट होता है, वह मिथ्या एकान्त है।

प्रश्न :—यदि कोई ऐसा माने कि इन व्रतादि के शुभ भावों से तो धर्म नहीं होता, किन्तु इसके बिना भी नहीं होता, यह तो अनेकान्त हुआ न?

उत्तर :—अरे भाई! यह तो मिथ्या अनेकान्त है। इन व्रतादि शुभभावों के बिना ही धर्म प्रगट होता है। देखो, मूल टीका में भी यही कहा है "कर्मों को दूर करके" जब शुभाशुभ कर्मों को दूर किया तो इनके बिना ही हुआ कहलाया न? भाई! सम्यग्दर्शन का आश्रय त्रिकाली द्रव्यस्यभाव है, रागादि नहीं। जबतक आत्मा का रागादि के आश्रय से परिणमन होता है तबतक सम्यग्दर्शनरूप धर्म प्रगट नहीं होता। सम्यग्दर्शन का निर्मल परिणाम व्यवहार के राग से सर्वथा निर्‌ है। अर्थात् व्यवहार

के राग के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। क्या उल्टी श्रद्धा से मोक्ष में जाना सम्भव है? नहीं। उल्टी श्रद्धा से तो चारगति का परिभ्रमण ही होता है।

यहाँ कहते हैं कि जो पुण्य-पाप रूप समस्त कर्म की दृष्टि छोड़कर एवं स्व का आश्रय लेकर स्वरूप में रमता है – उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निराकुल आनन्द प्राप्त करने से कौन रोक सकता है? पहले तो यह स्वयं अज्ञानी हुआ पुण्य के राग में अटका था, किन्तु अब ज्यों ही पुण्य की रुचि छूटी तो स्वाधीन सुखरूप स्वभावभाव से परिणमन करने लगा।

जिसतरह प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य-गुण एवं पर्याय की सत्ता में हैं, उसीतरह यह आत्मा भी अपने द्रव्य-गुण व पर्याय की सत्ता में है। यह अबाधित मर्यादा है, किन्तु शरीरादि परद्रव्य में एवं व्रतादि के शुभभावों में अज्ञानी की एकत्व-ममत्व एवं उपादेय बुद्धि है, वह मिथ्यात्वभाव है, और वह मिथ्यात्वभाव आत्मा में सम्यग्दर्शनादि रूप धर्म प्रगट होने नहीं देता। जिसने इस शरीरादि परवस्तु व विकाररूप शुभभावों का आश्रय छोड़कर स्वभाव का आश्रय लिया, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म प्रगट होता है। उसे धर्मरूप परिणत होने से कौन रोक सकता है?

भाई! जो शुभभाव की रुचि में अटका है, उसे आत्मा से अरुचि है, द्वेष है। आनन्दघनजी ने अपने स्तवन "द्वेष अरोचकभाव" कहकर अरुचि को द्वेष कहा है – आत्मा की अरुचि व परकी रुचि ये आत्मा के प्रति द्वेष है, क्रोध है। त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव फरमाते हैं कि – हे भव्य! तू पुण्य की रुचि छोड़कर भगवान ज्ञायकदेवकी रुचि कर, तभी तुझे निराकुल आनन्दकी प्राप्ति होगी।

जिसको अभी पुण्य का भी पता नहीं है, जो अभी पुण्य की भावभूमि में ही नहीं आया, निरंकुश पाप प्रवृत्ति में पड़ा है, उसके दुःख की तो बात ही क्या करें, वह तो भवसमुद्र में डूबा ही है, उसे तो सर्वप्रथम अपनी पाप की महा खोटी प्रवृत्ति छोड़ना ही चाहिए। किन्तु यहाँ तो जो देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति आदि पुण्यभाव में आ गया है, उससे कहते हैं कि – भाई! यदि तुझे जन्म-मरण से अर्थात् ८४ के अवतार से थकान लगी हो और छूटने की भावना जागृत हुई हो तो पुण्यभाव की रुचि छोड़दे और निज

चैतन्यमूर्ति भगवान ज्ञायकस्वरूप आत्मा की दृष्टि कर, उसी में रमणता-लीनता कर, जिससे तुझे परम आनन्द की प्राप्ति होगी।

जो जीव पुण्य की रुचि में अटकते हैं, उनके असीम दुःख का कहीं पार नहीं है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की कथा सुनो तो आँख का पानी नहीं रुकेगा। वह पुण्य को रुचि में अटकने के परिणामस्वरूप अभी सातवें नरक में है। कहाँ तो चक्रवर्ती के जीवन की अनुकूलता और कहाँ सातवें नरक का दुःख चक्रवर्ती का सेवा में सोलह हजार तो देव उपस्थित रहते हैं, वह ९६ हजार रानियों का पति, ७०० गावों का स्वामो और छहखण्ड की विभूति का अधिपति होता है। उसकी अनुकूलता की क्या बात? और सातवें नरक की अनन्त प्रतिकूलता को भी क्या कहें; जहाँ के दुःखों को सुनने मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती जो क्षणभर पहले चक्रवर्ती के वैभव का सुख भोग रहा था और क्षणभर बाद पुण्य की मिठास व रुचि के कारण सातवें नरक का नारकी हो गया। वह मरते समय कुरुमति-कुरुमति करता हुआ मोह-ममता एवं भोग के भावों के दुष्परिणाम स्वरूप मरकर सातवें नरक में गया, जहाँ अनन्त वचनातीत दुःख भोग रहा है। अभी तो केवल वहाँ गए ८४ हजार वर्ष ही हुए हैं। अभी तो असख्य अरब वर्षों तक नरकवास में ऐसे ही अनन्त दुःख भोगेगा।

अहाहा........! चक्रवर्ती के पद में कैसी अनुकूलता? पानी माँगे तो मौसम्मी का रस मिले, भोजन में तो नानाप्रकार के रस व्यन्जन मिलें, आज्ञाकारी सेवन सदा सामने खड़े रहें, मणिरत्न जड़ित महलों में मखमल के गद्दों पर विश्राम करने को मिले, ऐसे चक्रवर्ती की ऐसी दशा! आचार्य कहते हैं कि – पुण्य में रुचि रखनेवालों की यही दशा होती है, ऐसे परिणाम का यही फल है।

सम्वत् १९९४ में एक छोटी उम्र के बालक ने ऐसा प्रश्न किया था कि – ९६ हजार रानियों के साथ रहनेवाले और मणिरत्न जड़ित महलों में मौज-शौक से जीवन जीनेवाले भरत जी तो धर्मात्मा हैं और हम लोग जो सादा रहते हैं, सादा खाते-पीते हैं, धर्मात्मा नहीं हैं – यह कैसी विचित्र बात है?

उसके उत्तर में हमने कहा था कि भाई! उनके रानियाँ थीं, और मखमल के गद्दों पर भी वे सोते थे, परन्तु वे रानियों में नहीं रहते थे, वे

तो अपने में रहते थे एवं जो राग उन्हें होता था, वे उसे केवल जानते थे, राग में भी रमते नहीं थे। वे तो राग को जानते हुए ज्ञाता के ज्ञान में रहते थे। धर्मी तो कभी राग में रहते ही नहीं हैं। वे न रानियों में रहते थे, न गद्दों में, वे तो केवल अपने ज्ञायक स्वरूपी आत्मा में रहते थे।

जब कि अज्ञानी सादा जीवन जीता हुआ भी उस सादगी में अहं स्थापित करता हुआ ऐसा सोचता है कि – मैं सादा जीवन जीता हूँ – ऐसी सादगीरूप परद्रव्य में आत्मबुद्धि करता है, अतः उसकी वह सागदी भी अज्ञानमय दशा है, क्योंकि उसने उस सादगी के संयोग में अपना बड़प्पन देखा, अतः वह धर्मात्मा नहीं है। तथा चक्रवर्ती वैभव में रहकर भी उससे अलग रहा, उसने उसमें एकत्व (अहं) स्थापित नहीं किया। अतः वह धर्मात्मा है।

अहाहा..........! जो पाप में तल्लीनता से रुका है, उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है, क्योंकि उनपर तो उपदेश का असर ही नहीं होता। यहाँ तो जो धर्मबुद्धि से दया-दानादि पुण्यभाव में रुके हैं, उनसे कहते हैं कि – भगवान आत्मा से प्रेम जोड़ना पड़ेगा। जब पुण्यभाव से रुचि-प्रेम हटेगा तब भगवान आत्मा, जो दूर है, वह समीप आवेगा तभी वास्तविक मोक्ष-मार्ग प्रगट होगा। यहाँ कहते हैं कि – जिसे मोक्षमार्ग प्रगट हुआ उसे मोक्ष में पहुँचने से कौन रोक सकेगा? उसके तो ज्ञान स्वतः दौड़ता चला आवेगा। अर्थात् वह अवश्य ही वीतरागता को प्राप्त करेगा।

यदि किसी को ऐसा लगे कि यह धर्म की कैसी व्याख्या है, और यह कैसा धर्म है? हमने तो अबतक ऐसा सुना है कि मन्दिर आदि धर्मायतन बनवा देने से धर्म होता है। इसके अलावा जो धर्म को व्याख्या की है, वह हमने तो कभी सुनी नहीं है।

उनसे कहते हैं कि भाई? इससे आत्मा का यथार्थ धर्म नहीं होता। अन्तर में चैतन्यमूर्ति सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा शाश्वत स्वरूप से रहता है। उसमें श्रद्धान-ज्ञान व रमणता करने से ही धर्म प्रगट होता है और ऐसा करने से ही मोक्षमार्ग व मोक्ष प्रगट होता है।

यहाँ शिष्य को आशंका उत्पन्न होती है – अर्थात् शिष्य जिज्ञासा-भाव से प्रश्न करके समझना चाहता है कि – जबतक अविरत सम्यग्दृष्टि वगैरह को कर्म का उदय रहता है तबतक ज्ञान मोक्ष का कारण कैसे हो

सकता है ? अर्थात् उसे राग होता है, द्वेष होता है, विषयकषाय का भाव भी होता है, ऐसे शुभाशुभभावों के होने में कर्म का उदय भी रहता ही है, तो जबतक ऐसा-कर्म का उदय है तबतक ज्ञान (आत्मा) मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ?

तथा कर्म व ज्ञान – दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं ? कर्म अर्थात् शुभाशुभ राग की परिणति और ज्ञान की परिणति – दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं ? पाँचवें व छठे गुणस्थान में विकार होता है और धर्म निर्विकार परिणाम भी होता है – ये दोनों एकसाथ कैसे हो सकते हैं ? इस शंका का समाधान अगले ११०वें कलश में करते हैं ।

(शार्दूलविक्रीडित)

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय तन्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ।।११०।।

अब आशंका उत्पन्न होती है कि – जबतक अविरत सम्यक्दृष्टि इत्यादिके कर्मका उदय रहता है तबतक ज्ञान मोक्षका कारण कैसे हो सकता है ? और कर्म तथा ज्ञान दोनों (कर्मके निमित्तसे होनेवाली शुभाशुभ परिणति तथा ज्ञानपरिणति) एक ही साथ कैसे रह सकते हैं ? इसके समाधानार्थ काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थः—[**यावत्**] जबतक [**ज्ञानस्य कर्मविरतिः**] ज्ञानकी कर्मविरति [**सा सम्यक् पाकम् न उपैति**] भलीभांति परिपूर्णताको प्राप्त नहीं होती [**तावत्**] तबतक [**कर्मज्ञानसमुच्चयः अपि विहितः न काचित् क्षतिः**] कर्म और ज्ञानका एकत्रितपना शास्त्रमें कहा है; उसके एकत्रित रहनेमें कोई भी क्षति या विरोध नहीं है । [**किन्तु**] किन्तु [**अत्र अपि**] यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि आत्मामें [**अवशतः यत् कर्म समुल्लसति**] अवशपनें जो कर्म प्रगट होता है [**तत् बन्धाय**] वह तो बन्धका कारण है, और [**एकम् एव परमं ज्ञानं स्थितम्**] जो एक परम ज्ञान है वह एक ही [**मोक्षाय**] मोक्षका कारण है – [**स्वतः विमुक्तं**] जो कि स्वतः विमुक्त है । (अर्थात् तीनोंकाल परद्रव्य-भावोंसे भिन्न है) ।

भावार्थ :—जबतक यथाख्यात चारित्र नहीं होता तबतक सम्यग्दृष्टि के दो धाराएँ रहती हैं, – शुभाशुभ कर्मधारा और ज्ञानधारा। उन दोनों के एकसाथ रहने में कोई भी विरोध नहीं है। (जैसे मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान के परस्पर विरोध नहीं है वैसे कर्मसामान्य और ज्ञान के विरोध नहीं है।) ऐसी स्थिति में कर्म अपना कार्य करता है, और ज्ञान अपना कार्य करता है। जितने अंश में शुभाशुभ कर्मधारा है उतने अंश में कर्मबन्ध होता है और जितने अंश में कर्मधारा है उतने अंश में कर्म का नाश होता जाता है। विषय कषाय के विकल्प या व्रत नियम के विकल्प अथवा शुद्ध स्वरूप का विचार तक भी – कर्मबन्ध का कारण है, शुद्ध परिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है।

कलश ११० पर प्रवचन

यद्यपि धर्मी यानि सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी पुरुषों को किंचित् भी राग की रुचि नहीं है, तथापि उनको शुभाशुभ राग होता है। तथा जितने अश में पुण्य-पाप का भाव होता है, वह बन्ध का कारण है।

प्रश्न :—"ज्ञानी के भोग निर्जरा के कारण हैं" ऐसा कहा है न ?

उत्तर :—हाँ, कहा है किन्तु उस कथन को अपेक्षा जुदी है। कथनों की अपेक्षाओं को भी तो समझना चाहिए। वहाँ आत्मानुभव के काल में तो स्वरूप की दृष्टि (श्रद्धा) की मुख्यता से, भोगों में रहते हुए भी उनमें अरुचि उत्पन्न होने से, जो कर्म की निर्जरा हो जाती है, उस अपेक्षा से भोगों को कर्म – निर्जरा का हेतु कह दिया गया है। वहाँ यह बताने का मुख्य प्रयोजन है कि ज्ञानी को भोग की महिमा नहीं है, किन्तु स्वरूप की दृष्टि की महिमा है। और यहाँ शुभाशुभभाव की मुख्यता से यह बात कही गई है कि धर्मी को भी जो शुभअशुभ परिणाम होते हैं – ये बन्ध के कारण हैं। मोक्ष का कारण तो एक परमज्ञान ही है।

देखो, धर्मी को जितने अंश में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अतीन्द्रिय आनन्द का परिणमन है, उतना अंश मोक्ष का कारण है। तथा जितने अंश में शुभाशुभ भाव है, वह अश बंध का कारण है।

धर्मी को भी अवशपने अर्थात् वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण पुण्य-पाप के भाव होते हैं, किन्तु उसे पुण्य-पाप की होंस नहीं है, उत्साह नहीं है। फिर भी स्वभाव की अस्थिरता के कारण उसे जो पुण्य-पाप

का भाव होता है, वह बंध का कारण है। मोक्ष का कारण तो एक परमज्ञान ही है। "एकमेव" का अर्थ कलश टीका में निष्कर्म किया है। निष्कर्म अर्थात् कर्म से निर्पेक्षरूप से, पुण्य परिणाम की अपेक्षा बिना जो शुद्ध चैतन्य स्वभाव की दृष्टि, ज्ञान व रमणता प्रगट होती है, वह एक ही मोक्ष का कारण है तथा पुण्य-पाप के भाव बंध के कारण हैं।

देखो, मोक्ष का कारण तो केवल एक परमज्ञान ही है। धर्मी को जितना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वाभाविक आनन्द का परिणमन हुआ है, उतना मोक्ष का कारण है तथा जितना शुभाशुभ भाव है, वह बंध का कारण है एवं निर्मल रत्नत्रयरूप परिणमन मोक्ष का हेतु है।

भगवान केवली सम्पूर्ण अबन्ध हैं, मिथ्यादृष्टि को सम्पूर्ण वन्ध है, और मोक्षमार्गी समकिती साधक जीव को कुछ वन्ध व कुछ अवन्ध है। समकिती धर्मी को कुछ कर्मों के बंध का अभाव है और कुछ कर्मबन्ध का सद्भाव है। दोनों एकसाथ होते हैं। द्रव्यस्वभाव के स्पर्श से साधक को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वभाव प्रगट होता है, वह ज्ञान ही अकेला मोक्ष का कारण है तथा जितना शुभाशुभ भाव से परिणमन किया है उतना वंधन का कारण है। ज्ञान स्वतः विमुक्त है, इसकारण ज्ञान ही अकेला मोक्ष का कारण है।

यहाँ कहते हैं कि – जिसे आत्मज्ञान हुआ है, उसका रागभाव से ममत्व छूट गया है तथा भगवान आत्मा की रुचि जागृत हो गई है, किन्तु अभी उसे अपूर्णता-अस्थिरता है, राग की पूर्ण निवृत्ति नहीं हुई है। वीतराग भगवान को राग की पूर्ण निवृत्ति हो गई है, मिथ्यादृष्टि को भगवान आत्मा से पूर्ण निर्वृत्ति है व कुछ राग में प्रवृत्ति है। जितनी राग से निर्वृत्ति है, वह मोक्ष का कारण है तथा जितनी राग में प्रवृत्ति है वह वन्ध का कारण है।

राजा श्रेणिक पहले बौद्धधर्मी – पूर्ण मिथ्यादृष्टि थे, उससमय वे आत्मा से पूर्ण निर्वृत्त थे बाद में आत्मज्ञान उदित हुआ, क्षायिक-सम्यग्दृष्टि हुए – उस समय किंचित् राग से निर्वृत्ति एवं किंचित् राग में प्रवृत्ति थी। हजारों रानियों के साथ रहने एवं राज्यशासन करने के साथ क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिकानुसार आत्मा की प्रतीति, उसका ज्ञान व आत्मप्रवृत्ति रूप आंशिक आचरण यह राग से निर्ववत्ति थी।

इसप्रकार साधक की स्थिति दोनों प्रकार की होती है और केवलज्ञानी प्रगट परमात्मा राग से – कर्म से पूर्ण निवृत्त होते हैं।

कलश ११० के भावार्थ पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टि को आत्मदर्शन व आत्मज्ञान हुआ है, आंशिक चारित्र भी हुआ, परन्तु जबतक परिपूर्ण चारित्र न हो – यथाख्यात चारित्र न हो तबतक दो धारायें रहती हैं, एक शुभाशुभ कर्मधारा अर्थात् रागधारा और दूसरी ज्ञानधारा। रागधारा में केवल शुभराग ही नहीं होता, अपितु अशुभ रागधारा भी होती है। इसतरह ज्ञानी के एक शुभाशुभ कर्म की धारा एवं दूसरी राग से भिन्न आत्मज्ञान की धारा वहती है।

उपरोक्त दोनों धाराओं के एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है। शुद्ध चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से प्रगट हुई सम्यग्दर्शन की ज्ञानधारा व पर के अवलम्बन से प्रगट हुई शुभाशुभभाव की रागधारा – दोनों एकसाथ रहती हैं – इनके एकसाथ रहने में कोई आपत्ति नहीं है, जैसा सम्यग्ज्ञान व मिथ्याज्ञान में विरोध है – ऐसा यहाँ नहीं है।

चौथे गुणस्थान समकिती को युद्धस्थल में युद्ध करने जैसा अशुभ भाव भी होता है तथा पांचवें गुणस्थान में भी रौद्रध्यान जैसा अशुभभाव पाया जाता है। यह अशुभराग की धारा है तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान व आंशिक स्थिरता ज्ञानधारा है। राग की धारा अशान्ति की धारा है व ज्ञान की धारा शान्ति की धारा है।

दोनों ही धारायें एकसाथ निर्वाधरूप से अपना-अपना कार्य करती हैं। पुण्य-पाप का भाव कर्मवन्ध का कार्य करता है और स्वभाव के अवलम्बन से प्रगट हुआ वीतराग भाव दर्शन-ज्ञान में शुद्धता एवं शुद्धता में वृद्धि का कार्य करता है साधक को एक समय में दोनों धारायें होती हैं, किन्तु दोनों का कार्य भिन्न-भिन्न है।

वीतराग को कर्मधारा नहीं होती, उनके केवल ज्ञानधारा होती है। मिथ्यादृष्टि के ज्ञानधारा नहीं होती, उसके केवल कर्मधारा है। अहा……! जिसकी पर्याय में चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का चैतन्यप्रकाश प्रगट नहीं हुआ, उस मिथ्यादृष्टि जीव को केवल कर्मधारा (रागधारा) ही वर्तती है। अतः उसको केवल बन्ध ही है। ज्ञानी को जो दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा का भाव वर्तता है, वह भी बन्ध का ही कारण है, मोक्ष का नहीं। जो बन्ध

का कारण है व हेय है, वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता ।

प्रश्न :—पंचास्तिकाय में तो इनको धर्म का साधन कहा है न ?

उत्तर :—वहाँ की अपेक्षा जुदी है । वहाँ धर्मी जीवों को निश्चयधर्म के साथ सहवर्तीपने से कैसा शुभभाव होता है ? इस बात का ज्ञान कराने के लिए उपचार से शुभभाव को धर्म का साधन कहा गया है । वस्तुतः ये शुभभाव धर्मी के साधन नहीं हैं । निश्चय से जिसको स्वरूप की दृष्टि व अनुभव हुआ है, उस जीव को व्यवहार में देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग होता है । उस राग को व्यवहार से व्यवहार समकित कहा है, परन्तु वह वस्तुतः समकित नहीं है । वह तो राग ही है और बन्ध का कारण है ।

भाई ! जितना स्वावलम्बन प्रगट हुआ, उतना संवर-निर्जरा है, मोक्षमार्ग है तथा जितना परावलम्बी भाव है उतना बन्धमार्ग है. बन्ध कारण है । चाहे वह परावलम्बन भगवान की भक्तिरूप हो व्रत-तपरूप हो या विषय-कषायरूप । व्रत-तप-भक्ति के भाव को मोक्षमार्ग कहना तो केवल उपचार है, वस्तुतः वह मोक्ष का कारण नहीं है । निश्चय व व्यवहार का सर्वत्र यही लक्षण समझना ।

श्रीमद् राजचन्द्र ने आत्मसिद्धि में कहा है कि "एक होय त्रण काल माँ परमारथ नो पन्थ" परमार्थ का पन्थ एक ही होता है । अपने शुद्ध चैतन्यस्वभावमय वस्तु के अवलम्बन से जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है वह एक ही मोक्ष का मार्ग है । मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, बल्कि मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से होता है । उनमें यथार्थ का नाम निश्चय है और उपचार का नाम व्यवहार । दो मोक्षमार्ग मानना भ्रम है, मिथ्यात्व है । समकिती को एवं पांचवें गुणस्थानवाले तीर्थंकर जैसों को भी अशुभभाव होता है ।

उत्तरपुराण में कथन आता है कि – "यद्यपि तीर्थंकर, चक्रवर्ती कामदेव आठ वर्ष में पंचम गुणस्थान धारण कर लेता है, तथापि ६६ हजार रानियों के बीच में रहते हैं, सभीप्रकार के भोगोपभोग भोगते हैं । ऐसी जो राग की धारा उनके वर्तती है, वह बन्ध का ही काम करती है । तथा साथ ही जितने अंश में ज्ञायकभाव जागृत हुआ है, उतने अंश में राग का ज्ञाता होने से संबर-निर्जरा होती है ।

यही बात कलश टीकाकार श्री राजमलजी ने इस ११०वें कलश की टीका में कही है – "यहाँ कोई भ्रान्ति करेगा कि मिथ्यादृष्टि का

यतिपना जो क्रियारूप है, वह वन्ध का कारण है। सम्यग्दृष्टि का शुभ क्रियारूप यतिपना है, वह मोक्ष का कारण है, क्योंकि अनुभवज्ञान तथा दया-व्रत-तप-संयमरूप क्रिया-दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्म का क्षय करते हैं – ऐसी प्रतीति कुछ अज्ञानी जीव करते हैं।

वहाँ समाधान यह है कि – जितनी शुभ-अशुभ क्रिया, वहिर्जल्परूप विकल्प अथवा अन्तर्जल्परूप अथवा द्रव्यों के विचाररूप अथवा शुद्धस्वरूप का विचार इत्यादि समस्त कर्मवन्धन का कारण है। ऐसी क्रिया का ऐसा ही स्वभाव है। सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि का ऐसा भेद तो कहीं पर नहीं है, ऐसी करतूत से ऐसा बन्ध है। शुद्धस्वरूप परिणमन मात्र से मोक्ष है, जो कि एक ही काल में सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्ध ज्ञान भी है, क्रियारूप परिणमन भी है, तो भी क्रियारूप जो परिणाम उससे केवल बंध होता है, कर्म का क्षय एक अंश भी नहीं होता; ऐसा वस्तु का स्वरूप है। सहारा किसका? उसी काल में शुद्धस्वरूप-अनुभवज्ञान भी है, उस ज्ञान से कर्मक्षय होता है, एक अंशमात्र भी वन्ध नहीं होता, वस्तु का ऐसा ही स्वरूप है।"

तथा वहींपर आगे प्रश्न उठाकर कहा है कि – एक जीव में एक ही काल में ज्ञान व क्रिया दोनों ही किसप्रकार होते हैं? समाधान यह है कि विरुद्ध तो कुछ नहीं है। कितने ही कालतक दोनों होते हैं, ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है, परन्तु विरोध जैसा लगता है, तथापि सब अपने-अपने स्वरूप से हैं, कोई किसी का विरोध तो करते नहीं हैं।

इसप्रकार ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा अपने में एकाग्र होकर प्रवर्तमान जितनी ज्ञानधारा है उतना-उतना संवर-निर्जरा का कारण है, उसमें किंचित् भी वंध का कारण नहीं है और वहिर्मुखपने से प्रवर्तती जितनी शुभाशुभ रागधारा है, उतनी वंध का कारण है, उसमें एक अंश भी संवर-निर्जरा का कारण नहीं है। भावलिंगी मुनिवरों को जो पंचमहाव्रत के परिणाम हैं, वें बन्ध के कारण हैं तथा एक शुद्ध परिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है। कथंचित् ज्ञानधारा व कथंचित् रागधारा मोक्ष का कारण हो – ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है।

जगत के जीवों को शुभभाव में धर्मवुद्धि का संस्कार पड़ गया है, उसके प्रति विशेष लगाव हो गया है, उसमें से धर्मवुद्धि का संस्कार छटता नहीं है, इसकारण शुभभाव से लाभ होता है – ऐसा कोई कहते हैं तो प्रसन्न हो जाते हैं, वृत्ति के अनुसार उपदेश मिला तो ठीक लगता है। परन्तु भाई! यह मान्यता वड़ी भारी मिथ्यात्वनामक शल्य है।

समयसार नाटक में भी यह कहा है कि – मुनिराज को जो पंचमहाव्रत के परिणाम होते हैं वे प्रमाद के परिणाम हैं और प्रमाद का परिणाम जगपंथ है, संसार का पंथ है, बन्ध का मार्ग है। इसभाव से भव मिलता है तथा आत्मा की जो आत्मरूप ज्ञानधारा है, उसी से मोक्ष होगा।"

अरे भगवान ! ऐसा अपूर्व अवसर मिला है, इसमें ये विवाद-झगड़ा कैसा ? सभीप्रकार के विवाद को त्यागकर यह नक्की कर कि भवसमुद्र तरने का एकमात्र उपाय स्व-आश्रय से ही होता है तथा पराश्रय के सभी भाव बन्ध के ही कारण हैं।

बन्ध अधिकार के १७३वें कलश में भी कहा है कि – जिनेन्द्रभगवान ने ऐसा कहा है कि सर्ववस्तुओं में जो अध्यवसान होता है वह सभी त्यागने हैं, इसलिये हम ऐसा मानते हैं कि – पर जिसका आश्रय है – ऐसा सभी व्यवहार ही छुड़ाया है। तो फिर ये सत्पुरुष एक सम्यक् निश्चय को ही निष्कम्परूप से अंगीकार करके शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप में ही स्थिरता क्यों नहीं करते ? आचार्यदेव ने यहाँ आश्चर्यपूर्वक सर्वपराश्रय छोड़कर सम्पूर्ण अन्तः स्थित को प्राप्त होने की प्रेरणा की है।

गाथा २७२ में भी कहा है कि – "निश्चयनयाश्रित मुनिवरो प्राप्ति करे निर्वाण की।"

अहाहा........ ! इतना स्पष्ट कथन होते हुए भी जिसके अन्तर में शुभराग की महिमा वसी है उसे पूर्णानन्द के नाथ सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान, पूर्ण वीतरागता व प्रभुता एवं ईश्वरता के स्वभाव से भरे हुए अपने आत्मा की महिमा कैसे आवे ? उसको तो राग की रुचि की आड़ में सम्पूर्ण शक्ति सम्पन्न निज आत्मा अपनी नजर से दूर हो गया है।

जिसतरह एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं उसीतरह राग की महिमा व शुद्ध चिद्रूप की महिमा-दोनों एकसाथ नहीं रह सकतीं। भगवान ! यदि तुझे मोक्ष की इच्छा है तो राग की रुचि छोड़ शुद्ध चैतन्यमय निज परमात्मद्रव्य की महिमा करके उसी में अन्तर्लीन हो जा।

यहाँ कहते हैं कि धर्मी जीव को हुए पंचमहाव्रत के परिणाम भी वन्ध के ही कारण हैं तथा एकमात्र शुद्धत्वपरिणमन रूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है।

प्रश्न :—जितना अशुभ से वचें, उतना तो संवर है न ?

उत्तर : नहीं, ऐसा नहीं है। अशुभ से वचकर जिस शुभ में आया, वह शुभ स्वयं वन्ध का ही कारण है। केवल एक ज्ञानपरिणति ही संवर-निर्जरा की कारण है।

(शार्दूलविक्रीडित)

मग्ना: कर्मनयावलंबनपरा ज्ञानं न जानंति यत्
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छंदमंदोद्यमा: ।
विश्वस्योपरि ते तरंति सततं ज्ञानं भवंत: स्वयं
ये कुर्वंति न कर्म जातु न वशं यांति प्रमादस्य च ।।111।।

श्लोकार्थ :—[कर्मनयावलम्बनपरा: मग्ना:] कर्मनयके आलम्बनमें तत्पर (कर्मनयके पक्षपाती) पुरुष डूबे हुए हैं [यत्] क्योंकि [ज्ञानं न जानन्ति] वे ज्ञानको नहीं जानते । [ज्ञाननय-एषिण: अपि मग्ना:] ज्ञाननयके इच्छक (पक्षपाती) पुरुष भी डूबे हुए हैं [यत्] क्योंकि [अति स्वच्छन्दमन्दउद्यमा:] वे स्वच्छन्दतासे अत्यन्त मन्द उद्यमी हैं (–वे स्वरूपप्राप्तिका पुरुषार्थ नहीं करते, प्रमादी हैं और विषयकषायमें वर्तते हैं) । [तेविश्वस्य उपरि तरन्ति] वे जीव विश्वके ऊपर तैरते हैं [ये स्वयं सतत् ज्ञानं भवन्त: कर्म न कुर्वन्ति] जो कि स्वयं निरन्तर ज्ञान-रूप होते हुए – परिणामते हुए कर्म नहीं करते [च] और [जातु प्रमादस्य वशं न यान्ति] कभी भी प्रमादवश भी नहीं होते (–स्वरूपमें उद्यमी रहते हैं) ।

भावार्थ :—यहाँ सर्वथा एकान्त अभिप्रायका निषेध किया है क्योंकि सर्वथा एकान्त अभिप्राय ही मिथ्यात्व है ।

कितने ही लोग परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्माको तो जानते नहीं और व्यवहार दर्शनज्ञानचारित्ररूप क्रियाकाण्ड के आडम्बरको मोक्षका कारण जानकर उसमें तत्पर रहते हैं – उसका पक्षपात करते हैं । ऐसे कर्मनयके पक्षपाती लोग – जो कि ज्ञानको तो नहीं जानते और कर्मनयमें ही खेदखिन्न हैं वे – संसारमें डूबते हैं ।

और कितने ही लोग आत्मस्वरूपको यथार्थ नहीं जानते तथा सर्वथा एकान्तवादी मिथ्यादृष्टियोंके उपदेशसे अथवा अपने आप ही अन्तरंगमें ज्ञानका स्वरूप मिथ्या प्रकारसे कल्पित करके उसमें पक्षपात करते हैं । वे अपनी परिणतिमें किंचित्मात्र भी परिवर्तन हुए बिना अपनेको सर्वथा अबन्ध मानते हैं और व्यवहार दर्शनज्ञानचारित्र के क्रियाकाण्डको निरर्थक जानकर छोड़ देते हैं । ऐसे ज्ञाननयके पक्षपाती लोग जो कि स्वरूपका कोई पुरुषार्थ नहीं करते और शुभ परिणामोंको छोड़कर स्वच्छन्दी होकर विषय-कषायमें वर्तते हैं वे भी संसारसमुद्रमें डूबते हैं ।

मोक्षमार्गी जीव ज्ञानरूप परिणमित होते हुए शुभाशुभ कर्मोंको (अर्थात् शुभाशुभभावों को) हेय जानते हैं और शुद्ध परिणति को ही उपादेय जानते हैं। वे मात्र अशुभ कर्मों को ही नहीं किन्तु शुभ कर्मो को भी छोड़कर, स्वरूप में स्थिर होने के लिये निरंतर उद्यमी रहते हैं – वे संपूर्ण स्वरूपस्थित होने तक पुरुषार्थ करते ही रहते हैं। जबतक पुरुषार्थ की अपूर्णता के कारण शुभाशुभ परिणामों से छूटकर स्वरूप में सम्पूर्णतया स्थिर नहीं हुआ जा सकता, तबतक – आन्तरिक-आलम्बन (अन्त:साधन) तो शुद्ध परिणति स्वयं ही है, तथापि आन्तरिक-आलम्बन लेनेवाले को जो बाह्य आलम्बन-रूप होते हैं ऐसे (शुद्ध स्वरूप के विचार आदि) शुभ परिणामों में वे जीव हेयबुद्धि से प्रवर्तते हैं, किन्तु शुभ कर्मों को निरर्थक मानकर उन्हें छोड़कर स्वच्छन्दतया अशुभ कर्मों में प्रवृत्त होने की बुद्धि कभी नहीं होती। ऐसे एकान्त अभिप्राय रहित जीव कर्मों का नाश करके, संसार से निवृत्त होते हैं।

कलश १११ पर प्रवचन

इस कलश में कर्मनय व ज्ञाननय का अन्तर स्पष्ट करते हुए दोनों नयों के पक्षपातियों को अज्ञानी कहा है, क्योंकि कर्मनय का पक्षपाती शुभ-क्रिया में अटका है। वह शुभक्रिया को ही अपना कर्म यानि कर्तव्य मान बैठा है एवं ज्ञाननय का पक्षपाती बातें तो बड़ी-बड़ी करता है, किन्तु जीवन में स्वच्छन्दतया वर्तता है। एक जड़क्रिया में मग्न है और दूसरा स्वच्छन्दता के पोषण में, अतः यहाँ आचार्य कहते हैं कि—

शुभभाव का आलम्बन लेनेवाला या शुभभाव का पक्षपाती पुरुष भी संसार-सागर में डूबेगा, क्योंकि वह यह नहीं जानता कि मैं स्वभाव से सदा चैतन्यमूर्ति भगवान हूँ। अहाहा.........! राग का आलम्बन लेनेवाला अपने राग रहित त्रिकाली शुद्धस्वरूप को नहीं जानता, उसका अनुभव नहीं करता, इसकारण वह भवसमुद्र में डूबेगा। तथा ज्ञाननय के पक्षपाती पुरुष भी भवसमुद्र में डूबेंगे, क्योंकि वे भी बाहर से मात्र ज्ञान की बातें ही बातें करते हैं, अन्तरंग में अत्यन्त निरुद्यमी – मन्दउद्यमी हैं और स्वच्छन्दी हैं। स्वरूप की प्राप्ति के लिए अन्तर सन्मुखता का किंचित् भी पुरुषार्थ नहीं करते। प्रमादी होकर विषय-कषाय में वर्तते हैं। शुद्ध चैतन्य का तो विचार तक नहीं करते और शुभ से दूर रहते हैं। स्वच्छन्दता से अशुभ में रहते हुए कोरी ज्ञान की बातें बनाते हैं। वे भी नियम से संसार-सागर में डूबेंगे।

जिनको अन्तरंग में चैतन्यस्वभाव में एकाग्र होने की ओर झुकाव तो हुआ नहीं, केवल बाहर-बाहर से ज्ञान की बातें करते हैं, वे नियम से मिथ्यादृष्टि हैं। तथा जो स्वभाव में दृष्टि की एकाग्रता का विचार तो करते हैं, किन्तु जिन्होंने स्वरूप का प्रत्यक्ष आस्वाद नहीं किया; वे भी सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि हैं। यहाँ दो प्रकार के जीव लिए हैं – एक शुभराग की क्रिया में धर्म माननेवाले और दूसरे ज्ञान की मात्र कोरी बातें करनेवाले। एक शुभराग को अनेक क्रियाओं में रुक करके मिथ्यात्वसहित होने से संसार में डूबते हैं तथा दूसरे पुरुषार्थरहित प्रमादी होकर विषय-कषाय में स्वच्छन्द वर्तते हुए संसार समुद्र में डूबेंगे।

अब कहते हैं कि – जो जीव स्वयं निरन्तर ज्ञानरूप होकर ज्ञान-स्वभाव से परिणमते हुए अन्य कार्य नहीं करते और कभी भी प्रमाद के वश भी नहीं होते, वे जीव विश्व के ऊपर तैरते हैं अर्थात् उनका मोक्ष हो जाता है।

अन्तर में आत्मा स्वभाव से सदैव ज्ञानानंदस्वभावी-परमानन्द-स्वभावी विराजमान है, पर्याय में उसकी दृष्टि-ज्ञान व रमणतारूप होना – परिणमना ही उसका ज्ञानरूप परिणमन है। यहाँ कहते हैं कि जो जीव ज्ञानरूप परिणमता हुआ कर्म नहीं करता, वह भवसमुद्र से तर जाता है। ज्ञानी कर्म नहीं करता, इसका अर्थ यह है कि अनुभव के काल में ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता तथा ज्ञानी को वर्तमान कमजोरी के कारण जो राग होता है, उसका भी वह कर्ता नहीं है। अर्थात् उसके अभिप्राय में से पर के व राग के कर्तृत्वभाव का अभाव हो गया है। पर में व राग में अब उसके एकत्व व स्वामित्व नहीं रहा, इसकारण अब वह कर्म का कर्ता नहीं है। राग के वशीभूत होकर वह मिथ्यात्व में नहीं जाता। इसतरह निरंतर स्वरूप में उद्यमशील रहकर एवं प्रमादरहित होकर संसार से तर जाता है। जो स्वरूप में झुकता है, उसमें लीन होता है तथा उसी में उद्यमवंत रहता है, प्रयत्नशील रहता है वह मोक्षमार्गी है। तथा जो स्वरूप से विमुख है, वह मिथ्यादृष्टि है, संसार-सागर में डूबनेवाला है।

गाथा १११ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यहाँ सर्वथा एकान्त अभिप्राय का निषेध किया है, क्योंकि सर्वथा एकान्त अभिप्राय मिथ्यात्व है। 'निश्चय से भी लाभ होता है और व्यवहार से – राग से भी लाभ होता है' – ऐसी अनेकान्त की व्याख्या

करना ठीक नहीं है। यह अनेकान्त नहीं है, बल्कि यह तो मिथ्या अनेकान्त है। अनेकान्त तो यह है कि व्यवहार से यानि शुभराग से बन्ध ही होता है, मोक्ष नहीं तथा निश्चय से – शुद्धपरिणति से मोक्ष ही होता है, बन्ध नहीं, यही सम्यक् अनेकान्त है।

तथा राग – व्यवहार साधन व निश्चय – शुद्ध परिणति साध्य – यह मान्यता भी एकान्त है, मिथ्यात्व है। इसकारण इसका भी यहाँ निषेध किया है।

प्रश्न :—यदि व्यवहार को साधन नहीं कहोगे तो क्या लोग स्वच्छन्दी नहीं हो जावेंगे ?

उत्तर :—अरे भाई ! जिसको भव का भय है और अन्तर में मुक्त होने की भावना जागृत हुई है, वह स्वच्छन्दी कैसे होगा ? जिसे आत्मा की आराधना करने का भाव प्रगट हुआ है, जो निरन्तर आत्मोपलब्धि के प्रयत्न में ही रहता है, वह स्वच्छन्दी कैसे हो सकता है ? नहीं होगा।

हाँ, कुछ लोग जो परमार्थभूत परमानंद स्वरूप अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी आत्मा को तो जानते नहीं हैं और आत्मज्ञानशून्य व्यावहारिक दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप क्रियाकाण्ड के आडम्बर में ही तत्पर रहते हैं। महीना-महीना के उपवास करते हैं, भक्ति में भगवान से मोक्ष माँगते हैं, सामायिक प्रतिक्रमण करते हैं, दश-दश घंटों तक शास्त्रवाचन करते हैं, स्तोत्रादि के पाठ करते हैं, घंटों पूजा करते हैं और इस रागसहित क्रियाकाण्ड को ही मोक्ष का कारण मानते हैं, अतः इसी में तत्पर रहते हैं, उसी का पक्षपात करते हैं। वे कहते हैं कि इसी व्यवहार से कभी न कभी अवश्य ही निश्चय प्रगट होगा। ऐसी श्रद्धा व प्रतीति से व्यवहार रत्नत्रय के शुभराग में अटके रहते हैं। वे कहते हैं एवं मानते भी हैं कि अशुभ से तो शुद्ध दशा प्रगट नहीं होगी, किन्तु शुभ करते-करते तो एक दिन शुद्धोपयोग अवश्य प्रगट हो जावेगा – यही जानकर वे व्रत-नियम तप, शील, दान, भक्ति, पूजा आदि शुभभाव में कष्ट सहकर भी तत्पर रहते हैं।

ऐसे लोग एकान्तरूप से कर्मनय के पक्षपाती हैं, अतः मिथ्यादृष्टि हैं, कर्मनय के पक्षपाती लोग, जो आत्मज्ञान को तो जानते नहीं हैं और कर्मनय में ही खेद-खिन्न होते हैं, वे संसार में डूबते हैं।

देखो, शुभराग खेदरूप है – दुःखरूप है, क्योंकि वह आत्मा की निराकुल शान्ति को भंग करता है। शुभभाव में भगवान आत्मा की शान्ति

का क्षय होता है। इसलिए जो शुभराग के पक्षपाती हैं, वे संसार-सागर में डूबते हैं।

यह तो व्यवहाराभासी क्रियाकांडी मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से कथन किया। अब निश्चयाभासी-मिथ्यादृष्टि ज्ञाननयावलम्वी कैसी-कैसी भूल करता है, इसकी चर्चा करते हैं।

ज्ञाननय के पक्षपाती अन्य कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिन्हें न तो आत्मा का अनुभव हुआ है और न आत्मा के यथार्थ स्वरूप को ही जानते-पहचानते हैं। उन्हें यह भी खबर नहीं है कि वर्तमान में आत्मा रागसहित विकारी है, स्वभाव की दृष्टि से देखें तो उस विकार ने आत्मा का स्पर्श भी नहीं किया है। इन सब से अनभिज्ञ होते हुए मात्र ज्ञाननयावलम्वी लोग या तो किसी के द्वारा निश्चयनय की मुख्यता से की गई कथनी को सुनकर अथवा स्वयं अपने मन से वर्तमान विकारी पर्याय को ही अवन्धस्वभावी मानकर आत्मा के स्वरूप की अन्यथा कल्पना कर लेते हैं। अपनी राग-द्वेष जनित विषय-कषाय की परिणति में किंचित् कमी एवं आत्मा में जरा सी भी निर्मलता आये विना अपने को सर्वथा अवंध मानते हैं तथा व्यावहारिक दर्शन-ज्ञान-चारित्र की क्रियाओं को निरर्थक जानकर छोड़ देते हैं, वे अज्ञानी हैं – मिथ्यादृष्टि हैं।

अहा…… ! अपनी परिणति में जैसा का तैसा ही विषय-कषाय का सेवन करते रहते है, आत्मा के स्वरूप की ओर झुकने का विचार तक नहीं करते और "हमें वन्ध नहीं है" – ऐसा मानकर व्यवहार के आचरण को भी निरर्थक जानकर छोड़ देते हैं। ऐसे व्यक्तियों का जीवन पापमय ही रहता है, क्योंकि वे शुद्धस्वभाव की ओर तो प्रतीति पूर्वक ढलते नहीं हैं और शुभ को छोड़ दिया है, इसकारण अशुभ में ही – विषय-कषाय में ही मग्न रहते हैं।

इसतरह ज्ञाननय के एकान्त पक्षपाती लोग आत्मा की कोरी वातें ही वातें करते हैं। शुद्धस्वरूप में ढलने का पुरुषार्थ नहीं करते तथा शुभभाव को छोड़कर स्वेच्छाचारी वनकर निरंकुशपने विषय-कषाय में वर्तते हैं। अहा………! जिनके स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान व आचरण सम्वन्धी अशुद्धता तो टली नहीं है और जो मात्र कोरी आत्मा की वातें करते हैं – ऐसे लोग संसार-समुद्र में ही डूवते हैं।

श्रीमद् राजचंद्र ने भी कहा है—

"कोई क्रियाजड़ थई रहा, शुष्कज्ञान मा कोई,
माने मारग मोक्ष नो, करुणा उपजे जोई ॥"

निश्चय के कथन से ऐसा नहीं समझना कि शुभभाव को छोड़कर अशुभ करने को कहा गया है। तथा यदि अशुभभाव छोड़ दिया है, तो ऐसा भी नही समझना कि – शुभ से धीरे-धीरे निश्चयधर्म प्रगट होगा।

अभिप्राय यह है कि निश्चयस्वरूप निज शुद्धात्मा के विचार एवं उसी का लक्ष्य किए बिना अर्थात् अन्तर में ढले बिना केवल बाह्य क्रिया करने से या आचरण में शिथिल (भ्रष्ट) होकर आत्मा की कोरी बातें करने से जीव ससार में ही डूबते हैं।

अब तीसरे प्रकार के मोक्षमार्गी जीवों की बात करते हैं—

देखो, पण्डित जयचंदजी यहाँ स्पष्ट करते हैं कि – मोक्षमार्गी जीव शुद्धतापने से रहता हुआ, शुद्धोपयोगरूप से परिणमता हुआ शुभाशुभ कर्म को हेय जानता है। शुभ व अशुभ दोनों को हेय जानता है। शुभ से आत्मा को लाभ होगा – ज्ञानी ऐसा भी नहीं मानते, तथा विषय-कषाय के परिणाम में भी उत्साहित होकर नहीं जुड़ते। वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी से समता नहीं रह पाती, इसकारण ज्ञानी का राग-द्वेषमय आचरण हो जाता है, किन्तु वे इस प्रवृत्ति में स्वच्छन्दतापूर्वक आचरण नहीं करते। जो यह राग हुआ उसे उपादेय नहीं मानते। यदि उस राग-द्वेष में इष्टानिष्ट बुद्धि हो तो वह मिथ्यात्वभाव है। यदि उनके ऐसी बुद्धि या विचार हो कि विषयों में सुख है, तो वह मान्यता मिथ्यात्व है।

धर्मी जीव जब स्वभाव में नहीं टिक पाता, तब उसे राग आता है, किन्तु वह उस राग को हेय जानता है तथा शुद्ध परिणति को उपादेय मानता है। वह न केवल अशुभ कर्म को, बल्कि शुभ कर्म को भी छोड़कर स्वरूप में रमणता करता है। ज्ञानी शुभभाव को छोड़कर अशुभभावरूप स्वच्छन्द प्रवृत्ति कभी नहीं करता। जबतक स्वरूप में स्थिर रहा जा सके, तबतक पूरी ताकत से स्वरूप में टिकने का ही सतत प्रयत्न करता है, स्वरूप में रहने के लिए ही उद्यमशील रहता है।

यदि पुरुषार्थ की कमी के कारण उपयोग सम्पूर्ण रूप से स्वभाव में नहीं टिक पाता तो शुभ परिणामों में – व्रत, तप, भक्ति, स्वरूप का

चिन्तन-मनन, उसी का विचार-चर्चा-वार्ता, तीर्थयात्रा, दानादि शुभ क्रिया-कलापों में प्रवर्तता है; किन्तु इन्हें उपादेय नहीं मानता। पापभाव से बचने के लिए हेय बुद्धि से प्रवृत्ति करता है।

दोनों को ही बन्ध का कारण जानता है, इस कारण उसमें उसे सुख बुद्धि नहीं होने से शुभ को भी छोड़कर शुद्धोपयोग रूप परिणमता है, किन्तु शुभ को छोड़कर अशुभ में नहीं जाता। ज्ञानी को स्वच्छन्दी होने की कभी भावना भी नहीं होती। ज्ञानी को भी शुभाशुभ भाव यथासंभव आते हैं, तथापि यहाँ स्वच्छन्द प्रवर्तन करने का निषेध किया है।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें भी करते रहते हैं तथा व्यभिचार एवं लम्पटता का सेवन भी करते हैं तथा कहते हैं कि – "हमारे क्या? यह तो जड़ शरीर की क्रिया है, इन्द्रियाँ अपना काम करती हैं, हमें इनसे क्या? ये तो जड़ हैं, जड़ जड़ का काम करता है, चेतन का उनसे क्या सम्बन्ध ?"

उनसे आचार्य कहते हैं कि भाई! ऐसे विचार रखनेवाले स्वच्छन्दी हैं। वे लोग अवश्य ही संसार-सागर में डूबनेवाले हैं, क्योंकि यह अनर्गल स्वच्छन्द कषायप्रवृत्ति है। ज्ञानी तो ऐसे एकान्त अभिप्राय से रहित होते हैं।

अब कहते हैं कि – ऐसे ज्ञानी जीव जो एकान्त अभिप्राय से रहित हैं तथा जिनकी दृष्टि में आनन्द का नाथ चैतन्य महाप्रभु आ गया है और उसके आश्रय से जिनकी परिणति निर्मल हो गई है, वे कर्म का नाश करके संसार-समुद्र से तिरते हैं।

आत्मा अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रय से जितनी शुद्धता प्रगट करता है, उतना पर्याय में शुद्ध हो जाता है; परन्तु जबतक शुद्ध परिणति न हो, तबतक उन्हें पुण्य-पाप का भाव आता है, किन्तु उसमें उन्हें हेय बुद्धि है, अर्थात् शुभाशुभ भाव में ज्ञानी को आदर का भाव नहीं है, सुख बुद्धि या आत्म बुद्धि नहीं है। शुभ का व्यवहार भी आता है और कदाचित् अशुभ का व्यवहार भी आता है, किन्तु उसमें ज्ञानी को किंचित् भी रुचि नहीं है।

यह समझे बिना अज्ञानी जीव चौरासी के अवतार धर-धर कर संसार में रखड़ा है। देखो, यहाँ बड़ा करोड़पति सेठ हो और मर करके

कुत्ती के पेट में जाकर जन्म ले सकता है, क्योंकि स्वरूप की दृष्टि तो हुई नहीं है, और अशुभ प्रवृत्ति को छोड़ता नहीं है। निरंतर माया, कपट, कुटिलता के भावों में रचा-पचा रहना है, तो इसका फल तो यही है। अशुभ भावों का फल अन्य प्रकार कैसे हो सकता है ?

अतः यहाँ कहते हैं कि एकान्त अभिप्राय से रहित होकर जो शुद्धात्मा की श्रद्धा करते हैं, उसी में स्थिर होने जमने-रमने का प्रयत्न करते हैं वे ही कर्मों का नाश करके संसार से निवृत्त होते हैं।

अब पुण्य-पाप अधिकार को पूर्ण करते हुए आचार्यदेव ज्ञान की महिमा करते हैं :—

(मन्दक्रान्ता)

भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥११२॥

इति पुण्यपापरूपेण द्विपात्रीभूतमेकपात्रीभूय कर्म निष्क्रांतम्।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ पुण्यपापप्ररूपकः तृतीयोंकः ॥

श्लोकार्थ :—[पीतमोहं] मोहरूपी मदिरा के पीने से, [भ्रम-रस-भरात् भेदोन्मादं नाटयत्] भ्रमरस के भार से (अतिशयपनेसे) शुभाशुभ कर्म के भेदरूपी उन्माद को जो नचाता है [तत् सकलम् अपि कर्म] ऐसे समस्त कर्म को [बलेन] अपने बलद्वारा [मूलोन्मूलं कृत्वा] समूल उखाड़कर [ज्ञानज्योतिः भरेण प्रोज्जजृम्भे] अत्यन्त सामर्थ्ययुक्त ज्ञान-ज्योति ऐसी है कि जिसने [कवलिततमः] अज्ञानरूपी अन्धकार का ग्रास कर लिया है अर्थात् जिसने अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर दिया है, [हेला-उन्मिलत] जो लीलामात्र से (सहज पुरुषार्थसे) विकसित होती जाती है और [परमकलया सार्धम् आरब्धकेलि] जिसने परम कला अर्थात् केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है ऐसी वह ज्ञानज्योति है। (जबतक सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है, तबतक ज्ञानज्योति केवलज्ञान के साथ शुद्धनय के बल से परोक्ष क्रीड़ा करती है, केवलज्ञान होनेपर साक्षात् होती है।)

भावार्थ :—आपको (ज्ञानज्योति को) प्रतिबन्धक कर्म (भावकर्म) जो कि शुभाशुभ भेदरूप होकर नाचता था और ज्ञान को भुला देता था उसे अपनी शक्ति से उखाड़कर ज्ञानज्योति सम्पूर्ण सामर्थ्य सहित प्रकाशित हुई। वह ज्ञानज्योति अथवा ज्ञानकला केवलज्ञानरूपी परमकला का अंश है तथा वह केवलज्ञान के सम्पूर्ण स्वरूप को जानती है और उस ओर प्रगति करती है, इसलिये यह कहा है कि 'ज्ञानज्योति ने केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है।' ज्ञानकला सहजरूप से विकास को प्राप्त होती जाती है और अन्त में वह परमकला अर्थात् केवलज्ञान हो जाती है।

टीका :—पुण्य-पापरूप से दो पात्रों के रूप में नाचनेवाला कर्म एक पात्ररूप होकर (रंगभूमि में से) बाहर निकल गया।

भावार्थ :—यद्यपि कर्म सामान्यतया एक ही है, तथापि उसने पुण्य-पापरूपी दो पात्रों का स्वांग धारण करके रंगभूमि में प्रवेश किया था। जब उसे ज्ञान ने यथार्थतया एक जान लिया, तब वह एक पात्ररूप होकर रंगभूमि से बाहर निकल गया, और नृत्य करना बन्द कर दिया।

आश्रय, कारण, रूप, सवादसुभेद विचारि गिनें दोऊ न्यारे,
पुण्य रु पाप शुभाशुभभावनि बन्ध भये सुखदु.खकरा रे।
ज्ञान भये दोऊ एक लखें बुध आश्रय आदि समान विचारे,
बन्धके कारण हैं दोऊ रूप इन्हें तजि जिनमुनि मोक्ष पधारे॥

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में पुण्य-पाप का प्ररूपक तीसरा अंक समाप्त हुआ।

कलश ११२ पर प्रवचन

अहाहा ......! देखो, यहाँ आचार्य कहते हैं कि जो व्यवहार रत्नत्रय के शुभभाव को भला और अशुभभाव को बुरा कहते हैं, दोनों में भेद डालते हैं या अन्तर देखते हैं, वे उन्मत्त हैं। मूल श्लोक में आचार्य कहते हैं कि "पीतमोहं भ्रमरसभरात्भेदोन्मादं नाटयत्" अर्थात् जिसने मोहरूपी मदिरा पी ली है, वह भ्रम के रस के भार से शुभाशुभ कर्म के भेदरूपी उन्माद को प्रगट करता है। पुण्य ठीक है व पाप ठीक नहीं है – पुण्य-पाप में ऐसा भेद डालकर जो अपने अज्ञान को प्रदर्शित करते हैं, उन्हें यहाँ पागल कहा है।

अनादि से अज्ञानवश चित्त में ऐसी धारणा जम रही है कि व्यवहार से निश्चय होता है, शुभभाव से धर्म होता है, शुभभाव में जो कषाय की मन्दता होती है, उससे धर्मलाभ होता है; किन्तु आचार्य कहते हैं कि – ऐसा माननेवाले मोहरूपी शराब पीकर पागल हो गये हैं।

प्रश्न :—यहाँ कोई कहता है कि – "व्यवहार से भी धर्म होता है और निश्चय से भी होता हैं" – ऐसा मानने में क्या बाधा है ? ऐसा नहीं मानने से तो एकान्त हो जाएगा। प्रमाणज्ञान करना हो तो व्यवहार व निश्चय दोनों से ही धर्म की प्राप्ति होती है – ऐसा मानना चाहिए न ?

उत्तर :—भाई ! तुमने प्रश्न में यह प्रमाणज्ञान करने की जो बात कही सो ठीक है, किन्तु ज्ञान करने की बात तुम कहते ही कहाँ हो ? शुभाशुभभाव जानने लायक हैं – ऐसी तुम्हारी मान्यता ही कहाँ है। तुम पुण्य-पाप के सम्बन्ध में ऐसा कहते हो कि – 'पुण्य से धर्म होता है और पाप से धर्म नहीं होता। शुभभाव से शुद्धता होती है और अशुभभाव से शुद्धता नहीं होती' – ऐसा जो तुम भेद डालते हो, वह ठीक नहीं है। दोनों ही नय मात्र जानने लायक हैं, करने लाय‍क नहीं।

जब निश्चय से आत्मा स्वरूप के आश्रय से निर्विकार स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष का अनुभव करता है, तब सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। उस काल में जो व्यवहार होता है, उसे वह केवल जानता है। जानने में कोई बाधा नहीं है। जो राग होता है, उसे हेयरूप जानता है। यह प्रमाणज्ञान है। व्यवहार होता ही नहीं है, ऐसा नहीं है। जबतक पूर्ण वीतरागता न हो तबतक व्यवहार यथास्थान होता है, आता है, किन्तु उससे निश्चयधर्म प्रगट नहीं होता। उसे मोक्ष का साधन मानना तो मोहरूपी मदिरा का पान करने जैसा है, नितान्त पागलपना है। कर्म धर्म का साधन कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। यह बात तो पहले भी आ चुकी है कि शुभाशुभभाव रूप कर्म मोक्षमार्ग का घातक है, विघ्न करनेवाला है, विरुद्ध स्वभावी है तथा स्वयं बन्ध का कारण है। जो बन्ध का कारण है, वही मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ?

भाई ! शुभ से भी धर्म होता है व शुद्ध से भी होता है – ऐसा अनेकांतपना माननेवाला तो दोनों (स्वभाव-विभाव) को एक माननेवाला होने से एकान्तमिथ्यात्वरूपी मदिरा का पान करके पागल हो रहा है। ऐसा यहाँ कहा गया है।

अब कहते हैं कि जिसने उक्त समस्त कर्म को अर्थात् शुभाशुभ भावों को आत्मवल से उखाड़कर फेंक दिया है, वह धर्मी है। आत्मवल से अर्थात् शुद्ध चैतन्य स्वभाव के आश्रय के वल से पुण्य-पाप को मूल से नाश करनेवाला व्यक्ति ही धर्मात्मा है। आत्मवल का अर्थ यह नहीं है कि जव कर्म मंद पड़े तव धर्म प्रगट होगा, किन्तु स्वभाव के आश्रय के पुरुषार्थ से कर्मों का नाश करना ही आत्मवल का सही अर्थ है।

प्रश्न :—यहाँ कोई प्रश्न करे कि – "जिस समय जो पर्याय होनी होगी, उस समय वही होगी, उसमें कोई फेर-फार कैसे कर सकेगा ?" जब ऐसा है तो फिर इसमें आत्मबल या पुरुषार्थ कहाँ रहा ?

उत्तर :—वापू ! जिसको अन्तर में ऐसी श्रद्धा हुई हो कि "जिस समय जो होना होगा, उस समय वही होगा" उसकी दृष्टि तो त्रिकाली ज्ञायक के सन्मुख हो जाती है, और यह ज्ञायक सन्मुख दृष्टि का हो जाना ही पुरुषार्थ है। अहाहा..........! मैं एक शुद्ध ज्ञायकस्वभावी हूँ – ऐसी दृष्टि के पुरुषार्थ में जिस समय जो होता है, ज्ञान मात्र उसको जानता है, ज्ञाता रहता है। जो होता है, उसे पलटने का या उसके कर्तृत्व का अभिप्राय उसके नहीं होता।

ज्ञानी ने पराश्रयरूप समस्त कर्म को स्वाश्रय के वल से मूल से ही उखाड़ फेंका है। जो वृक्ष मूल से न उखड़े तो पत्ते तोड़ देने पर भी अल्पकाल में पुनः हरा-भरा हो जाता है, किन्तु यदि वृक्ष को जड़ से उखाड़ दिया जावे तो कितना ही पानी-खाद दिया जाय, पुनः हरा-भरा नहीं हो सकता। उसीप्रकार यहाँ कहते हैं कि जिसने अपने पुण्य-पाप रूप समस्त कर्म को स्वरूप के आश्रय से मूल से ही उखाड़ दिया हो अर्थात् अभिप्राय में से ही जिसने कर्तृत्व की मान्यता को नष्ट कर दिया हो उसके नवीन कर्मों का वन्धन नहीं होता और पुराने कर्म भी अल्पकाल में नष्ट हो जाते हैं।

जिसको वस्तुस्वरूप की श्रद्धा का ठिकाना न हो और बाहर में व्रत, तप, नियम धारण करे तो वे सब वालव्रत व वालतप हैं। ऐसे कहने से यदि किसी को क्लेश पहुँचे तो क्षमा करना। भाई ! तेरा आत्मा भी स्वरूप से भगवान है, हमारा साधर्मी है। यदि पर्याय में मिथ्या श्रद्धान का दोष है तो उसके लिए कोई क्या कर सकता है ? वस्तुस्थिति तो जो है सो है, उसमें भी कोई क्या कर सकता है ? सत्य को सुनने-समझने व

पचाने की शक्ति प्रगट करना चाहिए, क्योंकि तत्त्व के विरोध का फल बहुत कड़वा होता है। हमको ऐसे प्राणियों के प्रति विरोध नहीं होना चाहिए। हमको तो सब जीवों के प्रति मैत्रीभाव है, क्योंकि सब जीव अन्तर में शक्ति अपेक्षा से तो भगवान हैं न ? पर्याय में जो भूल है, वह तो स्वरूप के आश्रय से निकल जानेयोग्य है।

यहाँ कहते हैं कि – पुण्य-पाप के भावरूप कर्मों को मूल से उखाड़कर ज्ञानज्योति अत्यन्त सामर्थ्य सहित प्रगट हुई है। अहाहा.........! जिसे चैतन्यसूर्य का प्रकाश प्रगट हुआ है, उसने अज्ञानरूप अंधकार का नाश किया है। इसमें क्यों उत्साहित होते हो ? भाई ! वस्तु की एवं जगत की यथार्थ स्थिति को स्वीकार कर !

भगवान आत्मा चैतन्यबिम्ब ज्ञायकस्वभावी प्रभु है। उसका आश्रय लेकर जिसने पुण्य-पाप के भाव को मूल से ही नष्ट कर दिया है तथा ज्ञान-ज्योति प्रगट करली है, फलस्वरूप पुण्य-पाप के संतापरूप – क्लेशरूप – दुःख रूप स्वाद को छेदकर भगवान आत्मा के आश्रय से चैतन्य के निराकुल आनन्द का स्वाद आया है, अन्तर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल चैतन्य की परिणति प्रगट हुई है, वह ज्ञानी है। अहाहा...... ! वस्तु तो अखण्ड चैतन्य ज्योतिरूप थी ही, उसका आश्रय लेने से शुभाशुभ कर्म को छोड़कर वर्तमान पर्याय में भी ज्ञानज्योति निर्मल हो गई है, अर्थात् शुद्ध रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग प्रगट हो गया है। आत्मा के स्वभाव में जहाँ शुद्धोपयोगरूप अतिशय सामर्थ्य प्रगट हुई, जहाँ वीर्य का स्फुरण हुआ, वहाँ हीन पुण्य-पाप का भाव तो मूल से छिद ही गया है, व्यवहार-रत्नत्रय का शुभभाव भी नष्ट हो गया और शुद्ध रत्नत्रयरूप वीतराग-परिणति उत्पन्न हो गई।

स्वभाव के सन्मुख तथा विभाव से विमुख होनेपर व्यवहार-रत्नत्रय के राग से भी विमुख होकर ज्ञानज्योति अत्यन्त सामर्थ्य सहित प्रगट हुई।

अब ज्ञानज्योति की विशेषता बतलाते हैं कि "कवलिततमः" अर्थात् वह ज्ञानज्योति अज्ञानरूपी अंधकार को निगल गई है, अर्थात् उसने अज्ञान का नाश कर दिया है।

देखो, पुण्य-पाप का भाव अज्ञानमय है, क्योंकि उसमें ज्ञानज्योति नहीं है। यहाँ अज्ञान का अर्थ मिथ्यात्व नहीं है, किन्तु पुण्य-पाप के भाव में

ज्ञान की या चैतन्य की किरण नहीं है – इस कारण वह अज्ञानमय है। ज्ञानज्योति ऐसे अज्ञानरूप अंधकार को निगल गई है। शुभभाव मोक्षमार्गी को होता है, किन्तु "शुभ से धर्म होगा व अशुभ से नहीं होगा" – ऐसी मान्यतारूप अज्ञान का उस ज्ञानज्योति ने नाश किया है।

अब दूसरी विशेषता बतलाते हुए कहते हैं कि – वह ज्ञानज्योति लीलामात्र से (सहजपुरुषार्थ से) उघड़ती या विकसित होती जाती है। लीलामात्र से अर्थात् अन्तर में रमण करते-करते, आत्मा में आनन्द की मौज करते-करते वह ज्ञानज्योति विकसित होती जाती है। तथा सहजरूप से क्षण-प्रतिक्षण निर्मल होती हुई प्रगट होती जाती है। उसने दुःखरूप शुभाशुभभाव को उखाड़कर फेंक दिया है।

अनन्त तीर्थंकरों ने व अनन्त संतों ने भी प्रवाहरूप से यही मार्ग बताया है। पिछली गाथाओं में भी यह बात आ चुकी है कि—

१. शुभाशुभभाव की रुचिरूप जो मिथ्यात्वभाव है, वह सम्यक्त्व का घातक है।

२. शुभभाव स्वयं बन्धस्वरूप है,

३. शुभभाव सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के कारण रूप भाव से विपरीत भाव स्वरूप है।

देखो, सम्यग्दर्शनादि अबन्धस्वरूप हैं तथा शुभभाव बन्धस्वरूप है एवं शुभभाव की रुचि सम्यग्दर्शन घातक है। जो घातक है, वह आत्मा के सम्यग्दर्शन आदि में मदद कैसे कर सकता है भाई ?

जिनवाणी में जहाँ भी शुभ को साधक कहा गया है, वह तो व्यवहार-नय से किया गया आरोपित कथन है। प्रज्ञा-छैनी से आत्मा को राग से भिन्न करके शुद्धात्मानुभूति का भाव ही वास्तविक मोक्ष का साधक भाव है। उस काल में जो पूर्वचर, सहचर व उत्तरचररूप व्यवहार में शुभभाव का प्रवर्तन होता है, उसे उपचार मात्र से आरोपित करके साधक कह दिया जाता है – वास्तविक वस्तुस्थिति तो यह है।

कलश में जो – "लीलामात्र" कहा है उसका अर्थ यह है कि – जहाँ चैतन्यस्वभाव दृष्टि में आया और उसके अनुभव में स्थिरता व रमणता हुई

वहाँ सहज ही आनन्द की दशा विकसित हो जाती है। तथा सहचारीपने होनेवाले बाह्य चारित्र को जो कुछ लोग कष्टसाध्य मानते हैं, उनकी उस मान्यता का भी परिहार "लीलामात्र" कहने से हो जाता है। अर्थात् आत्मानुभूति के बाद चारित्रदशा सहजसाध्य है, कष्टसाध्य व कष्टकारक नहीं।

अहाहा........! धर्मी जीव लीलामात्र से अर्थात् सहजरूप में आनंद की लहरों में क्रीड़ा करता हुआ खेल-खेल में चारित्र दशा प्रगट कर लेता है, उसे इसके प्राप्त करने में कोई कष्ट नहीं होता।

तथा उस ज्ञानज्योति ने "परमकलया सार्धमारब्धकेलि" अर्थात् केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है। जहाँतक सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है, तबतक वह ज्ञानज्योति केवलज्ञान के साथ शुद्धनय के बल से परोक्ष क्रीड़ा करती है तथा केवलज्ञान होने पर साक्षात् अनुभव होता है।

अहाहा........! साधकभाव केवलज्ञानी के साथ परोक्ष क्रीड़ा करता है, उसका अर्थ यह है कि साधकभाव मिटकर अल्पकाल में केवलज्ञान होगा। जिसतरह जब दोज का चाँद उदित हुआ है तो १३वें दिन में पूनम का चाँद अवश्य उदित होगा, उसीतरह जिसकी मति-श्रुतरूप सम्यग्ज्ञान-कला उदित हुई है, उसके अल्पकाल में केवलज्ञान की कला अवश्य उदित होगी। षट्खण्डागम में कहा है कि – "मति-श्रुतज्ञान केवलज्ञान को बुलाता है।" इसका अर्थ यह है कि अल्पकाल में केवलज्ञान होगा।

अरे! यदि तू शुभभाव में संतोष मानेगा तो इससे चैतन्यरत्न तेरे हाथ नहीं आयेगा। मिथ्यात्व के भाव में तो भविष्य के अनंत नरक-निगोद का भाव पड़ा है। इस भव का निवारण करने का यह एक ही उपाय है कि चैतन्यस्वभाव की सन्मुखता करना, स्वभाव का अनुभव करना एवं स्वभाव की आनन्ददशा का वेदन करना। जिसने स्वभाव का ज्ञान सम्यक् मति-श्रुतज्ञान प्रगट किया है, उसने केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा की है, भव का अभाव करने का खेल प्रारंभ किया है। मेरी यह साधकदशा – अल्पज्ञान केवलज्ञान का अंश है। मैं अंशी को यानि केवलज्ञान स्वभाव की पूर्णता को प्रगट करता हूँ। तात्पर्य यह है कि – शुभभाव या व्यवहार-रत्नत्रय का भाव स्वभाव का अंश नहीं है, यह तो विभावभाव है। इससे रहित जो भगवान आत्मा का श्रद्धान व ज्ञान प्रगट हुआ है, वह स्वभाव का अंश है और केवलज्ञान स्वभाव की पूर्णता है। यह स्वभाव का अंश पूर्णता के

साथ क्रीड़ा करता है। अहाहा.........! इसका ध्येय द्रव्य है और साध्य केवलज्ञान है।

यह ज्ञानज्योति शुद्धनय के बल से केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा करती है। अर्थात् इसने ध्रुव को ध्येय बनाकर पूर्ण पर्याय को साध्य बनाया है। शुद्धनय के बल से अर्थात् शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा को ध्येय बनाकर शुद्धनय की पूर्णता रूप केवलज्ञान का उद्यम प्रारंभ किया है।

जबतक पूर्णता प्रगट नहीं हुई, तबतक शुद्धनय के विषयभूत शुद्ध-द्रव्य का आश्रय होता है तथा पूर्णता हो जानेपर द्रव्य का आश्रय करने के लिए कुछ शेष नहीं रहता। अर्थात् वहाँ शुद्धनय का कार्य पूर्ण हो गया – ऐसा कहा जाता है। इसप्रकार केवलज्ञान की पर्याय प्रगट होनेपर शुद्धनय की पूर्णता हुई – ऐसा कहने में आता है।

जबतक ज्ञान की पर्याय का उपयोग शुद्धनय के विषयभूत ध्रुव आत्मद्रव्य में परिपूर्णतया जमता नहीं है, तबतक शुद्धनय की अपूर्णता है अर्थात् अल्पज्ञान है तथा जब ज्ञान का उपयोग शुद्धनय के विषयभूत आत्म-द्रव्य में परिपूर्णता से जम जाता है, पलटता नहीं है, ज्ञेय से ज्ञेयान्तर नहीं होता है, एक ध्रुव में ही जमा रहता है; तब वह शुद्धनय की पूर्णता है अर्थात् केवलज्ञान है।

११वीं गाथा में भगवान पूर्णानन्द का नाथ त्रिकाली ध्रुव अखण्ड एक चैतन्यस्वभावी सत्यार्थ – भूतार्थ वस्तु को शुद्धनय कहा है, सो वहाँ शुद्धनय के विषय के साथ अभेद करके वस्तु को ही शुद्धनय कहा है। यहाँ केवलज्ञान होनेपर शुद्धनय का आश्रय पूरा हुआ, फिर इसका आश्रय करने का प्रयोजन कुछ रहा नहीं, इस अपेक्षा से शुद्धनय की पूर्णता को केवल-ज्ञान कहा है। आस्रव अधिकार में भी यह बात आती है। अरे भाई! तू उत्साह से एकबार हाँ तो कर, तू इसका विरोध मत कर! क्योंकि इसका विरोध होनेपर तेरा स्वयं का विरोध होता है। जहाँ पुण्यभाव की ओर झुकाव होता है, वहाँ अपनी ओर का झुकाव कम हो जाता है।

अहा.........! शुद्धभाव के उत्साह में उसकी ही भावना अर्थात् रुचि हो जाती है तथा पुण्य की भावना होते ही मिथ्यात्वभाव हो जाता है, जिसका फल संसार है, दुःख है।

यहाँ कहते हैं कि – चैतन्यस्वभाव की भावना अर्थात् एकाग्रतारूप जो दशा प्रगट हुई है, वह पूर्ण एकाग्रता को साधेगी; क्योंकि इस जीव ने

अपने चैतन्यस्वभाव के साथ क्रीड़ा जो प्रारंभ की है न ? इसकारण वह पूर्ण एकाग्रता को प्राप्त होगा ही ।

भाई ! यह गजब की बात है, हरेक के हृदय में बैठना कठिन है, तथापि जिसका संसार-सागर का किनारा नजदीक आ गया है, उसे जल्दी समझ में आ जायेगी ।

मिथ्यादृष्टि भले ही व्यवहार का साधन करता हो, तो भी उसे निश्चयनय असाध्य ही हैं । जो पुण्य के प्रेम में अटका है, वह असाध्यदशा में ही पड़ा हैं ।

अरे ! वे महा असाध्य दशा में (निगोद में) जावेंगे, जहाँ मात्र अक्षर का अनन्तवाँ भाग क्षयोपशमज्ञान है । वहाँ भी आत्मवस्तु स्वभाव से तो पूर्णानंदस्वरूप परिपूर्ण चैतन्यमय ही है, किन्तु पर्याय में उघाड़ तो केवल अक्षर के अनन्तवें भाग मात्र ही है । अक्षर का अनन्तवाँ भाग अर्थात् जिसका कभी क्षय नहीं होता – ऐसे केवलज्ञान का मात्र अनन्तवाँ भाग ज्ञान निगोद में होता है ।

भाई ! जिसने अपने सच्चिदानन्द ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा की उपेक्षा की है, अनादर किया है तथा वस्तु के सत्यस्वरूप को स्वीकार नहीं किया है उसकी ऐसी हीन (निगोद) दशा होती है कि जिसमें स्वयं जीव है – इस बात का स्वयं को तो ज्ञान रहता ही नहीं है, दूसरे जीव भी यह मानने को तैयार नहीं होते कि यह जीव है । आज भी निगोद में ऐसे अनन्त जीव हैं, जिनके अस्तित्व का बोध न उन्हें होता है और न दूसरों को ही । यह निगोद की दशा पर में व पर्याय में एकत्वबुद्धि से प्राप्त होती है ।

चौथी गाथा में आया है कि – जो जीव आजतक भी निगोद में से नहीं निकले, उन्होंने भी राग की कथा सुनी है । वहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि वे राग का ही वेदन करते हैं । वहाँ भी जो क्षण में शुभ व क्षण में अशुभ परिणाम होते हैं, वे उनका ही वेदन किया करते हैं और भगवान आत्मा एक ओर पड़ा रहता है ।

बापू ! सत्य का मार्ग कोई अचिन्त्य, अलौकिक है । जिसके फल में जो अनन्तों भूतकाल की पर्यायें गईं, उससे भी अनंतगुणी भविष्य की

पर्यायें अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंतसुख व अनंत वीर्य की अनंत आनन्द-रूप पर्यायें फलित होती हैं, वह मोक्ष का उपाय परम अलौकिक है।

यहाँ कहते हैं कि जिसको ऐसा मोक्षमार्ग मिल गया है, ज्ञानज्योति प्रगट हो गई है, वह शुद्धनय के बल से केवलज्ञान के साथ परोक्ष क्रीड़ा करता है तथा केवलज्ञान होनेपर शुद्धनय पूर्ण हो जाता है। अहाहा...... ! एक कलश में कितना रहस्य भर दिया है। शुद्धनय के बल से जिसने केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारंभ कर दी है, वह क्रीड़ा पूरी होनेपर केवल-ज्ञान की प्राप्ति होकर ही रहेगी।

अहो ! कैसा अद्भूत मार्ग है ! और कैसी अद्भूत दिगम्बर संतों की कथनी है !! जो वस्तुस्वरूप को दर्पण की भाँति हथेलीपर दिखा देती है।

कलश ११२ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, शुभभाव हो या अशुभ – दोनों ही कर्मबन्ध के कारण होने से यद्यपि एक (कर्म की) ही जाति के हैं, तथापि अज्ञानी शुभभाव की जाति को जुदी व अशुभभाव की जाति को जुदी जानते-मानते हैं। इसी भाँति पुण्यबंध की प्रकृति को जुदी व पापबंध की प्रकृति को जुदी जानते हैं। इसतरह एक ही कर्म भेदरूप होकर नाचता है, परिणमन करता है और आत्मा को भुलावे में डाल देता है। अज्ञानी की मान्यता में शुभ ठीक है व अशुभ ठीक नहीं है, इसतरह भेदरूप परिणमित होकर कर्म शुद्ध चैतन्यस्वरूप चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा को भुला देता है।

वस्तुतः देखना यह था कि शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा ठीक है एवं सम्पूर्ण शुभाशुभ भाव बन्धन के हेतु होने से ठीक नहीं है। उसके बजाय यह अज्ञानी अबतक ऐसा देखता-जानता रहा है कि – शुभ ठीक है व अशुभ ठीक नहीं है। इसी विपरीत अभिप्राय से अबतक यह शुभाशुभ कर्म ज्ञान को (आत्मा को) भुलाता रहा है। अब उस कर्म को आत्मा ने अपनी शक्ति से अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रय से अथवा स्वभाव-सन्मुखता के पुरुषार्थ से उखाड़कर ज्ञानज्योति को सम्पूर्ण सामर्थ्य से प्रकाशित किया है, प्रगट कर लिया है।

यह ज्ञानज्योति अर्थात् सम्यग्ज्ञान केवलज्ञानरूपी परमकला का अंश है। वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ जनों को सम्यग्ज्ञान की कला को या ज्ञान-

ज्योति को केवलज्ञान का अंश मानने में भी अटपटा लगता है। वे इसमें भी विवाद खड़ा करते हैं। कहते हैं – यह सम्यग्ज्ञान का अंश कैसे हो सकता है ? केवलज्ञान तो जब प्रगट होता है तब पूर्ण ही होता है, उसका अंश कैसा ? क्योंकि केवलज्ञानावरणी कर्म तो सर्वघातिया कर्म है। वह जब भी टलेगा तो एक ही साथ टलेगा, उसका अंश तो कभी नष्ट होता नहीं है। तथा मति-श्रुत देशघाती प्रकृतियाँ हैं, उनका उघाड़ तो क्षयोपशम का अंश है। अतः सम्यग्ज्ञान को क्षायिक का अंश कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर :—मति-श्रुतज्ञान का जो अंश सम्यक्रूप में प्रगट हुआ है, उसे ही केवलज्ञान का अंश कहा गया है, क्योंकि दोनों एक ही सम्यग्ज्ञान की (शुद्धचैतन्य की) जाति के हैं। मति-श्रुतज्ञान केवलज्ञान के परिपूर्ण स्वरूप को जानता है तथा वह अंश, वृद्धि को प्राप्त होकर केवलज्ञान होगा। जिसतरह दोज का चाँद आंशिक रूप से उदित होता है, वह दोज को तो प्रगट करता ही है, किन्तु साथ ही चन्द्रमा के पूरे आकार को भी सिद्ध करता है। दूज के चन्द्रमा की छोटी सी रेखा दिखाई देती है तथा उसी के प्रकाश में शेष पूरे आकार की झांई भी दिखाई देती है। इसीतरह आज का मति-श्रुतरूप सम्यग्ज्ञान कल के केवलज्ञान को दर्शाता है।

मति-श्रुतज्ञान केवलज्ञान के परिपूर्ण स्वरूप को जानता है तथा वही अंश पूर्णता की ओर ही गमन करता है। शुभाशुभभाव से रहित जो निर्मल मति-श्रुतज्ञान का अंश है, वही अंश बढ़ता-बढ़ता परिपूर्ण केवलज्ञान में परिवर्तित हो जाता है।

जिसतरह चाँद दोज से तीज, चौथ, पंचमी आदि में क्रमशः पूनम तक वृद्धिगत होता जाता है, उसीतरह मतिज्ञान-श्रुतज्ञान वृद्धिगत होता हुआ केवलज्ञान पर्याय को प्राप्त होगा। इससे ऐसा कहा जाता है कि "ज्ञानज्योति ने केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारंभ की है।"

यहाँ यह सिद्धान्त सिद्ध करना है कि शुभाशुभभाव से भिन्न हुआ ज्ञान वृद्धिगत होकर केवलज्ञान हो जाता है। यह सम्यग्ज्ञान ज्योति स्वयं बढ़ती जाती है, इसे राग की सहायता की जरूरत नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय से ज्ञान में प्रगति नहीं होती। हाँ, केवलज्ञान की ओर बढ़ते हुए

चरण में बीच-बीच में शुभभाव आता अवश्य है, परन्तु उसका केवलज्ञान की प्राप्ति में कुछ भी योगदान नहीं है।

मति-श्रुतज्ञान जितने अंश में शुभ-अशुभ से भिन्न पड़कर निर्मल हुआ है, उतने अंश में वह केवलज्ञान की ओर अग्रसर होता जाता है और वह निर्मल अंश शुभभाव का अभाव करके बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान को अर्थात् पूर्णता को प्राप्त होता।

टीका के इस अंतिम भाग में कहा है कि – देखो, दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि के शुभभाव एवं हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि के अशुभभाव – दोनों ही विकार हैं, दोनों में एक भी धर्म या धर्म का कारण नहीं है। दोनों ही बन्धस्वरूप एवं बन्ध के ही कारण हैं, इसकारण दोनों ही कर्म सामान्यरूप से एक ही हैं।

पुण्य-पाप तो इसके दो स्वांग हैं। जिसतरह नाटक में एक ही पुरुष भिन्न-भिन्न पात्र के रूप में भिन्न-भिन्न स्वांग (भेष) धारण करता है, उसीतरह कर्म पुण्य व पाप के स्वांग धारण करके रंगभूमि में प्रविष्ट हुआ था; किन्तु ज्ञान ने उसके यथार्थ स्वरूप को पहचान लिया, अतः अब उसे पुण्य-पाप में भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। पहले दोनों को भिन्न-भिन्न मानता था, वह मिथ्यात्व था; किन्तु अब अन्तर में एकाग्र होने से जो यथार्थ ज्ञान प्रगट हुआ, उससे जाना कि दोनों एक ही हैं, विभाव हैं, पुद्गल की जाति के हैं, दोनों में कोई अन्तर नहीं है, दोनों ही संसार के ही कारण हैं। ऐसा यथार्थज्ञान जहाँ प्रगट हुआ, वहीं वह पुण्य पाप का स्वांग छोड़कर रंगभूमि में से बाहर निकल गया। अहाहा.........! आत्मा जहाँ ज्ञान के असली भेष में प्रगट हुआ, वहीं पुण्य-पाप पलायन कर गये।

अब कविवर पण्डित जयचन्दजी उपसंहार करते हुए सम्पूर्ण कथन का सारांश कहते हैं—

"आश्रय कारण रूप सवाद सु भेद विचारि गिने दोउ न्यारे.
पुण्य रु पाप शुभाशुभभावनि, बंध भये सुख-दुःखकरा रे,
ज्ञान भये दोउ एक लखे, बुध आश्रय आदि समान विचारैं,
बंध के कारण हैं दोउ रूप, उन्हें तजि जिन मुनि मोक्ष पधारे ॥"

अज्ञानी जीव ऐसे भेद करता है कि – पुण्य परिणाम मोक्षमार्ग के आश्रय हैं व पाप परिणाम बंध के आश्रय हैं। पुण्यबंध में शुभभाव निमित्त

है व पापबन्ध में अशुभभाव निमित्त है.— इसप्रकार अज्ञानी उनमें आश्रय व कारण से भेद मानता है। तथा पुण्य का स्वाद भला है, मधुर है एवं पाप का स्वाद बुरा है, कटुक है — इसप्रकार अज्ञानी कर्म में भेद करके दोनों को भिन्न-भिन्न सुख-दुःख का कारण मानता है।

परन्तु आत्मा स्वयं सच्चिदानन्दमय पूर्णानन्द का नाथ प्रभु भगवान स्वरूप है — जिसको अपने निज स्वभाव का ऐसा भान हुआ है, वह धर्मी जीव पुण्य व पाप दोनों को एक ही जानता है। तथा पुण्य-पाप के दोनों भाव विकार हैं, और बन्ध के ही कारण हैं। दोनों की प्रकृति पुद्‌गलमय ही है और दोनों का फल भी पुद्‌गलमय ही है। ज्ञानी ऐसा यथार्थ जानता है।

पुण्य के फल में बड़ा देव होता है, श्रीमंत सेठ होता है, तथा स्त्री-कुटुम्ब-परिवार वगैरह उत्तम-उत्तम संयोग मिलते हैं, ढेरों सम्पत्ति की प्राप्ति होती है, किन्तु ये सब धूल-मिट्टी पुद्‌गल ही है — ऐसा समकिती यथार्थ जानता है।

प्रश्न :—आप धनादि सम्पत्ति को धूल-मिट्टी कहते हो, किन्तु इसके बिना तो किसी का भी नहीं चलता ?

उत्तर :—"धन सम्पत्ति के बिना किसी का चलता नहीं है — यह मानना अज्ञान है। अरे भाई ! स्वद्रव्य (जीवद्रव्य) अनन्त परद्रव्यों के बिना ही टिक रहा है। समस्त परद्रव्यों के बिना ही इसका जीवन (अस्तित्व) है। वस्तु सदैव अपने भाव से व पर के अभाव से स्वयं टिक रही है। प्रत्येक द्रव्य में स्व की अस्ति व पर की नास्ति है। यदि आत्मा धनादि परद्रव्य से टिके तो दोनों द्रव्य एक हो जावेंगे और ऐसा होनेपर आत्मा के अभाव का प्रसंग प्राप्त हो जायगा।

जब ऐसा वस्तु का स्वरूप है तो 'धनादि के बिना हमारा नहीं चलता' — ऐसा माननेवाला वस्तुस्वरूप का विरोधी होने से मूढ़-मिथ्यादृष्टि है।

भाई ! संयोगों का जीव में अत्यन्ताभाव है। इनसे निर्वृत्त होने के लिए अन्दर के पुण्य-पाप के विकल्पों से निर्वृत्त होना जरूरी है। पुण्य-पाप से निर्वृत्त होनेपर आत्मा की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। जबतक अन्तर के विकारों से निर्वृत्ति नहीं होती तब तक बाह्य संयोगों के त्याग से

भी कोई लाभ नहीं होता। जिससे जन्म-मरण का नाश हो, वह ही सच्ची निवृत्ति है।

भगवान आत्मा की सहजप्राप्त परमानन्दमय दशा ही निवृत्ति का अर्थात् मोक्ष का यथार्थ मार्ग है। शेष बाह्य व्रतादि के शुभभाव तो संसार का मार्ग है।

जिनेन्द्र भगवान के मार्ग में तो मुनिराज पुण्य-पाप की भावना छोड़कर अन्तर चैतन्यस्वरूप में उग्र लीनता करके, पुण्य-पापरहित होकर मोक्ष पधारते हैं। वे राग की क्रीड़ा छोड़कर शुद्ध चैतन्य की क्रीड़ा में सावधान होकर उग्र पुरुषार्थ से सर्वराग रहित वीतराग पद को प्राप्त हो जाते हैं।

इसप्रकार भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत समयसार शास्त्रपर हुए श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का यह पुण्य-पाप अधिकार समाप्त हुआ।

लाख बात की बात

पुण्य-पाप फल माँहि, हरख बिलखौ मत भाई।
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई॥
लाख बात की बात, यहै निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग दन्द-फन्द, निज आतम ध्याओ॥

— कविवर पण्डित दौलतराम
छहढ़ाला, चौथी ढाल छन्द ६

आस्रव अधिकार

अथ प्रविशत्यास्रव :—

(द्रुतविलंबित)

अथ महामदनिर्भरमंथरं
समररंगपरागतमास्रवम् ।
अयमुदारगंभीरमहोदयो
जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ।।११३।।

(दोहा)

द्रव्यास्रवतैं भिन्न ह्वै, भावास्रव करि नास ।
भये सिद्ध परमातमा, नमूँ तिनहि सुख आस ।।

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि – 'अब आस्रव प्रवेश करता है।' जैसे नृत्यमंच पर नृत्यकार स्वाँग धारण कर प्रवेश करता है, उसीप्रकार यहाँ आस्रव का स्वाँग है। उस स्वाँग को यथार्थतया जाननेवाला सम्यक्ज्ञान है, उसकी महिमारूप मंगल करते हैं :—

श्लोकार्थ :—[अथ] अब [समररंगपरागतम्] समरांगण में आये हुए, [महामदनिर्भरमन्थरं] महामद से भरे हुए मदोन्मत्त [आस्रवम्] आस्रव को [अयम् दुर्जयबोधधनुर्धरः] यह दुर्जय ज्ञान-धनुर्धर [जयति] जीत लेता है, [उदारगंभीरमहोदयः] जिसका (ज्ञानरूपी बाणावली का) महान् उदय उदार है (अर्थात् आस्रव को जीतने के लिये जितना पुरुषार्थ चाहिए, उतना वह पूरा करता है) और गम्भीर है (अर्थात् छद्मस्थ जीव जिसका पार नहीं पा सकते)।

भावार्थ :—यहाँ आस्रव ने नृत्यमंच पर प्रवेश किया है। नृत्य में अनेक रसों का वर्णन होता है, इसलिये यहाँ रसवत् अलंकार के द्वारा शांत

रस में वीर रस को प्रधान करके वर्णन किया है कि 'ज्ञानरूपी धनुर्धर आस्रव को जीतता है।' समस्त विश्व को जीतकर मदोन्मत्त हुआ आस्रव संग्रामभूमि में आकर खड़ा हो गया; किन्तु ज्ञान तो उससे भी अधिक बलवान योद्धा है, इसलिये वह आस्रव को जीत लेता है अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में कर्मों का नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करता है। ज्ञान का ऐसा सामर्थ्य है।

हिन्दी मंगलाचरण पर प्रवचन

यह आस्रव अधिकार है। शुभ एवं अशुभ – दोनों भाव आस्रव हैं, इस आस्रव भाव के यथार्थ स्वरूप को जानकर ही आत्मा इसे जीत सकता है। सर्वप्रथम टीकाकार पं० जयचंदजी मंगलाचरण करते हैं—

"द्रव्यास्रवतैं भिन्न ह्वै, भावास्रव करि नास,
भये सिद्ध परमातमा, नमूँ तिनहिं सुख आस।"

आत्मा द्रव्यास्रव से त्रिकाल भिन्न है। कर्म परमाणु (रजकण) अजीव हैं, अचेतन हैं और भगवान आत्मा इनसे भिन्न चैतन्य महाप्रभु परम पदार्थ है। जिनने स्वभाव के आश्रय से द्रव्यास्रव एवं पुण्य-पाप के विकारी भावरूप भावास्रवों का नाश किया है और परम वीतरागभावरूप परमात्म-पद प्राप्त कर लिया है, वे सिद्ध परमात्मा बन गये हैं। मैं अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति हेतु अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति हेतु उन सिद्ध परमात्मा को नमन करता हूँ।

देखो, नमन करने का विकल्प तो शुभराग है, किन्तु ज्ञानी को अन्तर में अभिलाषा तो निराकुल आनन्द की प्राप्ति की ही है। नमन करने के विकल्प से उस निराकुल आनन्द की प्राप्ति नहीं होती, उसकी प्राप्ति तो स्वाश्रय से ही होती है; किन्तु साधकों को साधक की भूमिका में सिद्धों के प्रति नमन का भाव आये बिना नहीं रहता, अतः यहाँ अतीन्द्रिय-आनन्द के अभिलाषी द्वारा जिनेन्द्र को नमन किया गया है।

देखो, नमन करने के प्रयोजन में यह नहीं कहा कि – नमन करने से पुण्य होगा और उससे स्वर्गादिक की प्राप्ति होगी और धन-सम्पत्ति आदि इष्ट संयोग मिलेंगे, ज्ञानी इस अभिप्राय से परमात्मा का नमन करते भी नहीं हैं।

परमात्मा का पद व्यवहार मोक्षमार्गरूप आस्रव से प्राप्त नहीं होता। क्या व्यवहार मोक्षमार्ग का फल निश्चय मोक्षमार्ग हो सकता है? नहीं हो सकता। जो व्यवहार मोक्षमार्ग से अर्थात् राग से निश्चय मोक्षमार्ग अर्थात् वीतरागता होना मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। मंगलाचरण में जो यह कहा है कि – "भावास्रव करि नाश" उसका अर्थ यह है कि – पुण्य-पापरूप समस्त आस्रव का नाश करके परमात्मपद प्राप्त किया है, किन्तु क्या करें? लोगों को पुण्य की ऐसी मिठास व पकड़ हो गई है कि छूटती ही नहीं है। पुण्य के फल में बाह्य वैभव – रुपया-पैसा, आबरू-इज्जत, बाग-बगीचा, स्त्री-पुत्रादि एवं गाड़ी-बंगला आदि चमक-दमक दिखाई देती है – इसकारण अज्ञानी उसमें भ्रमित हो गया है। किन्तु भाई! ये सब क्या है? यह सब तो धूल मिट्टी है, पुद्गल है।

ज्ञानी धर्मात्मा पुण्य से प्राप्त चक्रवर्ती की सम्पदा को भी कागबीट सम तुच्छ गिनते हैं। कहा भी है –

"चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सारिखे भोग,
कागबीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग।"

सम्यग्दृष्टि लोग अर्थात् ज्ञानीजन, चक्रवर्ती जैसे पुण्य के फल को भी, जिसमें ९६ हजार रानियाँ और छह खण्ड की विभूति जैसे वैभव का संयोग मिलता है तथा इन्द्र जैसे पद की विभूति, जिसमें करोड़ों देवांगनाओं का समागम होता है, उसे भी कौए की बीट की भाँति तुच्छ मानते हैं। देखो, कैसा दृष्टान्त दिया है। कौए की बीट का, जो किसी के कुछ भी काम नहीं आती।

अहा.........! आत्मा मात्र सच्चिदानन्दस्वरूप पवित्रता का पिण्ड है, शाश्वत ज्ञान व आनन्द का घर है। अज्ञानी जीव ऐसे निज आनन्द के घर में तो आता नहीं है और परघर में सुख मानकर पर में अटक गया है। इसीकारण संसार में भटक गया है और दुःखी हो रहा है।

समयसार के मोक्ष अधिकार में तो शुभभाव को जहर का घड़ा, (विषकुम्भ) कहा है। पाप का परिणाम तो जहर का घड़ा है ही, किन्तु शुभभाव भी जहर का घड़ा – विषकुम्भ है। एक भगवान आत्मा ही अमृत कुम्भ है, क्योंकि वह पुण्य-पाप से रहित है। जिसने ऐसे पुण्य-पाप से रहित निज आत्मा को देखा है, वह पुण्य की आशा नहीं करता। वह तो मात्र सिद्ध भगवान की तरह अतीन्द्रिय आनन्द को ही चाहता है। बापू! अन्दर में सदा ही आनन्द का नाथ भगवान स्वरूप आत्मा विराज रहा है, किन्तु

तुझे इसकी खबर नहीं है। तेरा उससे परिचय नहीं है, बस यही तेरे दुःख का मूल कारण है।

यहाँ टीकाकार कहते हैं कि – "अब आस्रव प्रवेश करता है"

जिसतरह नृत्य के रंगमंचपर नृत्य करनेवाला पुरुष स्वाँग धारण करके आता है, उसीतरह यहाँ आस्रव का स्वाँग है। पुण्य व पाप – दोनों आस्रव हैं. नवीन कर्म-आवरण आने के कारण हैं। जिसतरह नौका में छिद्र होवे तो अन्दर पानी आता है, उसीतरह भगवान आत्मा में पुण्य-पापरूप छिद्र (दोष) हो तो स्वर्ग या नरक में जाने के योग्य कर्म का आवरण आता है।

'उस स्वाँग को यथार्थ रूप से जानने-पहचाननेवाला सम्यग्ज्ञान है।"

जिसतरह नाटक में प्रथम नारद का स्वाँग लेकर कोई आता है और बोलता है कि – "मैं ब्रह्मासुत हूँ नारद मेरा नाम, जहाँ सुख-शांति हो वहाँ झगड़ा कराना मेरा काम" उसीतरह यहाँ नाटक में ऐसा कहते हैं कि—

"मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ, आत्मा मेरा नाम।
पुण्य-पाप की प्रीति मिटाकर, आत्मा से प्रीति जोड़ना मेरा काम।"

पुण्य पाप से प्रेम तोड़कर भगवान आत्मा से प्रेम जोड़ना, भगवान आत्मा की रुचि उत्पन्न करना इस आस्रव अधिकार का मूल प्रयोजन है।

अहो! वीतरागता के नाटक की शुरुआत इसीप्रकार होती है।

कलश ११३ पर प्रवचन

यह "समयसार" के रूप मे नाटक है न? जिसतरह नाटक में अनेक पात्र होते हैं और वे नाना भेष धरकर रंगमंच पर आते हैं, उसीतरह यहाँ भी आस्रव योद्धा के रूप में आया है। वह आस्रवरूपी योद्धा महान अभिमानी है, महामद से मदोन्मत्त हो रहा है। उसे इस बात का अभिमान है कि मैंने बड़-बड़े महाव्रत के धारी २८ मूल गुणों का पालन करनेवाले दिगम्बर साधुओं तक को भी पछाड़ दिया है तो सामान्य जनों की बात ही क्या है? "पाच महाव्रतादि के शुभभाव से लाभ होता है" – ऐसी मान्यता कराके मैंने बड़े-बड़े संतों-महंतों को भी मिथ्यात्व के कूप में ढकेल दिया है – गिरा दिया है तो औरों की क्या बात?

ऐसे अभिमान से भरे मदोन्मत्त इस दुर्जय आस्रव योद्धा को भी जो ज्ञानरूप योद्धा जीत लेता है, उस ज्ञान की जय-जयकार करते हुए मगलाचरण किया गया है।

भगवान आत्मा चिदानन्दमय शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु है। इसमें एकाग्र होकर जिसने अन्तर में ज्ञान प्रगट किया है, वह ज्ञान अजेय योद्धा है। पुण्य-पाप रहित भगवान आत्मा का ज्ञान करना ही उस ज्ञानरूप योद्धा की बाणावलि है, जिसके द्वारा वह आस्रव को जीतता है और संवर को प्रगट करता है। अहाहा..........! शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप की दृष्टि की एकाग्रतारूप बाण से ज्ञान ने आस्रवरूप योद्धा को जीत लिया है।

देखो, यहाँ आश्रव को अभिमानी और बोध (सम्यग्ज्ञान) को अजेय धनुर्धर योद्धा कहा है। पुण्य-पाप में एकाग्र होने से अथवा इनमें एकत्व-ममत्व करने से जो विकारभाव या दुःख के कारणरूप आस्रवभाव उत्पन्न होते हैं एवं विद्यमान रहते हैं, उनको ज्ञान त्रिकाली सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान आत्मा में एकाग्रता करके जीत लेता है तथा क्रमशः क्षीण करता हुआ संवर एवं निर्जरा प्रगट करता है और शुद्धि में क्रमशः वृद्धि करता हुआ पूर्णता को प्राप्त होता है। अहाहा.........! पूर्ण चैतन्यघन-पिण्ड, आनन्दरसकन्द प्रभुस्वरूप आत्मवस्तु में दृष्टि की एकाग्रता होनेपर जो ज्ञानधारा व आनन्दधारा प्रगट हुई, वही दुर्जय ज्ञानरूपी बाणावली हैं।

भूतकाल में जिन परिणामों से पुण्य-पाप होता था, उन परिणामों ने संवर को जीत लिया था। अब उन पुण्य-पापरूप आस्रवों की परवाह न करके अर्थात् उनकी उपेक्षा करके ज्ञान अपने परिणाम को शुद्ध चिद्रूप में मगन कर देता है तो वह आस्रवों को जीत लेता है। अहाहा......! गजब बात है भाई! जिसतरह राम और अर्जुन के बाण अचूक थे, दुश्मन की छाती को भेदकर ही रहे; उसीप्रकार पुण्य-पापरूप विकार से भिन्न अन्दर में पूरा का पूरा त्रिकाल चिदानन्द भगवान विद्यमान है। ज्ञान में उसकी स्वीकृति होनेपर जो श्रद्धान, ज्ञान व आनन्द की धारा प्रगट होती है, वह आस्रव को जीत लेती है अर्थात् आस्रव को समाप्त कर देती है।

परद्रव्य के अवलम्बन से हुई जीव की रागादि रूप दशा ही आस्रव है। उस आस्रव को स्वद्रव्य के अवलम्बन से प्रगट हुआ ज्ञान जीत लेता है। आस्रव को जीतने का या हटाने का बस यही एक उपाय है, इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है।

अहाहा........ ! स्व अर्थात् भगवान आत्मा चैतन्य महाप्रभु है। इसके अतीन्द्रिय आनन्दरस के स्वाद के सामने इन्द्र का इन्द्रासन भी सड़े घास के तिनके के समान तुच्छ भासित होता है। अहाहा..........! जिन

विषयों में दुनिया मजा मानती है, वे इन्द्रियों के विषय ज्ञानियों को फीके – नीरस लगते हैं, इतना ही नहीं, बल्कि जहर समान त्याज्य-अरुचिकर लगते हैं। ऐसे ज्ञान को ही अज्ञान की नाशक बाणावली तुल्य कहा गया है।

यहाँ ज्ञान का अर्थ शास्त्रज्ञान नहीं है और न लौकिकज्ञान ही है। यह तो निर्विकार स्वसंवेदनपूर्वक प्रगट हुए सम्यग्ज्ञान की बात है। पुण्य-पाप के भाव से रहित एक ज्ञायकभाव का आश्रय लेने से जो ज्ञानधारा – समकितधारा – आनन्दधारा – स्वसंवेदनधारा प्रगट हुई, वह, ज्ञानरूपी बाणावली आस्रवरूप योद्धा के सीने को वेधकर उसपर विजय प्राप्त कर लेती है।

अब इस ज्ञानबाणावली की कुछ और विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि उसका उदित होना अपने आप में महान है, वह उदार है और गम्भीर है। अहाहा……! आस्रव को जीतने के लिए जितना पुरुषार्थ चाहिए उतना पुरुषार्थ ज्ञान प्रगट करके देता है – ऐसा उदार है। अहाहा………! भगवान आत्मा अन्दर में केवल आनन्द व पुरुषार्थ का समुद्र है, स्वभाव का अनन्त सागर है, गुणों का गोदाम है। उसमें अनन्त-अनन्त ज्ञान व आनन्द की लक्ष्मी विद्यमान है। ऐसे चैतन्य रत्नाकर में निमग्न होकर ज्ञानरूपी बाणावली, आस्रव को जीतने के लिये जितने भी पुरुषार्थ की जरूरत है उतना पुरुषार्थ प्रगट करने में समर्थ है।

भगवान आत्मा अनन्तानन्त शक्तियों का पिण्ड है। उसके अनुभव से प्रगट हुआ ज्ञान अनन्त शक्तियों सहित उछलता है। अहा………! वह अगाध है, अथाह है, उसकी थाह पाना सहज बात नहीं है। छद्मस्थ – अल्पज्ञ जीव उसकी थाह नहीं पा सकते – ऐसा गम्भीर है।

देखो, आस्रव अधिकार प्रारंभ करते हुए आस्रव को जीतनेवाले सम्यग्ज्ञान को स्मरण करके, उसकी महिमा गाकर यह मंगलाचरण किया है। जगत में भी अवसर-अवसर पर लौकिक कार्यों की सफलता हेतु मांगलिक स्वरूप शुभ-शकुन करने की प्रथा है, एतदर्थ हल्दी, सुपारी, कुमकुम, दधि, अक्षत् आदि से मंगल मनाकर कार्य प्रारंभ करते हैं; परन्तु जो काम स्वयं अमंगल हैं, उनके लिए मांगलिक करने का क्या प्रयोजन ? यहाँ तो उसका मांगलिक या मंगलाचरण किया है, जिसने पुण्य-पापरहित होकर शुद्ध चैतन्यमय अपने आत्मा का अनुभव प्रगट किया और आस्रव को जीत लिया। अहाहा……! जो ज्ञान आत्मा का अनुभव करता है और उसका स्मरण रखता है, वह आस्रव को जीतता है और वही सच्चा

मंगल है। अहा.......! जिसने सुनकर या पढ़कर नहीं; किन्तु अनुभव करके स्मरण किया है, वह ज्ञान आस्रव को जीत लेता है।

भाई ! शुद्ध ज्ञान की धारा केवलज्ञान को बुलाती है – ऐसा भी एक ठिकाने आया है। इसका अभिप्राय यह है कि पूर्णज्ञान जो कि आत्मा का निज स्वभाव है, वह पर्याय में प्रगट हो जावे, इसप्रकार श्रुतज्ञानी केवलज्ञान का आह्वान करता है। अल्पज्ञ जीव ऊपरी दृष्टि से उसका पार नहीं पा सकता। यह केवलज्ञान ऐसा अपार गम्भीर है। अहो ! सच्चिदानंद स्वरूप भगवान आत्मा की जो जागृत दशा हुई, उसकी महानता और गंभीरता की क्या बात ? वह तो अनुपम ही है।

कलश ११३ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, *शुभाशुभभाव अशान्तरस हैं, आस्रवभाव अशांत रस है तथा* भगवान आत्मा का ज्ञान व ध्यान शांतरस है। यहाँ है तो शांतरस का, उपशमरस – वीतरागरस का प्रसंग, किन्तु युद्ध का रूपक होने से साहित्यिक दृष्टि से वीररस की प्रधानता से वर्णन किया गया है।

कहा है कि जीवराजा की ज्ञानरूपी बाणावली आस्रवरूप शत्रु को जीत लेती है। मूलतः तो चैतन्यस्वरूप में निमग्न होनेपर ही आस्रवभाव मिटता है एवं ज्ञान व शांति प्रगट होती है।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि यह कैसा धर्म है, जिसमें दरिद्रियों को दान देने की, भूखे-प्यासों को अन्न-पानी देने की और रोगियों को चिकित्सालय बनवाने एवं औषधि आदि दान देने की बातें तो आई ही नहीं हैं, एक आत्मा के सिवाय जहाँ दूसरी बात ही नहीं वह कैसा धर्म ?

उनसे कहते हैं कि भाई ! तू दान देने की बात करता है, परन्तु क्या आत्मा परद्रव्य का ग्रहण-त्याग कर सकता है ? आत्मा में तो त्यागोपादान-शून्यत्व शक्ति है, जिससे वह परद्रव्य का स्पर्श ही नहीं करता। वस्तुतः तो कोई परद्रव्य अपना है ही नहीं, जो अपना नहीं उसको कैसे दिया-लिया जा सकता है ? जिस अपेक्षा लोक में दान लेने-देने की बात चलती है, वह अपेक्षा यहाँ नहीं है। यहाँ तो जन्म-मरण मिटानेवाली चिकित्सालय बनवाने की बात है। अतः यह कहा जा रहा है कि आत्मा परद्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता नहीं है। परद्रव्य रूप चिकित्सालय आदि की क्रियाएँ तो अपनी-अपनी स्वसमय की योग्यता से अपने-अपने स्वसमय में हुआ करती हैं, आत्मा उनको नहीं करता।

पैसा कमाना और पैसा देना आत्मा के पुरुषार्थ का कार्य नहीं। यह तो पूर्व के पुण्योदय से प्राप्त होता है। जीव पुरुषार्थ से तो एकमात्र शांत-रस – उपशमरस प्रगट करता है। एकमात्र यही जीवका पुरुषार्थ है – धर्म है।

यहाँ रूपक अलंकार में कहते हैं कि आस्रव-योद्धा गर्व से उन्मत्त होकर कहता है कि मैंने बड़े-बड़े ग्यारह अंग के पाठी मुनियों तक को भी समरांगण में पछाड़ दिया है, परन्तु अपने स्वरूप का संचेतन करनेवाला ज्ञानरूपी योद्धा उससे भी अधिक बलवान है. वह स्वरूप का आश्रय करके आस्रवरूप योद्धा को जीत लेता है, आस्रव को नष्ट कर देता है।

अहाहा.......! अपने अनंतबल स्वरूप भगवान को जिसने जाना, वह ज्ञान पर्याय में महा बलवान योद्धा हो गया। वस्तु स्वरूप से तो सदा अनंत बलस्वरूप है ही, यहाँ तो इसने पर्याय में जो महा बलवानपना प्रगट किया उसकी बात है।

स्वरूप के आश्रय से ज्ञान ऐसा बलवान योद्धा हो गया कि वह आस्रव को जीत लेता है और अन्तर्मुहूर्त में समस्त कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है, सर्वोत्कृष्ट पद को प्राप्त कर लेता है। जो पर्याय राग में ढलती थी, उसको आत्मसन्मुख करके ज्ञानस्वरूप में मग्न करने से अन्तर्मुहूर्त में सब कर्मों का नाश कर केवलज्ञान उत्पन्न कर लेता है, ज्ञान की ऐसी सामर्थ्य है।

आत्मा का स्वभाव – शक्ति – सामर्थ्य तो सदैव सिंह के समान ही है, यहाँ तो उसे पर्याय में प्रगट करके समस्त आस्रव का नाश करके परमात्म-पद प्रगट करने की बात है।

मैं तो ज्ञाता-दृष्टा ज्ञानानन्दस्वभावी एक चिन्मात्र भगवान आत्मा हूँ, पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा कार्य भी नहीं है – ऐसा जानकर जो स्वरूप के अन्तर में निमग्न होता है – एकाग्र होता है, वह आस्रव को जीतता है तथा यही धर्म है।

समयसार गाथा १६४-१६५

तत्रास्रवस्वरूपमभिदधाति—

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु ।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१६४॥

णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति ।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१६५॥

मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च संज्ञासंज्ञास्तु ।
बहुविधभेदा जीवे तस्यैवानन्यपरिणामाः ॥१६४॥
ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मणः कारणं भवंति ।
तेषामपि भवति जीवश्च रागद्वेषादिभावकरः ॥१६५॥

अब आस्रव का स्वरूप कहते हैं :—

मिथ्यात्व अविरत अरु कषायें, योग संज्ञ असंज्ञ हैं ।
ये विविध भेद जु जीवमें, जीवके अनन्य हि भाव हैं ॥१६४॥

अरु वे हि ज्ञानावरनआदिक, कर्मके कारण बनें ।
उनका भि कारण जीव बने, जो रागद्वेषादिक करे ॥१६५॥

गाथार्थ :—[मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व, [अविरमणं] अविरमण, [कषाययोगौ च] कषाय और योग – यह आस्रव [संज्ञासंज्ञाः तु] संज्ञ (चेतन के विकार) भी हैं और असंज्ञ (पुद्गल के विकार) भी हैं । [बहुविधभेदाः] विविध भेदवाले संज्ञ आस्रव [जीवे] जो कि जीव में उत्पन्न होते हैं वे [तस्य एव] जीव के ही [अनन्यपरिणामाः] अनन्य परिणाम हैं । [ते तु] और असंज्ञ आस्रव [ज्ञानावरणाद्यस्य कर्मणः] ज्ञानावरणादि कर्म के [कारणं] कारण (निमित्त) [भवंति] होते हैं [च] और [तेषाम् अपि] उनका भी (असंज्ञ आस्रवों के भी कर्मबन्ध का निमित्त होने में) [रागद्वेषादिभावकरः जीवः] राग-द्वेषादि भाव करनेवाला जीव [भवति] कारण (निमित्त) होता है ।

रागद्वेषमोहा आस्रवाः इह हि जीवे स्वपरिणामनिमित्ताः, अजड़त्वे सति चिदाभासाः । मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः पुद्गलपरिणामाः ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मास्रवणनिमित्तत्वात्किलास्रवाः । तेषां तु तदास्रवणनिमित्तत्वनिमित्तं अज्ञानमया आत्मपरिणामा रागद्वेषमोहाः । तत आस्रवणनिमित्तत्वनिमित्तत्वात् रागद्वेषमोहा एवास्रवाः । ते चाज्ञानिन एव भवंतीति अर्थादेवापद्यते ।

टीका :—इस जीव में राग, द्वेष और मोह – यह आस्रव अपने परिणाम के कारण से होते हैं, इसलिये वे जड़ न होनेसे चिदाभास हैं (अर्थात् चैतन्य का आभास है – ऐसे हैं, चिद्विकार हैं) ।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – यह पुद्गलपरिणाम, ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म के आस्रवण के निमित्त होने से, वास्तवमें आस्रव हैं, और उनके (मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामों के) कर्म आस्रवण के निमित्तत्व के निमित्त राग-द्वेष-मोह हैं – जो कि अज्ञानमय आत्मपरिणाम हैं । इसलिये (मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामों के) आस्रवण के निमित्तत्व के निमित्तभूत होने से राग-द्वेष-मोह ही आस्रव हैं । और वे तो (रागद्वेषमोह) अज्ञानी के ही होते हैं, यह अर्थ में से ही स्पष्ट होता है । (यद्यपि गाथा में यह स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा है तथापि गाथा के ही अर्थ में से यह आशय निकलता है ।)

भावार्थ :—ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रवण का (आगमन का) निमित्तकारण तो मिथ्यात्वादिकर्म के उदयरूप पुद्गल-परिणाम हैं, इसलिये वे वास्तव में आस्रव हैं । और उनके कर्मास्रवण के निमित्तभूत होने का निमित्त जीव के राग-द्वेष-मोहरूप (अज्ञानमय) परिणाम हैं, इसलिये राग-द्वेष-मोह को चिद्विकार भी कहा जाता है । वे राग-द्वेष-मोह जीव की अज्ञानअवस्था में ही होते हैं । मिथ्यात्वसहित ज्ञान ही अज्ञान कहलाता है, इसलिये मिथ्यादृष्टि के अर्थात् अज्ञानी के ही राग-द्वेष-मोहरूप आस्रव होते हैं ।

गाथा १६४-१६५ एवं उनकी टीका पर प्रवचन

इन गाथाओं में आस्रव का स्वरूप कहा गया है । आचार्य कहते हैं कि राग-द्वेष व मोहरूप आस्रव अपने परिणामों के निमित्त से होते हैं अर्थात् अपने परिणामों के आश्रय से होते हैं, इस कारण वे जड़ नहीं हैं । यहाँ पहले यह सिद्ध किया है कि आस्रव जीव की पर्याय में होते हैं, इस कारण

वे जड़ नहीं हैं। यद्यपि वे चैतन्य के स्वरूप तो नहीं है, तथापि जीव की पर्याय में चिद्विकारपने होते हैं, इसलिए वे चिदाभास हैं।

देखो, समयसार गाथा ७२ में ऐसा कहा है कि पुण्य-पापरूपी आस्रव जड़ हैं, वे जीव के चैतन्य-स्वभावी नहीं हैं; किन्तु वहाँ चैतन्य स्वभाव की दृष्टि कराने का प्रयोजन है। तथा आस्रव स्वयं को भी नहीं जानते और पर को भी नहीं जानते; किन्तु वे जीव के द्वारा जानने में आते हैं, इसकारण आस्रवों को वहाँ (गाथा ७२ में) जड़ कहा है।

यहाँ कहते हैं कि आस्रव जड़ नहीं हैं। टीका में "अजड़त्वे सति" ऐसा स्पष्ट लिखा है, इसकारण वे (आस्रव) चैतन्य के परिणाम कहे गए हैं तथा वे चैतन्य के अस्तित्व में स्वयं से होते हैं। राग-द्वेष व मोह - तीनों ही आस्रवभाव अपने परिणाम के कारण से या आश्रय से ही होते हैं, कर्म के उदय के कारण नहीं - यह यहाँ सिद्ध किया गया है। अहा.....! राग चैतन्य की परिणति है, अतः चिदाभास है, चिद्विकार है।

प्रश्न :—एक ओर (गाथा ७२ में) तो आस्रवों को जड़, अशुचि और दुःख का कारण कहा है और दूसरी ओर (यहाँ) जीव का परिणाम कहा जा रहा है, यह कैसा विरोधाभास है?

उत्तर :—भाई! जहाँ आस्रवों को जड़, अशुचि और दुःख का कारण कहा है, वहाँ आस्रवों का कर्तापना छुड़ाकर शुद्ध चैतन्य की दृष्टि कराने का प्रयोजन है और यहाँ वे अपनी - जीव की पर्याय में होते हैं - ऐसा कहकर वे कर्म के उदय से नहीं होते, यह सिद्ध करने का प्रयोजन है।

आस्रव जीव की भूल से हुए जीव के ही विकारभाव हैं, ऐसा कहने का प्रयोजन यह है कि वे कर्मोदय के कारण नहीं हुए हैं, उनके होने में कर्मों का कोई दोष नहीं है। कर्म उनका कर्ता भी नहीं। वे जीव की भूल से हुए जीव के ही परिणाम है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि विकार कर्म के कारण होता है। देखो सिद्ध जीवों के कर्म नहीं है तो उनके विकार नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि कर्म न हो तो विकार नहीं होता, और कर्म हो तो विकार होता है।

उनका समाधान करते हुए कहा गया है कि भाई! विकार कर्म के कारण नहीं बल्कि स्वयं की भूल से अपने कारण ही होता है। प्रवचनसार

व समयसार में अनेक स्थानों पर ऐसे कथन आते हैं कि यदि कर्म के उदय मात्र से आत्मा में राग-द्वेषादि होंवे तो सदैव संसार ही रहेगा, कभी किसी का मोक्ष नहीं होगा; क्योंकि संसारी जीवों को कर्म का उदय तो सदा होता ही रहता है। प्रवचनसार की ४५वीं गाथा की जयसेनाचार्य की टीका में कहा गया है कि वास्तव में तो जब जीव स्वयं विकार के परिणाम करता है तो कर्म को निमित्त कहा जाता है, यह वस्तु का स्वरूप है।

पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में जहाँ पाँच अस्तिकाय सिद्ध किए हैं, वहाँ कहा है कि विकार अपने अस्तित्व में – अपनी पर्याय में अपने षट्कारक के परिणाम से होता है, इसे पर-कारकों की अपेक्षा नहीं है। विकार का कर्त्ता स्वयं विकार है, विकार का कर्म, करण, सम्प्रदान व अधिकरण भी स्वयं विकार है। यहाँ कोई कह सकता है कि यह तो अभिन्न षट्कारक की बात है, उससे कहते हैं कि हाँ यह बात सच है; परन्तु अभिन्न षट्कारक का अर्थ भी यही है कि पर्याय का कारण पर्याय है, अन्य कोई पर्याय का कारण नहीं है।

भाषा से तो समझाया जाता है, किन्तु जिसे यह बात अंतरंग में बैठ जाती है, उसकी बलिहारी है।

यहाँ एक तर्क यह भी दिया जाता है कि यदि विकार को कर्म के कारण हुआ नहीं माना जायगा तो विकार जीव का स्वभाव हो जायेगा।

परन्तु भाई! समयसार की ३७२वीं गाथा में राग को जीव का स्वभाव (पर्यायभाव) कहा है – "स्वभावेनैवोत्पादात्" अर्थात् स्वभाव से ही उत्पन्न होने से – ऐसा टीका में कहा गया है। मिथ्यात्व व पुण्य-पाप आदि तो पर्याय के स्वभाव हैं। वहाँ यह भी कहा है कि "जीव में रागादि भावों की उत्पत्ति परद्रव्य कराते हैं" – ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य के गुणों की उत्पत्ति नहीं होती। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के गुणों को उत्पन्न करे – ऐसी वस्तु में योग्यता ही नहीं है।

दूसरी बात – "मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योगरूप पुद्गल परिणाम ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्म के निमित्त से होने से वस्तुत: आस्रव हैं।" तात्पर्य यह है कि पुराने कर्मों का उदय नवीन कर्मों के आने में निमित्त हैं, इसकारण उनको आस्रव कहा है। असंज्ञ आस्रव तो ज़ड़ के परिणाम – जड़ के भाव हैं, वे अजीव अर्थात् पुद्गल हैं। दर्शनमोह कर्म, चारित्रमोह

कर्म, कषाय व योग का उदय जड़ का परिणाम है। भाई! जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे समझना चाहिए, अन्यथा एकान्त हो जायगा।

एक ओर समयसार गाथा ७५-७६ में ऐसा कहा है कि – ज्ञानी का आत्मा ज्ञानस्वभाव से परिणमता है, इसलिए ज्ञानी का आत्मा व्यापक व उनकी निर्मल पर्याय व्याप्य – कर्म है तथा जो कुछ विकार शेष रहा, उसमें कर्म व्यापक होकर विकार करता है अर्थात् वह विकार, कर्म का व्याप्य है। जहाँ-जहाँ ऐसा कथन हो वहाँ ज्ञान व राग को केवल भिन्न-भिन्न बतलाने की बात जानना। वस्तुतः द्रव्यस्वभाव में व उसके अनन्त गुणों में विकार कहाँ है कि जिससे विकार उसका व्याप्य बने? इसलिए ज्ञान-भाव से परिणमन करनेवाले ज्ञानी के विकार को कर्म का व्याप्य कहा है।

यहाँ पहले तो "विकार चैतन्य की पर्याय में होता है" यह सिद्ध किया है, पश्चात् उस विकार से भेदज्ञान कराकर उसे स्वभाव से पृथक् कर दिया है। राग-द्वेष व मोह आत्मद्रव्य की पर्याय के अस्तित्व में ही हैं और वे अपने से ही हैं; परके या कर्म के कारण नहीं – ऐसा सिद्ध करके पश्चात् उसे भी भिन्न बताकर जुदा कर दिया जाता है।

अहा..........! एक ओर तो राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवों को चैतन्य के परिणाम सिद्ध करके चिदाभास कहा है और दूसरी ओर दर्शनमोह – मिथ्यात्व, चारित्रमोह – अविरति, कषाय और योग – इन जड़ के परिणामों को वस्तुतः आस्रव कहा है, क्योंकि पुराने (पूर्व के) जड़कर्म का उदय नवीन कर्मबन्ध में निमित्त है, किन्तु जब जीव स्वयं राग-द्वेष-मोह के परिणाम करता है, तब पूर्वकर्म का उदय नवीन कर्मों के आस्रव का निमित्त होता है।

पुराने जड़कर्म के उदय को वास्तव में आस्रव इस कारण कहा है कि नवीन पुद्गल कर्म के बन्धन में पुराना पुद्गल कर्म निमित्त होता है, जीव का स्वभाव नहीं।

अब कहते हैं कि – व्रत-भक्ति आदि रागभाव तथा क्रोध-मान आदि द्वेषभावरूप आस्रवभाव जीव के परिणाम हैं। जीव के ये परिणाम जीव के कारण जीव में ही होते हैं, कर्म के कारण नहीं। यह संज्ञ (चेतन) आस्रव जब स्वयं प्रगट होता है, उससमय जो पूर्वकर्म का उदय होता है वह निमित्त कहलाता है। उसी निमित्तता के कारण वे पूर्व में बंधे मिथ्यात्वादि पुद्गल परिणाम आस्रव कहे जाते हैं। भाई! यथार्थ बात तो यही है,

परन्तु साधारण मनुष्यों को शास्त्रों का अध्ययन-मनन-चिन्तन तो है नहीं, इसकारण स्वयं तो कुछ निर्णय कर नहीं सकते। बस कोई जो कुछ कह दे उसी को "जयनारायण" कहकर स्वीकार कर लेते हैं। ऐसे लोगों का कल्याण नहीं हो सकता।

यहाँ आस्रव के दो भेद करते हुए एक को संज्ञ व दूसरे को असंज्ञ आस्रव नाम दिया है। संज्ञ अर्थात् चेतनाभासरूप जीव का परिणाम एवं असंज्ञ अर्थात् जड़-पुद्गल का परिणाम। राग-द्वेष-मोह, स्पर्श-रस-गंध-वर्ण से रहित चेतन के आभासरूप परिणाम हैं तथा दर्शनमोह, चारित्र-मोह योग व कषाय का उदय अजीव पुद्गल का परिणाम हैं। वे मिथ्यात्वादि पुद्गल के परिणाम जीव के राग-द्वेषादि के होनेपर नवीन आवरण के निमित्त होते हैं।

आजकल तो इन मूल सिद्धान्तों के विषय में भी लोग नानाप्रकार के प्रश्न उठाते हैं। कोई कहता है कि कर्म से विकार होता है, तो कोई कहता है कि शुभ रागरूप व्यवहार से निश्चय होता है, कोई कहता है कि क्रमबद्ध (परिणमन पर्याय) कोई वस्तु ही नहीं है आदि। उन लोगों को ऐसा लगता है कि ये नवीन-नवीन बातें पैदा की जा रही हैं। परन्तु भाई! ये नई बातें नहीं हैं, यह तो वस्तु का स्वरूप है, अनन्त तीर्थंकरों की कही हुई अनादिनिधन बातें हैं। प्रवचनसार गाथा ९९ में कहा है कि प्रत्येक परिणाम स्वकाल में अपने अवसर पर प्रगट होता है। भाई! निश्चय से विकार का कर्त्ता जीव है, उसमें पर-कारकों की अपेक्षा नहीं है। इन सबका निर्णय करने के लिए उल्हास होना चाहिए।

अहो! भगवान आत्मा अमृत का सागर है। पुण्य-पाप का भाव द्रव्य-गुण में नहीं है। द्रव्य अर्थात् शक्तिवान अखण्ड वस्तु और गुण अर्थात् शक्ति। अहाहा..........! अन्तर में विराजमान भगवान आत्मा स्वयं सुख के रस के स्वाद से भरा अनन्त गुणों का भण्डार है। ऐसा अमृत का नाथ भगवान मृतक कलेवर में मूर्छित हो रहा है। अरे भाई! जरा सुन तो सही, यह देह तो परमाणुओं की बनी वस्तु है। यही परमाणु जब बिच्छु के डंक या सर्प के जहर के रूप में थे तब तुझे अच्छे नहीं लगते थे, जब वही परमाणु तेरे शरीररूप परिणमित हो गए तो तुझे अच्छे लगने लगे हैं। ये मेरे हैं, मैं इनसे रमण करूँ, विषय सेवन करूँ – इत्यादि नानाप्रकार के एकत्व-ममत्वरूप परिणाम होने लगे हैं। इनमें तेरीइष्टबुद्धि हो गई

है, इनमें मूर्छित हो गया है। आचार्य कहते हैं कि भाई! तुझे यह क्या हो गया है? तुझे यह मिथ्यात्व रोग कहाँ से लग गया है? लगा कहीं से नहीं है, इसे तो तूने ही अपने अज्ञान से उत्पन्न कर लिया है। यह तेरा ही अपराध है, किसी कर्म के कारण हुआ हो – ऐसा नहीं है।

यहाँ मुख्यतया तीन बातें कहीं है—

१. जीव अपने राग-द्वेप-मोह के परिणाम स्वयं अपने कारण से उत्पन्न करता है, वे किसी कर्म के कारण नहीं होते।

२. उस काल में मिथ्यात्वादि अजीव पुद्गल कर्म जो उदय रूप से परिणमते हैं, वे भी उनकी अपनी योग्यता से परिणमते हैं, अन्य किसी कारण से नहीं।

३. तथा उस मिथ्यात्वादि अजीव पुद्गल के परिणाम को आस्रव कहने का कारण बताते हुए कहते हैं कि वे नवीन कर्मों के आने में निमित्त होते हैं, अतः निमित्त की अपेक्षा उन जड़कर्म को भी व्यवहार से आस्रव कहा जाता है।

यहाँ वस्तु की स्वतंत्रता का सूचक सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए आचार्य कहते हैं कि जीव ने स्वयं अपनी भूल से दुःख उत्पन्न कर रखा है, पैसे के कारण या कर्म के कारण दु.ख हुआ हो – ऐसा नहीं है।

कर्म आस्रवण के निमित्तपने का निमित्त राग-द्वेप-मोह है, अज्ञानमय आत्मपरिणाम है। जीव को जो राग-द्वेष-मोह का परिणाम होता है, वह पर के कारण नहीं होता, वल्कि अपनी स्वयं की भूल से या अज्ञानभाव से अपने कारण होता है अर्थात् वह अपने कारण से हुआ अज्ञानमय आत्मपरिणाम है। अहा! मिथ्यात्व व शुभाशुभ भाव, पुण्य-पाप के भाव – सभी अज्ञानमय आत्मपरिणाम हैं। परद्रव्य का इनसे कोई सम्वन्ध नहीं है। परद्रव्य परद्रव्य में है और आत्मा स्वयं अपने विकार में या अविकारी स्वभाव में रमता है। उसका पर के साथ कुछ भी सम्वन्ध नहीं है। गाथा ७६ में तो ऐसा कहा है कि – पाँच इन्द्रियों के विषय आत्मा में राग-द्वेष उत्पन्न करने में असमर्थ हैं – अकिञ्चित्कर हैं। जिसतरह कर्म राग-द्वेष कराने में असमर्थ हैं उसी तरह नोकर्म भी राग-द्वेप कराने में अकिंचित्कर हैं।

जिस परिमाण में कर्म का उदय आता है, उसी परिमाण में रागादि के परिणाम करने ही पड़ते हैं अर्थात् जब कर्म निमित्तरूप से उदय में आते

हैं तब तदनुसार जीव को विकार करना ही पड़ता है – यह बात यथार्थ नहीं है। यद्यपि गोम्मटसार आदि शास्त्रों में व्यवहार से किए गए अनेक प्रकार के ऐसे कथन आते हैं कि – कर्म का जोर है, इस कारण निगोदिया जीव निगोद नहीं छोड़ पाता आदि; किन्तु ये सब निमित्त की मुख्यता से किए गए निमित्त का ज्ञान करानेवाले कथन हैं।

पहले यह कहा था कि आस्रव अपने परिणाम के निमित्त से अर्थात् आत्मा के परिणाम के आश्रय से होने के कारण वे जड़ नहीं हैं, किन्तु चिदाभास हैं। तथा उसी के पीछे अज्ञानमय आत्मपरिणाम कहा है। राग-द्वेष व मोह के परिणाम अज्ञानमय आत्मपरिणाम हैं – ऐसा कहा। अब कहते हैं कि वे मिथ्यात्वादि पुद्गल परिणामों के आस्रवण के निमित्त-पने के निमित्तभूत होने से राग-द्वेष-मोह ही आस्रव हैं। देखो, पहले पूर्वबद्ध कर्म को वास्तविक आस्रव कहा था और अब यहाँ चेतन के राग द्वेष-मोह को वास्तविक आस्रव कहा है। पाठ में – (टीका में) "एव" शब्द पड़ा है।

भाई ! अपना अभिप्राय छोड़कर आचार्य भगवान का क्या अभि-प्राय है ? वे क्या कहना चाहते हैं ? यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि शान्ति से, धीरज से जिज्ञासु होकर स्वाध्याय नहीं करेगा तो यथार्थ बात समझ में कैसे आवेगी ?

अहा ! भगवान ! तू तो अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है, किन्तु तुझे अपने इस वैभव की खबर नहीं है, इसकारण उसका भरोसा नहीं होता।

प्रश्न :—"आत्मा अनन्त गुणों की खान एवं अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है" – इसका विश्वास कैसे आ सकता है ?

उत्तर :—अरे भाई ! तूने जिसके साथ लग्न (शादी) की है, उस कन्या को तू पहले जानता-पहचानता था क्या ? बिलकुल अनजान होते हुए भी क्या तुझे कभी ऐसी आशंका भी हुई है कि यह मेरा अहित करेगी तो ? मुझे मार डालेगी तो……? भगवान ! तुझे विषय भोगों में रुचि है, इस-कारण वहाँ ऐसी आशंका नहीं होती और उसपर पक्का विश्वास हो जाता है कि यह मेरा कभी भी अहित नहीं कर सकती। उसके साथ निशंक होकर रहता है और रमता है। अन्य कोई शंका की बात करे तो भी शंका नहीं होती, बल्कि शंका खड़ी करनेवाले पर रोष आता है। उसीप्रकार

जिसे आत्मा की रुचि हो गई है, उसे भगवान आत्मा का ऐसा विश्वास आ जाता है कि फिर कभी भी वह विश्वास टूटता नहीं है। जिस प्रकार अनजान कन्या को प्रथमवार देखकर ही विश्वास हो गया, शंका नहीं हुई, उसीतरह प्रथम भेंट में ही जब चिद्ज्ञान को चिदानन्द भगवान का परिचय हुआ, उसी समय तत्काल अतीन्द्रिय आनन्द की लहर के साथ उसका विश्वास पक्का हो जाता है, किसी तरह की कोई आशंका नहीं रहती। ज्यों ही पूर्णानन्द के नाथ को अन्तर्मुख होकर देखा और उससे भेंट की, उसी क्षण उसका पक्का विश्वास हो जाता है और अतीन्द्रिय आनन्द का रसास्वाद आ जाता है। भाई ! ऐसा अतीन्द्रिय आनन्द ही वास्तविक आनन्द है, शेष तो सब बातें ही बातें हैं। ऐसा आनन्द केवल सम्यग्ज्ञानियों को ही आता है।

यहाँ यह सिद्ध करना है कि मिथ्यात्व सम्बन्धी राग-द्वेष-मोह ज्ञानी को नहीं होता। मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी राग-द्वेष व मोह तो अज्ञानी को ही होता है, इसलिए अज्ञानी को ही आस्रव होता है। यह बात यद्यपि मूल गाथा में स्पष्ट नहीं है; किन्तु कुन्दकुन्द के टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र स्पष्ट कहते हैं कि गाथा के अर्थ में से ही यह बात सिद्ध होती है कि — अज्ञानी के ही राग-द्वेष-मोह होते हैं, क्योंकि जहाँ मिथ्यात्वभाव है, वहीं राग-द्वेष के परिणामों की रुचि होती है।

ज्ञानी के किंचित् रागादिभाव होते हुए भी उसको उनकी रुचि नहीं होती इसकारण ज्ञानी के राग-द्वेष नहीं हैं — ऐसा दृष्टि की अपेक्षा से कहा जाता है।

यहाँ तो यही सिद्ध करना है कि जिसकी विपरीत दृष्टि है, उसे ही राग-द्वेष-मोह है। सम्यग्दृष्टि को जो चारित्रमोह सम्बन्धी रागांश है, उसे गिना नहीं जाता, क्योंकि यहाँ दृष्टि (श्रद्धा — रुचि) की मुख्यता है, अतः राग का अस्तित्व होने पर भी दृष्टि उसे स्वीकार नहीं करती।

आगे १७१वीं गाथा में कहेंगे कि जहाँतक यथाख्यात चारित्र नहीं है, वहाँतक ज्ञान-दर्शन व चारित्र का परिणमन जघन्य है, इसकारण उसे राग-द्वेष है और उससे उसे किंचित् बन्ध भी है।

भाई ! किस अपेक्षा कहाँ क्या कहा है, इसे अच्छीतरह समझना पड़ेगा। अपना व्यक्तिगत हठाग्रह नहीं चलेगा। अपना हठाग्रह छोड़ना पड़ेगा। जैसा मैं मानता हूँ वैसा ही शास्त्र में होना चाहिए — ऐसा हठाग्रह

नहीं चलेगा; बल्कि शास्त्र जो कहते हैं, वही अभिप्राय उसमें से निकालना चाहिए।

गाथा १६४-१६५ के भावार्थ पर प्रवचन

नवीन ज्ञानावरणादि कर्म के आस्रवण का निमित्त पूर्वबद्ध कर्म का उदय है, इसलिए वे मिथ्यात्वादि पूर्वबद्ध कर्म वास्तविक आस्रव हैं तथा उन कर्म आस्रवण के निमित्तभूत होने में निमित्त जीव के राग-द्वेष-मोहरूप (अज्ञानमय) परिणाम है, इसलिए राग-द्वेष-मोह भी आस्रव हैं। उन राग-द्वेष-मोह को चिद्विकार भी कहते हैं। वे राग-द्वेष-मोह जीव की अज्ञान अवस्था में ही होते हैं। मिथ्यात्व सहित ज्ञान ही अज्ञान कहलाता है, इसलिए अज्ञानी को ही राग-द्वेष-मोहरूप आस्रव होता है।

भाई ! ऐसी बात सुनने-समझने को कहाँ मिलती है ? तुझे ऐसा सुन्दर अवसर मिला है, ऐसा मनुष्यपना, भगवान जिनेन्द्रदेव का सम्प्रदाय मिला, इसमें भी वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं किया तो कब करेगा ? इसमें यह देखने की जरूरत नहीं है कि कितने लोग इस बात को मानते हैं। सत्य को स्वीकार करनेवाले दुनिया में बहुत कम ही होते हैं। यह बात "सत्य है या नहीं" बस इतना ही जानना पर्याप्त है। कहा भी है—

"बिरले ध्यावें तत्त्व को, बिरले धारें कोय"

अज्ञानी को ही राग-द्वेष-मोहरूपी आस्रव होता है – यह कहकर इस गाथा में ज्ञानी को आस्रव का अभाव दर्शाया है। ज्ञानी को राग से भिन्न शुद्ध चैतन्य द्रव्य का ज्ञान-श्रद्धान है न ? अहा ! द्रव्य व गुण तो त्रिकाल शुद्ध ही हैं तथा इस शुद्ध का जिसे अन्तर में अनुभव हुआ, उस ज्ञानी को शुद्ध का परिणमन होने से भाव-आस्रव का अभाव है। मिथ्यात्व सम्बन्धी राग-द्वेष-मोह का ज्ञानी के अभाव है, इसकारण ज्ञानी को आस्रव-बन्ध नहीं है – ऐसा यहाँ कहा है।

समयसार गाथा १६६

अथ ज्ञानिनस्तदभावं दर्शयति—

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो ।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ॥१६६॥

नास्ति त्वास्रवबन्धः सम्यग्दृष्टेरास्रवनिरोधः ।
संति पूर्वनिबद्धानि जानाति स तान्यबध्नन् ॥१६६॥

यतो हि ज्ञानिनो ज्ञानमयैर्भावैरज्ञानमया भावाः परस्परविरोधिनोऽवश्यमेव निरुध्यंते, ततोऽज्ञानमयानां भावनां रागद्वेषमोहानां आस्रवभूतानां निरोधात् ज्ञानिनो भवत्येव आस्रवनिरोधः । अतो ज्ञानी नास्रव-

---

अब यह बतलाते हैं कि ज्ञानी के उन आस्रव का (भावस्रवों का) अभाव है :—

सद्दृष्टिको आस्रव नहीं, नहिं बन्ध, आस्रवरोध है ।
नहिं बाँधता जाने हि पूर्वनिबद्ध जो सत्ताविषैं ॥१६६॥

गाथार्थ :— [सम्यग्दृष्टेः तु] सम्यग्दृष्टि के [आस्रवबन्ध] आस्रव जिसका निमित्त है ऐसा बन्ध [नास्ति] नहीं है, [आस्रवनिरोधः] (क्योंकि) आस्रव का (भावास्रव का) निरोध है; [तानि] नवीन कर्मों को [अबध्नन्] नहीं बाँधता हुआ [सः] वह, [संति] सत्ता में रहे हुए [पूर्वनिबद्धानि] पूर्वबद्ध कर्मों को [जानाति] जानता ही है ।

टीका :—वास्तव में ज्ञानी के ज्ञानमय भावों से अज्ञानमय भाव अवश्य ही विरुद्ध – अभावरूप होते हैं, क्योंकि परस्पर विरोधी भाव एकसाथ नहीं रह सकते; इसलिये अज्ञानमय भावरूप राग-द्वेष-मोह जो कि आस्रवभूत (आस्रवस्वरूप) हैं। उनका निरोध होने से, ज्ञानी के आस्रव का निरोध होता ही है। इसलिये ज्ञानी, आस्रव जिनका निमित्त है ऐसे (ज्ञानावरणादि) पुद्गलकर्मो को नहीं बाँधता, सदा अकर्तृत्व होनेसे नवीन कर्मों को न बाँधता हुआ सत्ता में रहे हुए पूर्वबद्ध कर्मो को, स्वयं ज्ञान-

निमित्तानि पुद्गलकर्माणि बध्नाति, नित्यमेवाकर्तृकत्वान्नवानि न बध्नन् सदवस्थानि पूर्वबद्धानि ज्ञानस्वभावत्वात्केवलमेव जानाति ।

स्वभाववान् होने से, मात्र जानता ही है । (ज्ञानी का ज्ञान ही स्वभाव है, कर्तृत्व नहीं; यदि कर्तृत्व हो तो कर्मको बाँधे, ज्ञातृत्व होनेसे कर्म बन्ध नहीं करता ।)

भावार्थ :—ज्ञानी के अज्ञानमय भाव नहीं होते और अज्ञानमय भाव न होनेसे (अज्ञानमय) राग-द्वेष-मोह अर्थात् आस्रव नहीं होते और आस्रव न होनेसे नवीन बन्ध नहीं होता । इसप्रकार ज्ञानी सदा ही अकर्ता होनेसे नवीन कर्म नहीं बाँधता और जो पूर्ववद्ध कर्म सत्ता में विद्यमान हैं, उनका मात्र ज्ञाता ही रहता है ।

अविरतसम्यग्दृष्टि के भी अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह नहीं होता । जो मिथ्यात्व सहित रागादि होता है, वही अज्ञान के पक्ष में माना जाता है, सम्यक्त्व सहित रागादिक अज्ञान के पक्ष में नहीं है । सम्यग्दृष्टि के सदा ज्ञानमय परिणमन ही होता है । **उसको चारित्रमोह के उदय की बलवत्तासे जो रागदि होता है, उसका स्वामित्व उसके नहीं है; वह रागादि को रोग समान जानकर प्रवर्तता है** और अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें काटता जाता है । इसलिये ज्ञानी के जो रागादि होता है वह विद्यमान होने पर भी अविद्यमान जैसा ही है । वह **आगामी सामान्य संसार का बन्ध नहीं करता, मात्र अल्प स्थिति-नुभागवाला बन्ध** करता है । ऐसे अल्प बन्ध को यहाँ नहीं गिना है ।

गाथा १६६ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

जिसको शुद्ध चैतन्यमय ध्रुव आनन्दकन्द स्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि हुई है, जिसको पूर्णानन्द का नाथ प्रभु ज्ञान में ज्ञात हो गया है, जिसकी पर्याय में निर्विकल्प आत्मा का अनुभव हो गया है और अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन आ गया है, उसे धर्मी अथवा ज्ञानी कहते हैं । ऐसे ज्ञानी को ज्ञानमय अर्थात् आत्मामय शुद्ध-चैतन्यमय परिणाम होते हैं । उसके ज्ञानमय – चैतन्यमय भावों द्वारा अज्ञानमय भाव अवश्य ही रुक जाते हैं । मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी राग-द्वेषरूप अज्ञानमय भावों का ज्ञानमय भावों द्वारा अवश्य ही निरोध हो जाता है ।

आस्रव का निरोध संवर है और व्रतादि धारण करने से संवर होता है – ऐसा संवर का स्वरूप जानकर कोई बाहर से व्रत आदि लेकर अपने को संवरस्वरूप मानले, तो यह उसका भ्रम ही है, क्योंकि सवर का स्वरूप

ऐसा नहीं है। संवर तो सम्यग्दर्शनपूर्वक अप्रत्याख्यान कषाय के अभाव में सहज व्रतादि के धारणपूर्वक होता है।

प्रश्न :—किन्तु ऐसा करने से अभ्यास तो होगा न?

उत्तर :- भाई! राग के विकल्प से भिन्न शुद्ध चैतन्य की अनुभूति-स्वरूप प्रज्ञा (भेदज्ञान) द्वारा अभ्यास करे तभी यथार्थ अभ्यास होता है। आत्मा शुद्ध चैतन्यघन प्रभु केवल पवित्रता का पिण्ड है, वही अपना "स्व" है। वहाँ पर की ओर के – राग की ओर के झुकाव से मुक्त होकर "स्व" की ओर के झुकाव का अभ्यास करे तो आत्मा जानने में आता है। व्यवहार के – राग के साधन से भगवान आत्मा नहीं जाना जा सकता।

प्रवचनसार गाथा १७२ के छठवें बोल में कहा है कि "जिसका लिंग द्वारा नहीं, बल्कि स्वभाव द्वारा ग्रहण होता है, वह अलिंगग्रहण स्वरूप भगवान आत्मा है। इसप्रकार आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है, इस अर्थ की प्राप्ति होती है। अहाहा……! भगवान आत्मा अपने स्वभाव से ज्ञात हो; शुद्ध चैतन्य के प्रकाश से – परिणाम से ज्ञात हो – ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। वह दया, दान, व्रत आदि के विकल्प से ज्ञात होनेवाली वस्तु नहीं है। मति-श्रुतज्ञान की निर्मल पर्याय में आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, उसे पर की अपेक्षा नहीं है। प्रत्यक्ष का अर्थ प्रदेश से प्रत्यक्ष होने की बात नहीं है, किन्तु अनुभवप्रत्यक्ष स्व-संवेदनप्रत्यक्ष की बात है।

आत्मा राग का वेदन तो अनादि से कर रहा है। इस जीव नग्न दिगम्बर साधु होकर पाँच महाव्रत और २८ मूलगुण पालते हुए भी राग का ही वेदन किया। भले ही वह इसके परिणाम स्वरूप नवग्रैवेयक तक गया किन्तु है तो राग का ही वेदन न? और आत्मा तो इस राग के वेदन से भिन्न अन्तर में परिपूर्ण सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान है। जो इस सच्चिदा-नन्दस्वरूप अपने भगवान आत्मा का अनुभव करता है एवं अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का वेदन करता है, वह ज्ञानी है, धर्मात्मा है।

यद्यपि बाह्य क्रियाकाण्ड के पक्षवालों को यह बात बुरी लगती है, परन्तु भाई! चरणानुयोग में कहे गए बाह्य व्रत, तप आदि क्रियारूप आचरण करने मात्र से कोई साधक नहीं हो जाता। चरणानुयोग में तो इसका ज्ञान कराया है कि ज्ञानी साधक जीवों के जीवन में अपनी-अपनी भूमिकानुसार बाह्य व्रतादि कैसे होते हैं, तथा ज्ञानी उन बाह्य व्रतादि का

आचरण करता है – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है, किन्तु निश्चय से तो बाह्य आचरण चारित्र ही नहीं है।

प्रश्न :—जिससे वस्तुस्वरूप की प्राप्ति हो ऐसा कोई उपाय बताइये न ?

उत्तर :—भाई ! अपनी श्रद्धा व ज्ञान की पर्याय द्वारा पूर्णानन्द-स्वरूप निज भगवान आत्मा को स्वीकार कर लेना ही आत्मा की प्राप्ति की यथार्थ विधि है। श्री जयसेनाचार्य की टीका मे आया है कि – जिस-तरह अग्नि में पाचक, प्रकाशक व दाहक तीन गुण हैं, उसीतरह आत्मा में पाचक, प्रकाशक व दाहक गुण हैं। आत्मा में सम्यग्दर्शनरूप पाचक शक्ति है, इससे आत्मा में पूर्णानन्द का पाचन होता है। यद्यपि वर्तमान में अल्पज्ञ दशा है तथापि सम्यग्दर्शन भगवान आत्मा को परिपूर्णतया प्रतीति में ग्रहण कर लेता है। वह आत्मा को पूरी तरह पचा लेता है। अहाहा...... ! अनन्त गुणों से सदा शोभायमान अन्तर में चैतन्य हीरा प्रकाशित हो रहा है। उसकी अनंत गुणों की अनंत पर्यायें प्रतिसमय प्रगट होती हैं। सम्यक्-ज्ञान की पर्याय में प्रकाशक शक्ति है और सम्यक्चारित्र की पर्याय में रागादि को दहन करने की – जलाने की दाहक शक्ति है। इसप्रकार पाचक, प्रकाशक व दाहक शक्ति जिसमें प्रगट हुई है, वह ज्ञानी है।

परमात्मप्रकाश में आया है कि व्रत के विकल्प से छूटकर अनन्त आनन्द के नाथ आत्मा में स्थिर हो जाने को, जम जाने को, लीन हो जाने को व्रत या चारित्र कहते हैं। पाँच महाव्रत के परिणाम को तो उपचार से चारित्र कहा जाता है।

अहा ! प्रभु ! तूने पर के विकल्पों का एवं पर की ओर की रुचि का सेवन तो अनन्त काल से किया है। तुझे यदि जन्म-मरण रहित होना हो तो यह एक ही उपाय है कि अन्तर सन्मुख होकर सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की प्रतीति जिसका लक्षण है – ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट करले। सम्यग्दर्शन की ऐसी दशा में अनाकुल आनन्द का स्वाद आता है, जिसे ऐसी दशा प्रगट होती है वह ज्ञानी है। यह "ज्ञानी" शब्द की व्याख्या है।

बहुत शास्त्र पढ़ने से अथवा सरस व्याख्यान देकर शास्त्र समझाने से कोई ज्ञानी नाम नहीं पा सकता; क्योंकि समझाने वाली भाषा तो जड़ है, पुद्गल की है और समझाने की ओर जो झुकाव है, वह राग है। पढ़ने व पढ़ाने का झुकाव – सब राग के विकल्प हैं, इनमें भगवान आत्मा कहाँ है ?

भगवान आत्मा तो स्वरूप-संवेदनसहित राग से भिन्न आत्मा की अनुभूति से ज्ञात होता है। स्वरूप-संवेदन की ऐसी अनुभूति जिसे हुई, वह ज्ञानी है।

भाई राग के पक्ष में रहकर चौरासी के अवतार कर करके तू अवतक यों ही दुःख भोगता रहा है। क्षणभर में कभी भी यह देह छूट जावेगी, तुझे पता भी नहीं चलेगा। ऐसे-ऐसे अनन्त जन्म-मरण तू कर चुका है। अनेक वार तेरी असाध्य दशा हुई है, किन्तु यह असाध्य दशा तो वाह्य शारीरिक रोगों की अपेक्षा है, वास्तविक असाध्यता तो यह है कि तूने अवतक अन्तर में राग से भिन्न आत्मा को नहीं जाना, स्वरूप का साध्यपना प्रगट नहीं किया, यही आत्मा की महा असाध्य दशा है, समय रहते इसका उपाय कर लेना चाहिए।

यहाँ कोई कह सकता है कि जव काललब्धि प्रगट होगी, तभी साध्यपना प्रगट होगा न ?

उससे कहते हैं कि भाई ! तू शास्त्र में से काललब्धि की परिभाषा (स्वरूप) को पढ़कर, काललब्धि का सही स्वरूप जाने विना ही कोरी वातें वनाता है। वस्तुतः काललब्धि का क्या अर्थ है, तुझे इसकी खवर नहीं है। इसतरह शास्त्र से परिभाषायें सीख लेने से साध्य की सिद्धि नहीं होगी। जव अन्तर आत्मा में एकाग्र होकर निज स्वभाव का भान करे, तव काललब्धि का सच्चा ज्ञान होता है। संवत् १९७२ की साल में यह प्रश्न वहुत चर्चित हुआ था कि – "जैसा केवली ने देखा होगा वही होगा।" तव मैंने (कानजी स्वामी ने) कहा था कि जिसकी पर्याय में दिव्य केवलज्ञान प्रगट हुआ है, जिसमें अनन्त लोकालोक प्रगट प्रतिविम्बित हुआ है, क्या तुझे अन्तर्मन से उस केवली की सत्ता स्वीकृत हो गई है ? जिसे केवलज्ञान की सत्ता स्वीकार हो जाती है, वह केवली के अथवा पर्याय के सन्मुख नहीं रह सकता। इसकी सत्ता की स्वीकृति तो निज चैतन्यस्वभाव के अर्थात् निज सर्वज्ञस्वभाव के सन्मुख होने पर ही होती है और तभी काललब्धि भी पक जाती है।

श्रीमद्‌राजचन्द्रजी ने कहा है –

> "जो इच्छो परमार्थ तो, करो सत्य पुरुषार्थ।
> भवस्थिति आदि नाम ले, छेदो नहिं पुरुषार्थ।।"

अर्थात् "जैसा भगवान ने देखा होगा वैसा होगा" – इसप्रकार काललब्धि एवं भवस्थिति का नाम लेकर तू स्वभाव सन्मुखता के पुरुषार्थ

को मत छेद ! बल्कि ऐसा विचार करके जगत से निर्भार होकर भगवान आत्मा के यथार्थ श्रद्धान का पुरुषार्थ जागृत कर ।

संसार में धन कमाने के लिए जब मारा-मारा फिरता है, तब तो काललब्धि, होनहार व क्रमबद्ध को याद नहीं करता । वहाँ काललब्धि का सहारा क्यों नहीं लेता ? भोजन के काल में ऐसा विचार करके कभी दो घड़ी भी शान्ति से बैठा रह सका है ? वहाँ तो दस मिनट की देर भी बरदाश्त नहीं है; जबकि भोजन तो निश्चितरूप से अपने स्वकाल में ही प्राप्त होता है, जीव के प्रयत्न से नहीं । तथा आत्मा की उपलब्धि के लिए स्वभाव सन्मुखता का पुरुषार्थ आवश्यक है, क्योंकि वह स्व-सन्मुखता के पुरुषार्थपूर्वक ही उपलब्ध होती है । उसके लिए क्रमबद्ध व काललब्धि को याद करना कहाँ तक उचित है ? इसतरह प्रमाद से आत्मोपलब्धि नहीं होगी । इसके लिए अन्तर में पुरुषार्थ जागृत करके आत्मानुभव प्रगट करना पड़ेगा, निज भगवान की आराधना करनी पड़ेगी । राग का व विकार का नाश करने के लिए अखण्ड चैतन्य प्रभु की दृष्टि करके अखण्ड रूप से अन्तर में रमणता का पुरुषार्थ करना पड़ेगा । यहाँ कहते हैं कि – ऐसा अन्तर पुरुषार्थ जिसने प्रगट किया, वह ज्ञानी है ।

अहाहा···· ····! मैं स्वयं शुद्ध चैतन्यघन प्रभु हूँ – ऐसी जिसे प्रतीति हुई है – श्रद्धा हुई है, उस ज्ञानी के सभी भाव "ज्ञानमय" होते हैं, उसे मिथ्यात्वमय रागभाव नहीं होता । उसके ज्ञानमय भावों से मिथ्यात्व सम्बन्धी राग-द्वेष एव अज्ञानमय भाव अवश्य ही रुक जाते हैं । देखो, ज्ञानी के "ज्ञानमय" भाव हैं – ऐसा कहा, "ज्ञानवाला" नहीं कहा । ज्ञान-मय" कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप चैतन्यबिम्ब प्रभु है, जो अन्तर में त्रिकाल विद्यमान रहता है, उस अभेद की ओर झुकाववाले भाव को "ज्ञानमय" कहकर अभिव्यक्त किया है – ऐसे "ज्ञानमय" भावों से अज्ञानमय भाव अवश्य ही रुक जाते हैं, अभावरूप हो जाते हैं ।

भाई ! यह तो अध्यात्म की गंभीर बात है, कोई कथा-वार्ता नहीं है । बहुत शान्ति व धीरज से उपयोग को सूक्ष्म करके सावधानी से सुनना चाहिए ।

कहते हैं कि जब आत्मा पर की ओर का झुकाव छोड़कर अन्तर में स्व की ओर झुकता है, तब उसके ज्ञानमय भाव होता है तथा अज्ञानमय-

भाव अर्थात् मिथ्यात्व-राग-द्वेषादि भाव रुक जाते हैं, क्योंकि परस्पर विरुद्धभाव एकसाथ नहीं रह सकते। अस्थिरता संबंधी भावों की यहाँ बात नहीं है, वे तो चारित्रगुण की पूर्णता के अभाव में होते हैं। यहाँ तो यह कहा है कि – ज्ञानमय भावों के साथ मिथ्याभावों का एवं मिथ्यात्वमय भावों के साथ ज्ञानमयभावों का परस्पर विरोध है। मिथ्यात्व व मिथ्यात्वसम्बन्धी राग-द्वेष के भाव सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के भावों में नहीं रह सकते। दोनों ही परस्पर – एक-दूसरे के विरोधी है। ज्ञानमय भाव में अज्ञान भाव का त्रिकाल अभाव है।

अब कहते हैं कि – ज्ञानी के मिथ्यात्व व मिथ्यात्वसम्बन्धी राग-द्वेषरूप आस्रवों का निरोध होता है। भगवानआत्मा को प्रगट करने के लिए अन्तर का पुरुषार्थ चाहिए। कोरी बड़ी-बड़ी बातें करने से कोई बड़ा नहीं बन जाता। अन्तर में ज्ञायक स्वभाव के प्रति पुरुषार्थवाले धर्ममयभाव से अधर्ममय भाव उत्पन्न नहीं होता, इसलिए ज्ञानी के अधर्म का – आस्रव का निरोध है।

अरे! अज्ञानी को ऐसा माहात्म्य नहीं आता कि "मैं स्वयं चैतन्यमूर्ति भगवान हूँ" उसने अनादि से पर में एवं एकसमय की पर्याय में एकत्व किया है, वह उसमें ही रमा है – जमा है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा एव काम-क्रोध व इन्द्रियो के विषयों में तथा लौकिक क्षयोपशम ज्ञान में ही अनादि से रम रहा है; किन्तु भगवन्! तेरे चैतन्यतत्त्व के समक्ष इस तुच्छ क्षयोपशम ज्ञान की क्या कीमत है? कुछ भी नहीं है, अतः तू अन्तरस्वभाव में जा और ध्रुवचैतन्यतत्त्व को ग्रहण कर! इससे ही तेरे मिथ्यात्वादिभावों का अभाव होगा, निराकुल आनन्द होगा।

ज्ञानी के आस्रवों का निरोध होता है, इसलिए जिसमें आस्रव निमित्त होता है, ऐसे ज्ञानावरणादिकर्मो को वह नहीं बाँधता। उसके सदैव अकर्त्तापना होने से वह नवीन कर्मों को नहीं बाँधता एवं पूर्वबद्ध कर्मों को भी केवल जानता ही है। देखो, ज्ञानी को आस्रव नहीं है, अतः उसके नवीन (ज्ञानावरणादि) कर्म नहीं बँधते। वास्तव में तो उस काल में कार्माणवर्गणा के परमाणुओं में बँधने का योग ही नहीं होता, परन्तु यदि कथन करना होगा तो इसी रीति से कहा जायगा। समझने-समझाने का एवं कथन करने का इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है। वस्तु के स्वरूप की ओर से देखा जाय तो ज्ञानी तो स्वयं ज्ञानस्वभावी होकर सत्ता

में रहे पूर्वबद्ध कर्मों का केवल ज्ञाता-दृष्टा ही है। सम्पूर्ण दुनिया जिसके ज्ञान में ज्ञात हो – ऐसा भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। ज्ञाता स्वभाव की सन्मुखता में ज्ञानीजीव केवल ज्ञाता ही है, कर्म का कर्त्ता नहीं है। सदा ही अकर्त्ता होने से अर्थात् ज्ञानी के राग का कर्त्तापना नहीं होने से कर्म को नहीं बाँधता है, क्योंकि कर्मबन्ध का निमित्त तो केवल एक मात्र राग के कर्तृत्व का भाव ही है।

समयसारनाटक में भी यह बात निम्न दोहे में कही है –

"करं करम सोई करतारा, जो जाने सो जाननहारा।
जो करता नहि जानं सोई, जाने सो करता नहीं होई॥"

जो राग के कर्तृत्व में अटक जाता है, उसके ज्ञातापना नहीं रहता तथा जो ज्ञातास्वरूप में आ जाता है, उसके राग का, पर का व पर्याय का कर्तृत्व नहीं रहता। ज्ञानी को बन्ध का कारणरूप आस्रवभाव नहीं होता, इसीकारण उसके बन्ध भी नहीं होता। अहो! यह स्वभाव की बात सहज एवं सरल है, किन्तु स्वभाव का पुरुषार्थ करे तब न! भाई! कोरी बातों से पार नहीं पड़ती।

कुछ लोग यह कथन सुनकर ऐसा कहते हैं कि – यह तो नियत मिथ्यात्व है, क्योंकि जिससमय जो पर्याय होनी हो वहीं होती है – इस कथन में निमित्त की अकिंचित्करता सिद्ध होती है और पुरुषार्थ का लोप होता है।

किन्तु उनका यह सोचना गलत है। उनके समाधान में यहाँ कहते हैं कि – भगवान! वस्तु का परिणमन स्वतंत्र व नियत ही है जिससमय में जिस पर्याय का जन्मक्षण या उत्पत्तिकाल है, उससमय वही पर्याय होती है, निमित्त से नहीं होती; किन्तु इस क्रमबद्ध का निर्णय केवल उन्हें ही होता है, जो अन्तःस्वभाव के सन्मुख हुए हैं।

ज्ञानी को भले ही मति-श्रुतज्ञान हो, किन्तु उसे एकसमय में लोका-लोक को (परोक्ष) जानने की शक्तिवाली पर्याय प्रगट हुई है। ज्ञानी को राग का कर्त्तापना नहीं है। ज्ञानी में तो स्वयं का एवं उत्पन्न हुए राग का ज्ञातापना स्वयंसिद्ध है। इसकारण वह नवीन कर्मों को न बाँधता हुआ सत्ता में विद्यमान पूर्वबद्ध कर्मों का भी केवल ज्ञाता रहता है। जिसतरह केवलज्ञानी के चार घातिया कर्म विद्यमान नहीं हैं, वे केवल उन्हें जानते ही हैं, उसीतरह ज्ञानी पूर्वबद्ध कर्मों को केवल जानते ही हैं। जिसतरह

केवलीभगवान लोकालोक को केवल जानते ही हैं अर्थात् लोकालोक केवलज्ञान में निमित्त होता हुआ भी केवलज्ञान लोकालोक का कर्त्ता नही है, मात्र ज्ञाता ही है, उसीतरह ज्ञानी ज्ञान में रागादि को जानता हुआ भी उस राग का कर्त्ता नही है, मात्र ज्ञाता ही है । अहो ! सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण कोई अलौकिक वस्तु है । यही से धर्म का प्रारभ होता है, इसके बिना धर्म की शुरुआत ही नहीं होती ।

ज्ञानी को अस्थिरता जनित किंचित् राग-द्वेष है, किन्तु स्वज्ञेय के ज्ञायक को रागादि और उससे हुआ अल्प बन्ध ज्ञान में परज्ञेयपने कहा गया है । भूतार्थ – सत्यार्थ त्रिकाली परमात्मस्वरूप निज आत्मा का आश्रय करने से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है । उससमय आत्मा की पर्याय में जो अशुद्धता व अपूर्णता है, वह बस जानने भर के लिए प्रयोजनवान है, आदर के योग्य भी नही । उस काल में आत्मा का ज्ञाता स्वभाव ही स्वय ऐसा है कि वह स्व को तो जानता ही है, साथ में वर्तमान पर्याय में उत्पन्न हुए राग को भी स्पर्श किए बिना जानता है, क्योंकि इस ज्ञायक (ज्ञानी) आत्मा का ऐसा ही – स्व-पर प्रकाशक स्वरूप है ।

अहो ! यद्यपि एक ज्ञानगुण में दूसरा गुण नहीं है, तथापि उसमें अनन्त गुणों का रूप है । जिसतरह ज्ञानगुण में अस्तित्व गुण नही है, तो भी ज्ञानगुण में अस्तित्वगुण का रूप है अर्थात् ज्ञान स्वयं अस्तित्वरूप से है । अस्तिपना ज्ञान का रूप है । इसीतरह ज्ञान वस्तुपना, प्रमेयत्वपना, कर्त्तापना, कर्म-करणपना आदि रूप है । ज्ञान स्वयं ज्ञान के कर्तृत्वरूप से है । कर्त्तागुण से कर्त्ता नहीं है, अपना निज का स्वरूप ही कर्त्तापने से है ।

यहाँ कहते हैं कि – जो ज्ञानगुण में ज्ञानमयभाव (पर्याय) प्रगट हुआ, उस ज्ञान की पर्याय का कर्त्तापना ज्ञानगुण में है, परन्तु राग का कर्त्तापना उस ज्ञानस्वरूप में नहीं है । भाई ! ऐसी सूक्ष्म बात है, किन्तु आत्मा स्वयं भी सूक्ष्म है न ? संकल्प-विकल्प तो सब जड़, रूपी व अचेतन हैं । पुण्य-पाप के अचेतन स्वभाव से भगवान आत्मा का त्रिकाली चैतन्यस्वभाव सर्वथा भिन्न है । ऐसे चैतन्य स्वभाव को जानता व उसका अनुभव करता हुआ जो ज्ञानमय भाव प्रगट हुआ है, वह अज्ञानमयभाव का कर्त्ता नहीं होता । उसे अज्ञानमयभाव उत्पन्न ही नहीं होता, उसमें अज्ञानमय भाव का परिणमन ही नहीं है ।

गाथा १६६ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, धर्मी जीव तो रागादि का सदा अकर्त्ता है, क्योंकि ज्ञान-स्वभाव में राग का कर्तृत्व नहीं है। आत्मा में कर्तृत्व गुण है, किन्तु यह निर्मल पर्याय का – ज्ञान भाव को करता है। अहा! आत्मा में ज्ञानगुण व आनन्दगुण को ही भाँति कर्त्तागुण भी त्रिकाल निर्मल है। इस कर्त्तागुण का स्वभाव पवित्र पर्याय को हा करने का है। समयसार में जो सैंतालीस शक्तियों का कथन है, वहाँ पर भी यही कहा है। अहाहा ·····! शक्तियाँ तो स्वयं स्वभावतः निर्मल हो हैं, वे ज्ञान परिणाम को भी निर्मल करती हैं। ज्ञानी विकार को केवल जानते हैं, उसके कर्त्ताभाव से नहीं परिणमते इस कारण ज्ञानो नवीन कर्म नहीं वाँधते तथा पूर्ववद्ध कर्म जो सत्ता में विद्यमान हैं, उनके भी केवल ज्ञाता रहते हैं। परज्ञेय की भाँति उन्हें केवल जानते हैं, उनके कर्त्ता नहीं होते।

देखो, राग मैं हूँ और यह रागभाव मेरे स्वभाव को प्रगट करने में कारण है – ऐसी विपरीत मान्यतासहित जो रागादि होते हैं, वे ही अज्ञान के पक्ष में गिने जाते हैं। सम्यक्त्वसहित रागादि अज्ञान के पक्ष में नहीं गिने जाते, क्योंकि सम्यग्दृष्टि के सदैव आत्मा की ओर झुकनेवाला ज्ञानमय-भाव होता है। जो राग होता है, उसका वह केवल ज्ञाता रहता है। राग का ज्ञान राग के अस्तित्व के कारण नहीं होता, वल्कि ज्ञानी को तो स्व-पर को जाननेवाला ज्ञान स्वतः अपने ही कारण होता है, इस कारण रागादि का ज्ञाता ही है, कर्त्ता नहीं। उसका निरन्तर ज्ञानमय ही परिणमन होता है।

यहाँ जो उदय की वलजोरी की बात कही है, उसका अर्थ यह नहीं है कि कर्म वलजोरी में उसे राग कराता है; किन्तु राग की रुचि न होते हुए भी ज्ञानी को पुरुषार्थ की कमी से अस्थिरता के कारण जो किंचित् राग होता है, उसे (निमित्त की अपेक्षा) उदय की वलजोरी कहा है। अपना स्वयं का पुरुषार्थ कुछ कमजोर है, इसलिए उदय की वलजोरी है – ऐसा कहा है। रुचि में तो भगवान आत्मा है, राग नहीं है, इससे राग का स्वामीपना तो किंचित् भी नहीं है; किन्तु अपनी ओर से कहें तो पुरुषार्थ की कमी से तथा निमित्त को अपेक्षा कहें तो चारित्रमोहनीय कर्म के उदय की वलजोरी से किंचित् राग होता है, उसमें उपादेय बुद्धि नहीं है। वह भला है, करने योग्य है – ऐसी आत्मवुद्धि व कर्त्तावुद्धि नहीं है।

आस्रव अधिकार की पहली गाथा में अर्थात् १६४-१६५वीं गाथा में ऐसा कहा है कि – मिथ्यात्व व रागद्वेषमय परिणाम जीव में जीव के कारण होते हैं। वे (अज्ञानदशा में) जीव के हैं और इसी अस्तित्व में होते हैं – ऐसा वहाँ ज्ञान कराया है। तथा यहाँ यह कहा है कि ज्ञानी को ज्ञानस्वभावी आत्मा का भान हुआ है, पुरुषार्थ भी स्वभाव की ओर ढला है, इसकारण वह आस्रव का – रागादि भावों का ज्ञाता ही है। जो इस प्रकार ज्ञाताभाव से रहता है – ज्ञानरूप परिणमता है, उसे ही धर्म होता है।

भाई ! आत्मोद्धार का उपाय या मुक्ति का मार्ग तो यही है। सामायिक, प्रोषध एवं प्रतिक्रमण आदि बाह्य क्रियाएं तो शुभराग हैं और इस राग का पुरुषार्थ भी कृत्रिम है, इससे धर्म की प्राप्ति नहीं होती। धर्म की प्राप्ति तो स्वभाव के सहज पुरुषार्थ से होती है।

नाथ ! भगवान ने तो ऐसा कहा है कि जो स्वरूप की रचना करता है, उसे वीर्य कहते हैं। जिससे राग की रचना हो वह तो नपुंसकता है। विभाव की रचना करना वीर्यगुण का – पुरुषार्थगुण का काम नहीं है। वीर्यगुण, पुरुषार्थ या शक्ति तो आत्मा का सहज स्वभाव है और वह स्वरूप की रचना करता है। अहा ! जिसे स्वभाववान भगवान आत्मा की दृष्टि हुई है, उसने स्वभाव के पुरुषार्थ को स्वीकार किया है और उसी की निर्मल परिणति की रचना होती है मलिन परिणति की रचना करना वीर्यगुण का कार्य नहीं है।

पहले राग-द्वेष-मोह के परिणाम आत्मा में स्वयं से होते हैं – ऐसा जो कहा था, वहाँ पर्याय को स्वतंत्र सिद्ध किया है और यहाँ आत्मा ज्ञानी हुआ है, अतः इसके चैतन्य की ओर पुरुषार्थ वाला ज्ञानमय परिणाम होने से उसे राग का कर्तृत्व नहीं रहता – ऐसा कहा है। जिसे चैतन्यस्वभाव का ज्ञान व भान हुआ उस ज्ञानी को उदय की बलजोरी से किंचित् राग होता है, किन्तु उसे उस राग का स्वामित्व नहीं है, उसे राग के साथ एकत्व नहीं होता। जो शुद्ध द्रव्य में एकत्व करके ज्ञानभाव से परिणमित हुआ है, उस ज्ञानी को अल्पराग होता है, किन्तु उसमें वह एकत्वभाव करके भ्रमित नहीं होता।

आत्मा में एक "स्व-स्वामी-सम्बन्ध शक्ति" है। उसके द्वारा चैतन्य-द्रव्य, गुण व उसकी निर्मल पर्याय ही उसे स्वपने भासित होते हैं। अर्थात्

ये तीनों मेरे स्व और मैं इनका स्वामी हूँ। आत्मा में ऐसी स्व-स्वामी सम्बन्ध शक्ति है। आत्मा राग का स्वामी बने – ऐसा आत्मा में कोई गुण या शक्ति ही नहीं है, इसकारण ज्ञानी होनेपर आत्मा राग का स्वामी होता ही नहीं है, वह रागादि को रोगवत् जानकर प्रवर्तता है। वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी से उपायान्तर के अभाव में रागरूप में प्रवर्तन करता है, किन्तु वह इसे रोग समान जानकर प्रवर्तता है। जिसतरह कोई रोगी रोग को औषधि से दूर करता हुआ प्रवर्तता है, उसीतरह ज्ञानी अपनी शक्ति से – स्वभाव के पुरुषार्थ से राग को नष्ट करता जाता है।

देखो, कोई ऐसा कहे कि ज्ञानी को राग-द्वेष-मोह व दुःख होता ही नहीं, तो उसका यह कहना ठीक नहीं है। जो होता है उसे ही तो नष्ट किया जा सकता है, जो हो ही नहीं, उसे कोई क्या नष्ट करेगा ? ज्ञानी को अस्थिरताजनित अल्प राग-द्वेष तो होता है और ज्ञानी उसे स्वरूप के अवलम्बन से एकाग्रता का उग्र पुरुषार्थ करके नष्ट करता जाता है। जितने अंश में पुरुषार्थ में कमी है, उतना ज्ञानी के भी राग व दुःख अवश्य होता है।

अब कहते हैं कि – ज्ञानी के बन्ध तो होता है, किन्तु वह अनन्त संसार का बन्ध नहीं करता। मात्र अल्प स्थिति व अल्प अनुभागवाला बंध ही उसे होता है, जो कि अनन्त संसार-बंध के अभाव की तुलना में गिनती में ही नहीं आता। दृष्टि की प्रधानता में अल्प बंध कोई चीज नहीं है। अहो ! ऐसी दृष्टि की कोई अचिन्त्य महिमा है।

इसप्रकार ज्ञानी को आस्रव नहीं होने से बंध भी नहीं होता।

ये हि कर्म के मूल

जो रागादि जीव के, ह्वै कहूँ मूल स्वभाव।
तो होते शिवलोक में, देख चतुर कर न्याव।।
रागादिकसों भिन्न जब, जीव भयो जिह काल।
तब तिह पायो मुकति पद, तोरि कर्म के जाल।।
ये हि कर्म के मूल हैं, राग-द्वेष परिणाम।
इनही सें सब होत हैं, कर्म बन्ध के नाम।।

– भैया भगवतीदास

अथ रागद्वेषमोहानामास्रवत्वं नियमयति—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो ।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ।।१६७।।

भावो रागदियुतो जीवेन कृतस्तु बंधको भणितः ।
रागादिविप्रमुक्तोऽबंधको ज्ञायकः केवलम् ।।१६७।।

इह खलु रागद्वेषमोहसंपर्कजोऽज्ञानमय एव भावः, अयस्कांतोपल-संपर्कज इव कालायससूचीं, कर्म कर्तुमात्मानं चोदयति । तद्विवेकजस्तु ज्ञानमयः, अयस्कांतोपलविवेकज इव कालायससूचीं, अकर्मकरणोत्सुकमा-

---

अब, राग-द्वेष-मोह ही आस्रव हैं ऐसा नियम करते हैं :—

रागादियुत जो भाव जीवकृत उसहिको बन्धक कहा ।
रागादिसे प्रविमुक्त ज्ञायक मात्र, बन्धक नहिं रहा ।।१६७।।

गाथार्थ :—[जीवेन कृतः] जीवकृत [रागादियुतः] रागादियुक्त [भावः तु] भाव [बंधकः भणितः] बन्धक (नवीन कर्मों का बन्ध करने-वाला) कहा गया है । [रागादिविप्रमुक्तः] रागादिसे रहित भाव [अबंधकः] बन्धक नहीं है [केवलम् ज्ञायकः] वह मात्र ज्ञायक ही है ।

टीका :—जैसे लोहचुम्बक-पाषाण के साथ संसर्ग से (लोहे की सुई में) उत्पन्न हुआ भाव लोहे की सुई को (गति करने के लिये) प्रेरित करता है, उसीप्रकार राग-द्वेष-मोह के साथ मिश्रित होने से (आत्मा में) उत्पन्न हुआ अज्ञानमय भाव ही आत्मा को कर्म करने के लिये प्रेरित करता है और जैसे लोहचुम्बक-पाषाण के असंसर्ग से (सुई में) उत्पन्न हुआ भाव लोहे की सुई को (गति न करनेरूप) स्वभाव में ही स्थापित करता है, उसीप्रकार राग-द्वेष-मोह के साथ मिश्रित नहीं होने से (आत्मा में) उत्पन्न हुआ ज्ञानमय भाव जिसे कर्म करने की उत्सुकता नहीं है (अर्थात् कर्म करने का जिसका स्वभाव नहीं है) ऐसे आत्मा को स्वभाव में ही स्थापित करता है; इसलिये रागादि के साथ मिश्रित अज्ञानमय भाव ही कर्तृत्व में प्रेरित करता है, अतः वह बन्धक

त्मानं स्वभावेनैव स्थापयति । ततो रागादिसंकीर्णोऽज्ञानमय एव कर्तृत्वे चोदकत्वाद्बंधकः । तदसंकीर्णस्तु स्वभावोद्भासकत्वात्केवल ज्ञायक एव, न मनागपि बंधकः ।

है और रागादि के साथ अमिश्रित भाव स्वभाव का प्रकाशक होने से मात्र ज्ञायक ही है, किंचित्मात्र भी बन्धक नहीं है ।

भावार्थ :—रागादि के साथ मिश्रित अज्ञानमय भाव ही बन्ध का कर्त्ता है और रागादि के साथ अमिश्रित ज्ञानमय भाव बन्ध का कर्त्ता नहीं है – यह नियम है ।

गाथा १६७ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

आचार्य इस गाथा में कहते हैं कि राग में एकत्वबुद्धिवाले मिथ्यादृष्टियों का राग-द्वेष-मोह ही आस्रव का कारण है । इस बात को लोहचुम्बक व सुई के दृष्टान्त से समझाया है ।

देखो, जिसतरह लोहसंयुक्त चुम्बक-पाषाण के संसर्ग में आने से सुई में गतिमान होने की प्रेरणा उत्पन्न होती है अर्थात् जब लोहे की सुई चुम्बक के संसर्ग में आती है, तो उसके निमित्त से सुई में गति उत्पन्न होती है, और सुई चुम्बक के पास जाती है; परन्तु सुई को चुम्बक के पास जाने में चुम्बक तो निमित्तमात्र है, सुई में स्वयं तत्समय की योग्यता से उत्पन्न हुए भाव में ही चुम्बक निमित्त बनता है । "चुम्बक सुई में गति उत्पन्न करता है या उसे अपनी ओर खेंचता है" – यह तो निमित्त प्रधान कथन है । इसीतरह राग-द्वेष-मोह में एकत्व से आत्मा में उत्पन्न हुआ अज्ञानमय भाव ही आत्मा को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है ।

सच्चिदानन्द प्रभु भगवान आत्मा तो सदा ही ज्ञानानन्द स्वभावी है, किन्तु राग-द्वेष-मोह के साथ एकत्व होने से अर्थात् रागादि में एकत्वबुद्धि होने से उत्पन्न हुआ अज्ञानमय भाव ही कर्म करने को प्रेरित करता है । मैं शुद्ध चिद्रूप चैतन्यस्कंद प्रभु आत्मा हूँ – ऐसे अपने स्वरूप की जिसको खबर नहीं है, वह अपनी वर्तमान पर्याय में उत्पन्न हुए राग-द्वेष-मोहभावों में ही एकत्व स्थापित करके अज्ञानमय भाव उत्पन्न करता है और वे अज्ञानमय भाव उसे कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं । अहा······! दया, दान, व्रत, भक्ति आदि और काम-क्रोध, विषय-वासना आदि विकल्प मेरे कर्तव्य हैं – ऐसा अज्ञानमय भाव ही आत्मा को कर्म अर्थात् रागादि

करने को प्रेरित करता है। अज्ञानमय भाव के कारण आत्मा रागादि का कर्त्ता होता है। अज्ञानी को अपने शुद्ध स्वरूप की खबर नहीं है, इसकारण वह राग को अपना स्वरूप मानकर एकत्वबुद्धि से राग के कर्तृत्व में प्रेरित होता है।

यदि कोई ऐसा कहे कि हमें तो इस बात का पता नहीं था, इसमें हमारा क्या दोष है? उससे कहते हैं कि भाई! तुझे खबर नहीं है, ये हो तेरा महान दोष है। स्वरूप का अज्ञान क्या छोटा अपराध है? तू अज्ञान को बचाव की ढाल बनाना चाहता है। कोई अमृत की जगह अज्ञान से जहर खा लेवे तो क्या वह विषपान के दुष्परिणाम से बच जावेगा? क्या उसे अज्ञान का फल नहीं भोगना पड़ेगा? इसीतरह जबतक स्व-पर का अज्ञान रहेगा, तबतक उसे चारगति में भटकना ही पड़ेगा, क्योंकि भेद-विज्ञान के अभावरूप महापाप का यही फल है। यहाँ कहते हैं कि मैं तो ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ। राग मेरा स्वरूप नहीं है – ऐसी खबर नहीं होने से अर्थात् इस सम्बन्ध में अज्ञानमय भाव होने से जो राग करता है, वह बन्धन में ही पड़ता है।

अहाहा..........! आचार्य भगवान कैसी शैली में समझाते है। भगवान आत्मा तो सदा ही चैतन्यमूर्ति ज्ञान व आनन्द स्वरूप है, किन्तु जिसको उसकी अनुभूति नहीं हुई और केवल पर्यायबुद्धि से अज्ञानमय भाव में वर्तता है, उसकी पर्यायबुद्धि में राग की ही उत्पत्ति होती है और वह बन्धन में ही पड़ता है।

भाई! धर्म व धर्म की पद्धति बहुत सूक्ष्म है। यह तो जन्म-मरण के बड़े भारी भवसमुद्र को पार करनेवाली बात है। भगवान ऐसा कहते है कि प्रभु! तूने इतने बार द्रव्यलिंगी जैन साधु का भेष धारण किया कि लोक में ऐसा कोई भाग (क्षेत्र) शेष नहीं रहा कि जिसमें तू जन्मा-मरा न हो। इतने बार द्रव्यलिंगी जैन साधू बनकर भी राग को अपना कर्तव्य व कार्य मानकर अज्ञानभाव से बन्ध करता रहा। भगवान कुन्द-कुन्दाचार्य तो इस विषय में ऐसा कहते हैं कि जिसको आत्मा के प्रति द्वेष हुआ है, उसके दुविधाओं, उलझनो और आकुलताओं का पार नहीं रहता। द्रव्यलिंगो कर्त्ताबुद्धि से राग करता है। वह महाव्रतों को बराबर पालता है, किन्तु पंचमहाव्रत के राग को धर्म मानकर कर्तृत्वबुद्धि से उन्हें करने के लिए प्रेरित होता है। यह अज्ञानमय भाव ही इसे बन्धन का कारण बनता है।

भाई ! ये परम सत्य बातें हैं, जो कुदरती सहजभाव से यहाँ आ गई हैं। यह तो भगवान का संदेश है। अभ्यास न होने से सामान्यजनों को सूक्ष्म प्रतीत होता है। भाई ! जिसे ऐसा भान नहीं है कि मैं ज्ञान-स्वरूप हूँ – उसे अज्ञान की प्रेरणा से बाह्य क्रियाओं का कर्तृत्व होता है और वही उसके बन्ध का कारण बनता है, क्योंकि कर्त्ताभाव से हुए सभी भाव बन्ध के ही कारण हैं।

जिसतरह यह बनिया माल में मिलावट करता है न ? कालीमिर्च में पपीता के बीज मिलाना आदि, उसीतरह अनादि से अज्ञानी आत्मा अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में पुण्य-पाप के परिणामों की मिलावट कर बैठा है। परमात्मा कहते हैं कि प्रभो ! तू तो निर्मलानन्द का नाथ है, अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से भरा है, इसमें तूने राग की मिलावट क्यों कर रखी है ? तुझे यह क्या हो गया है ? तेरे अन्तर तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञायकदेव विराज रहा है, उसके साथ तूने विभाव को व राग-द्वेष को अपना मानकर मिला दिया है। भगवान ! तुम तो मात्र ज्ञानस्वरूप ही हो, तुझमें स्वयं में अनन्त ज्ञान व अनन्त आनन्द भरा पड़ा है।

तू अपने उस स्वरूप को छोड़कर राग में क्यों अटक गया है ? तुझे 'राग मेरा है' – ऐसी बुद्धि कैसे हुई ? भाई ! राग तेरा स्वरूप नहीं है, यह तो कुजात है। पुण्य-पाप का भाव तो विभावरूप चण्डालिनी का पुत्र है। भाई ! तू स्वरूप से अनजान रहकर, राग को अपना मानकर उसकी ओर आकर्षित होता है। तेरा यह अज्ञानभाव ही मिथ्यात्वादि के बन्धन का कारण होता है।

पूर्णानन्द का नाथ सच्चिदानन्दस्वभावी भगवान आत्मा त्रिकाल शान्त स्वभाव में रहनेवाला है, अज्ञानी उसे भूलकर उसमें पुण्य-पाप के भावों की मिलावट करके अपने विकृत स्वरूप को आत्मा जानता है। राग मेरा स्वरूप है अथवा राग से मुझे लाभ होता है – ऐसा मानना आत्मा का विकृत स्वरूप है, यही उसका अज्ञानमय भाव है, जो उसे कर्म करने के लिए प्रेरित करता है।

स्वरूप के सम्बन्ध में अज्ञान का नाश व ज्ञान की प्राप्ति ही मुख्य बात है। धर्मी जीवों को तो वर्तमान में मात्र अस्थिरता का दोष होता है अर्थात् चारित्रगुण की पूर्णता न होने से रागादिभावरूप अल्प दोष होता है, उस अल्प दोष को यहाँ गौण किया है। उसको दोष नहीं गिना है,

क्योंकि ज्ञानी को भी थोड़ी अशुद्धता होती है और उसके निमित्त से बन्ध भी होता है, किन्तु उसको राग में कर्तृत्वबुद्धि नही होने से वह उस राग का भी ज्ञाता ही रहता है। जिसतरह भगवान केवली व्यवहारनय से लोकालोक को जानता है, वह उसमें तन्मय नहीं होता; उसीतरह ज्ञानी पर्याय में हुए राग को जानता है, किन्तु उसमें तन्मय नहीं होता। ज्ञानी स्वयं में रहकर राग को परज्ञेयरूप जानता है। राग में मिलकर अर्थात् राग से एकमेक होकर राग को नहीं जानता। रागसम्बन्धी ज्ञान भी राग से नहीं, किन्तु स्वयं आत्मा से होता है। राग में एकत्वबुद्धि करके राग को जानना तो अज्ञानमय मिथ्यात्वभाव है और यह आस्रव व बन्ध का कारण है।

अब कहते हैं कि जिसतरह जब सुई लोहचुम्बक-पाषाण के साथ संसर्ग नहीं करती, तब गतिपरिणाम को उत्पन्न करनेवाले भाव को प्राप्त नहीं होती, अतः गति नहीं करती। लोहचुम्बक के संसर्ग के अभाव में सुई अपने स्वभाव में ही रहती है। चुम्बक के संसर्ग के अभाव से उत्पन्न हुआ भाव सुई को स्थिरता के स्वभाव में ही स्थापित करता है, सुई में गति-परिणाम को उत्पन्न नहीं करता, उसीप्रकार भगवान आत्मा स्वभाव में तो अकेला ज्ञानस्वरूप ही है, उसमें राग-द्वेष-मोह की मिलावट नहीं है। राग व आत्मा एकमेक नहीं है – ऐसी भिन्नता के विशेषयुक्त भाव को ज्ञानमय भाव कहते हैं। शुद्ध चैतन्यमय आत्मा के अनुभव से – परिचय से उत्पन्न हुए ज्ञानमय भाव में अस्थिरता का जो राग होता है, उसे करने की उत्सुकता नहीं है। अहा! ज्ञानी को राग करने की रुचि या उत्साह नही है। "राग भला है" इसप्रकार राग की दशा से प्रेरित होकर वह राग नहीं करता।

जिसे शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान ज्ञायक का भान हुआ है, उस ज्ञानी के रागादि के साथ अमेल स्वभाव के कारण ज्ञानमय भाव प्रगट हुआ है, इससे उसको रागादि के कर्तृत्वभाव की बुद्धि छूट गई है। "मैं राग करूँ" – ऐसा अभिप्राय छूट गया है। भगवान ज्ञायक के साथ एकत्व हो जाने से ज्ञानी को कर्म करने की उत्सुकता नहीं है। अहाहा......! ज्ञायक स्वभाव में कर्म भी नहीं और कर्म का कर्त्तापना भी नहीं है। ऐसे ज्ञायक को दृष्टि में लेनेवाले ज्ञानी को कर्म करने के प्रति निरुत्सुकता है अर्थात् वह रागादि के कर्तृत्वभाव से विरक्त है।

वास्तविक धर्म का तो ऐसा स्वरूप है, परन्तु स्थानकवासी सम्प्रदाय में, जहाँ से हम (कानजी स्वामी) आये हैं, वहाँ तो केवल दया पालना, व्रत-उपवास करना, प्रतिक्रमण आदि बाह्य क्रियायें कर लेने में ही धर्म मानते हैं, क्योंकि यह सब सरलता से हो जाता है न ? किन्तु ऐसी सरलता भी क्या ? जिसमें सारी जिन्दगी चली जाये और कुछ हाथ न आये । राग में एकत्व करके राग का कर्त्ता बनना अज्ञानभाव है, बन्धन में डालने वाला भाव है । ज्ञानी को भी अल्प राग होता है, किन्तु उसे राग में एकत्वबुद्धि नहीं है । वह राग को ज्ञान से पृथक् रखकर राग का ज्ञान करता है, राग का कर्त्ता नहीं बनता ।

भगवान-आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप ज्ञाता-दृष्टा है । जहाँ वह अपने स्वसंवेदन ज्ञान में पृथक् ज्ञात हुआ कि राग से तत्काल भेदज्ञान हो जाता है । ज्ञानी राग के साथ अपनी मिलावट नहीं करता । वह दया, दान व्रत, भक्ति आदि पुण्यभावों के साथ एकमेक नहीं होता, पृथक ही रहता है । ज्ञान राग को जानता है, किन्तु ज्ञान रागमय नहीं होता, भिन्न-भिन्न ही रहता है ।

भाई ! वास्तविक बात तो यह है, इसे समझने का यह पुण्य अवसर है । अरे भाई ! यह देह तो क्षणभर में छूट जायेगी । लौकिक कार्यों में किसी से जो मान-सम्मान प्रशंसा या अभिनन्दन पत्र मिलेंगे, परलोक में वे कोई काम नहीं आवेंगे । वहाँ तो केवल ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान व उसी में हुई रमणता ही काम आवेगी । अहो! अमृतचन्द्राचार्य देव की यह "आत्मख्याति" टीका अति गंभीर रहस्यों से भरी हुई है ।

श्री जयसेनाचार्य ने भी लोह चुम्बक का उदाहरण दिया है । भगवान आत्मा सदैव ज्ञायक ही है, किन्तु वह राग के विकल्पों के साथ मिलावट करता है, इससे उसमें उत्पन्न हुआ ज्ञानमय भाव उसको रागादि कर्म करने के लिए प्रेरित करता है, किन्तु वह रागादि से मिलावट नहीं करता, संसर्ग नहीं करता तो वह स्वभाव में या ज्ञानभाव में ही रहता है । अहा ! राग से एकता तोड़कर जिसने निज ज्ञायकस्वभाव में एकत्व किया, वह अपने को स्वभाव में स्थापित करता है अर्थात् वह स्वयं को अपने में जाने के लिए प्रेरित करता है । ज्ञानी आत्मा को आत्मा में ही स्थापित करता है । जिस तरह चुम्बक के संसर्ग के अभाव में लोहखण्ड की सुई गति करती हुई भी रुक जाती है, उसी तरह ज्ञानी ज्ञानमय भाव के कारण राग में गति

करता हुआ अटक जाता है । ज्ञानी ज्ञान स्वभाव में – ज्ञायकभाव में ही स्वयं को स्थापित करता है । इसी का नाम धर्म व मोक्षमार्ग है ।

ज्ञानी के जितना रागरूप परिणमन है, वह उसे केवल जानता ही है, करता नहीं है । हाँ, परिणमन की अपेक्षा ज्ञानी को राग का कर्त्ता भी कहा जाता है, किन्तु वह उस राग को करने योग्य – कर्तव्य नहीं मानता । मुनिराज को छठवें गुणस्थान में जो रागांश है, परिणमन की दृष्टि से वे उस राग के कर्त्ता हैं, किन्तु कर्त्ता बुद्धि से नहीं, क्योंकि कर्त्ता बुद्धि से राग करने का जीव का स्वभाव ही नहीं ।

सारांश यह है कि स्वभाव से तो प्रज्ञा-ब्रह्मस्वरूप भगवान सदा अबन्धस्वभावी ही है, किन्तु रागादि रूप पुण्य-पाप के भावों के साथ एकत्व बुद्धि के कारण अज्ञानी को अज्ञानमय भाव उत्पन्न होता है, वह अज्ञानमय भाव रागादि उत्पन्न होने में प्रेरक होने से बन्धक है, बन्धन का करने वाला है ।

राग में एकत्व रहित, राग से भिन्न – पृथक् पड़ा हुआ भाव स्वभाव का प्रकाशक है । पुण्य-पाप से अलिप्त भाव स्वभाव का प्रकाशक है, स्वभाव को प्रगट करनेवाला होने से केवल ज्ञायक ही है, किंचित् भी बन्धक नही है ।

ज्ञानी को भी किंचित् राग होता है, किन्तु वह राग में एकत्व नहीं करता, अतः दृष्टि की अपेक्षा से वह उसका स्वामी नहीं होता । परिणमन की अपेक्षा वह राग का स्वामी है, क्योंकि राग का परिणाम कर्म के कारण नहीं होता । ज्ञानी को छठ्ठे गुणस्थान में जो अल्प राग है, उसका वह पर्याय की अपेक्षा स्वयं कर्त्ता-भोक्ता है । वह भी इस बात को भलीभाँति जानता है कि पर्याय में हो रहा राग मेरी कमजोरी से हो रहा है और मैं ही इसका कर्ता हूँ व भोक्ता भी मैं ही हूँ, न कर्म ने राग कराया है, न वह कर्म उस राग का भोक्ता भी है । हाँ, जब मुझमें राग हुआ, कर्म उस समय निमित्त के रूप में उपस्थित अवश्य था । बस इसी कारण यह कह दिया जाता है कि कर्म से विकार हुआ ।

राग करते-करते लाभ होता है, शुभराग से – पुण्यभाव से धर्म होता है – इस प्रकार अबंध स्वभाव को राग के साथ मिलाना – एकमेक करना ही

अज्ञान है और वह अज्ञानमय भाव, मिथ्यादर्शन का भाव बन्धक है, बन्ध का ही कारण है तथा भगवान ज्ञायक को बन्ध स्वभावी राग के साथ एकमेक (मिलावट) न करके अर्थात् राग से पृथक् करके – भेदज्ञान करके स्वभाव में रहने से जो ज्ञानभाव प्रगट होता है, वह किंचित् भी बन्धक नहीं है। ज्ञानभाव प्रगट होने पर मिथ्यात्व और अनन्तानबंधी का किंचित् भी बन्ध नहीं होता।

बस इसी ज्ञानभाव का नाम धर्म है और इसका धारक भगवान आत्मा धर्मी है।

गाथा १६७ के भावार्थ पर प्रवचन

रागादि के साथ कभी न मिलनेवाला ज्ञानमय भाव बन्ध का करने वाला नहीं है – यह नियम है। पुण्य के विकल्प के साथ नहीं मिलने वाला ज्ञानमय भाव बंध का करने वाला नहीं है। अबन्ध स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुआ ज्ञानमय भाव अबन्धक है।

जीव जबतक अपने स्वरूप को राग मिश्रित मानता है, तबतक अज्ञान भाव है और वह राग के कर्तृत्व का प्रेरक होने से बंधक ही है। तथा वह राग से भिन्न अपने ज्ञायक स्वभाव को जानने या अनुभव करने पर ज्ञानमय भाव प्रगट होता है तथा वह आत्मा को आत्मा में – ज्ञान में स्थापित करता है, राग के कर्तृत्व में स्थापित नहीं करता, इस कारण वह अबन्धक है। यहाँ अस्थिरता के राग को गौण करके स्वीकार नहीं किया है, गिना नहीं है – ऐसा समझना।

द्रव्यास्रव, भावास्रव एवं सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

दर्वित आस्रव सो कहिए जहं,
पुग्गल जीवप्रदेस गरासै।
भावित आस्रव सो कहिए जहं,
राग विरोध विमोह विकासै ।।
सम्यक पद्धति सो कहिए जहं,
दर्वित भावित आस्रव नासै।
ग्यान कला प्रगटै तिहि थानक,
अंतर बाहिर और न भासै ।।३।।

– समयसार नाटक, आस्रवद्वार

समयसार गाथा १६८

अथ रागाद्यसंकीर्णभावसभवं दर्शयति—

पक्के फलम्हि पडिए जह ण बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेदि ॥१६८॥

पक्वे फले पतिते यथा न फलं बध्यते पुनर्वृंतैः।
जीवस्य कर्मभावे पतिते न पुनरुदयमुपैति ॥१६८॥

यथा खलु पक्वं फलं वृंतात्सकृद्विश्लिष्टं सत् न पुनर्वृंतसंबंधमुपैति तथा कर्मोदयजो भावो जीवभावात्सकृद्विश्लिष्टः सन् न पुनर्जीवभावमुपैति। एवं ज्ञानमयो रागाद्यसंकीर्णो भावः संभवति।

अब, रागादि के साथ अमिश्रित भाव की उत्पत्ति बतलाते हैं :—

फल पक्व खिरता, वृन्त सह संबंध फिर पाता नहीं।
त्यों कर्मभाव खिरा, पुनः जीवमें उदय पाता नहीं ॥१६८॥

गाथार्थ :—[यथा] जैसे [पक्वे फले] पके हुए फल के [पतिते] गिरने पर [पुनः] फिरसे [फलं] वह फल [वृन्तैः] उस डंठल के साथ [न बध्यते] नहीं जुड़ता, उसीप्रकार [जीवस्य] जीव के [कर्मभावे] कर्मभाव [पतिते] खिर जानेपर वह [पुनः] फिरसे [उदयम् न उपैति] उत्पन्न नहीं होता (अर्थात् वह कर्मभाव जीव के साथ पुनः नहीं जुड़ता)।

टीका :—जैसे पका हुआ फल एक बार डंठल से गिर जाने पर फिर वह उसके साथ सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता, इसीप्रकार कर्मोदय से उत्पन्न होनेवाला भाव जीवभाव से एकबार अलग होने पर फिर जीवभाव को प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार रागादि के साथ न मिला हुआ ज्ञानमयभाव उत्पन्न होता है।

भावार्थ :—यदि ज्ञान एकबार (अप्रतिपाती भाव से) रागादिक से भिन्न परिणमित हो तो वह पुनः कभी भी रागादि के साथ मिश्रित नहीं होता। इसप्रकार उत्पन्न हुआ, रागादिके साथ न मिला हुआ ज्ञानमय भाव सदा रहता है। फिर जीव अस्थिरतारूप से रागादि में युक्त होता है, वह

निश्चयदृष्टि से युक्तता है ही नहीं और उसके जो अल्प बन्ध होता है, वह भी निश्चयदृष्टि से बन्ध है ही नहीं, क्योंकि अबद्धस्पृष्टरूप से परिणमन निरन्तर वर्तता ही रहता है। तथा उसे मिथ्यात्व के साथ रहनेवाली प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता और अन्य प्रकृतियाँ सामान्य संसार का कारण नहीं है; मूल से कटे हुए वृक्ष के हरे पत्तों के समान वे प्रकृतियाँ शीघ्र ही सूखने योग्य हैं।

गाथा १६८ की उत्थानिका, गाथा एवं उसकी टीका पर प्रवचन

इस गाथा में मिथ्यात्व व राग-द्वेष के साथ अमिश्रितरूप से विद्यमान ज्ञानमय भाव की उत्पत्ति बताते हैं।

देखो, यहाँ कहते हैं कि – जिस तरह पका फल एकबार पेड़ से टूटकर जमीनपर गिरनेपर पुनः पेड़ की डाल में नहीं लगाया जा सकता, उसीप्रकार कर्मोदय से उत्पन्न हुआ मिथ्यात्वभाव जो एकवार जीवभाव से छूट जाता है, वह पुनः जीवभाव को प्राप्त नहीं होता। अहाहा..........! उपशम-क्षयोपशम सम्यग्दर्शन होकर जो छूट जाता है, उसकी यहाँ बात नहीं है। जब राग से भिन्न होकर अर्थात् रागादि से भेदज्ञान करके भगवान आत्मा का ज्ञान कर लिया, तो फिर ज्ञानभाव में भले ही कर्म का उदय आवे, तो भी आत्मा की राग के साथ एकत्वबुद्धि नहीं होती। उदय में आकर पूर्वबद्ध कर्म खिर जाते हैं तथा नवीन कर्मों का बन्ध भी नहीं होता। अहाहा.......! यहाँ आचार्यदेव अपना अप्रतिहत स्वभाव दर्शाते हैं।

"भगवान आत्मा राग से भिन्न शुद्ध चिदानन्दघन स्वरूप है", जहाँ ऐसा भान हुआ या भेदज्ञान हुआ, वहा तुरन्त राग से एकता टूट जाती है। इसलिए कहते हैं कि ज्ञानी को जो कर्म का उदय आता है, वह पेड़ की डाल से टूटे हुए पके फल के समान खिर जाता है। कर्म पुनः उदय में नहीं आता। जो कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं, वे पुनः बंधते नहीं हैं। मिथ्यात्वदशा तो एकबार गई सो गई। अब पुनः अनन्तकालीन अमर्यादित कर्मबन्ध नहीं होता।

यहाँ यह कहते हैं कि मिथ्यात्व कर्म का उदय खिर जानेपर ज्ञानी को पुनः राग (मिथ्यात्व) का बन्ध हो और राग से एकत्व हो – ऐसा बनाव नहीं बनता। अहाहा.........! जिसने राग की एकता तोड़कर

एवं ज्ञायकभाव की एकता करके स्वभाव सन्मुखता का पुरुषार्थ किया है, आत्मानुभव किया है, वह ज्ञानी जीव कभी गिरता नहीं है।

प्रवचनसार गाथा ६२ में कहा है कि – आगमकौशल्य एवं स्वभाव के आश्रय से आत्मज्ञान द्वारा मैंने मिथ्यात्व का नाश किया है, अतः अब वह पुनः उत्पन्न नहीं होगा। अहाहा..........! पंचमकाल के मुनि ऐसा कहते हैं कि भले ही भगवान का विरह हो, किन्तु मुझे अन्तर में मेरे आनन्द के नाथ निज भगवान से भेंट हो गई है। मैंने राग से भिन्न चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का आश्रय लिया है, अतः अब मुझे कर्मोदय से कर्म में व पर में एकत्वबुद्धि नहीं हो सकती।

कोई ऐसा कहे कि एक तो वर्तमान मुनि छद्मस्थ हैं, दूसरे वे भगवान केवली के पास भी नहीं गये और तीसरे यह पंचमकाल है, ऐसी स्थिति में यथार्थज्ञान प्राप्त होना तो दुर्लभ है, फिर भी आत्मज्ञानपर इतना जोर क्यों ?

उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यद्यपि मुनिराज छद्मस्थ हैं, तथापि आत्मज्ञानी हैं; क्योंकि उन्होंने सम्यक् मति-श्रुतज्ञान की सामर्थ्य से आत्मज्ञान प्रगट किया है। यद्यपि वे भगवान के समवशरण में नहीं गये हैं, तथापि अनन्त गुणों से भरे भगवान आत्मा के समोशरण में गये हैं। समोशरण अर्थात् सम्यक् प्रकार से गुणों में उतरना। जब उन्होंने ऐसे चैतन्य महाप्रभु की शरण ली है तो अब उन्हे पुनः राग में एकत्वबुद्धि कैसे ह सकती है ?

देखो, 'अभेद-स्वरूप दृष्टि के विषय में आस्रव नहीं है' – यहाँ यह सिद्ध किया है।

प्रवचनसार की ४५वीं गाथा में आये "पुण्य फला अरहंता....... ..." वाक्य का आधार लेकर कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि पुण्य के कारण अरहत पद मिलता है, परन्तु भाई ! यह बात यथार्थ नहीं है। वहाँ तो उस गाथा का शीर्षक ही यह है कि – "तीर्थंकरों को पुण्य का विपाक अकिंचित्कर ही है।" अर्थात् पुण्य का फल स्वभाव का किंचित् भी घात नहीं करता। भाई ! पुण्य का फल तीर्थंकर के आत्मा को अकिंचित्कर है। तीर्थंकर को सातिशय-पुण्य का उदय है – यह बात जुदी है, किन्तु पुण्य के फल में अरहंत पद मिलता है – यह सर्वथा मिथ्या है। भाई ! अपनी मति – कल्पना

से गाथा का अर्थ नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से जिनवाणी के अवर्ण-वाद का महान दोष लगता है।

उसी प्रवचनसार की गाथा ७७ में तो ऐसा कहा है कि – पुण्य व पाप में कोई अन्तर ही नहीं है। आगे कहा कि जो ऐसा नहीं मानता है अर्थात् जो पुण्य-पाप के परिणाम में भेद देखता है – पाप से बन्ध व पुण्य से आत्मा का लाभ होना मानता है, वह मोह से आच्छादित वर्तता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है। भाई ! यह सिद्धान्त है, सिद्धान्त तो सभी एक सरीखे ही होते हैं।

भगवान केवली के जो दिव्यध्वनि आदि क्रियायें होती हैं, वे पुण्य के विपाकरूप हैं तथा वे क्रियाएँ भगवान आत्मा के लिए अकिंचित्कर हैं अर्थात् बन्ध की करनेवाली नहीं हैं; किन्तु क्षायिकी हैं, क्योंकि कर्म का उदय प्रतिक्षण क्षय को प्राप्त हो रहा है। प्रवचनसार की गाथा ४५ में यह बात बहुत अच्छी प्रकार से सिद्ध की है। जब इतना स्पष्ट कथन आगम में उपलब्ध है, तब फिर पुण्य के फल में अरहंत पद मिलता है – यह बात ही कहाँ रही ? भाई ! सिद्धान्त का विरोध करने से तो अपने भगवान आत्मा का ही विरोध होगा, पर का विरोध तो कौन कर सकता है ?

यहाँ कहते हैं कि – कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ भाव जीवभाव से यदि एकबार छूट गया तो फिर वह पुनः जीवभाव को प्राप्त नहीं होता। जब राग से भिन्नता व भगवान ज्ञायक की एकता होनेपर ज्ञानभाव प्रगट होता है, तब जो कर्म का उदय झर गया और मिथ्यात्वभाव मिट गया तो पुनः उत्पन्न हो – ऐसा वस्तु के स्वरूप में ही नहीं है। अहो ! दिगम्बर मुनिवरों को अन्तर में अक्षय ज्ञानधारा वर्तती है। भाई ! चारित्र का दोष जुदी वस्तु है और दृष्टि-दोष जुदी चीज है। एकबार दर्शन-दोष (मिथ्यात्व) का नाश हुआ तो वह पुनः उत्पन्न नहीं होता। अहा ! यह अन्तर में उत्पन्न हुए धारावाहिक अप्रतिहत-पुरुषार्थ की बात है। भगवान महावीर का मार्ग शूर-वीरों का मार्ग है, कायरों का नहीं। अन्तर के यथार्थ पुरुषार्थ से भागनेवाले हीन पुरुषार्थियों का यह काम नहीं है।

इसप्रकार राग के – पुण्य के विकल्प से एकरूप नहीं हुआ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र व आनन्द का भाव उत्पन्न होता है। "मैं शुद्ध चैतन्यघन

वस्तु हूँ" – ऐसा ज्ञानमयभाव रागादि के साथ एकत्व न रखता हुआ उत्पन्न होता है। राग होता है, यह बात सच है, किन्तु राग के साथ ज्ञानभाव एकत्व नहीं पाता – यह स्थिति चौथे गुणस्थान में होती है।

किसी ज्ञानी को क्षयोपशम या क्षायिक भाव प्रगट हुआ हो और उसे तीर्थंकर नामकर्म बंधने के योग्य भाव हो तो उसे भी अपराध गिना है। सम्यग्दृष्टि का वह भाव अपराध है। वह भाव ज्ञानमय भाव से पृथक है न? देखो, श्रेणिक राजा का जीव इस समय नरक में है और वहाँ तीर्थंकर प्रकृति बांध रहा है, किन्तु वह शुभभाव अपराध है। ज्ञानी का ज्ञानभाव तीर्थंकर प्रकृति के योग्य शुभभावरूप राग के साथ भी एकत्व नहीं करता।

भाई! यह तो वीतराग परमेश्वर का – सर्वज्ञ का मार्ग है। भगवान आत्मा का "ज्ञ" स्वभाव ही है, इसमें अपूर्णता कैसी? "ज्ञ" स्वभाव कहो या सर्वज्ञ भगवान कहो – एक ही बात है। जिसे पर्याय में सर्वज्ञस्वभाव प्रगट हुआ, उसकी उस ज्ञान-पर्याय में विश्व के समस्त अनन्त ज्ञेय प्रतिबिम्बित होते हैं। ज्ञानस्वभाव व केवलज्ञान पर्याय का ऐसी परिपूर्ण सामर्थ्य है।

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि जितने ज्ञेय उतना ज्ञान, ज्ञेय विशेष नहीं है, इसलिए केवल ज्ञान भी विशेष नहीं हो सकता, अर्थात् जब निमित्त ही नहीं होंगे तो उनको जाननेवाला सर्वज्ञ का ज्ञान किसे जानेगा? निमित्तरूप ज्ञेय हों, तभी तो ज्ञान उन्हें जानेगा न?

उनसे कहते हैं कि अरे भाई! निमित्तों को जानने की बात कहना तो असद्भूत उपचरित व्यवहारनय का विषय है, क्योंकि पर को जाननेवाला ज्ञान पर में तन्मय होकर नहीं जानता। सम्यक मति-श्रुतज्ञान में भी इतनी ताकत है कि परज्ञेय को जानते हुए उसे पर में तन्मय नहीं होना पड़ता। अपने ज्ञान में तद्रूप रहकर अपने को जानता है, उसमें परज्ञेय स्वतः ज्ञात हो जाते हैं। यह तो यथार्थ है, किन्तु परज्ञेयों को जानता है – ऐसा कहना असद्भूत व्यवहार है।

प्रश्नः—सर्वज्ञ पर को असद्भूत व्यवहारनय से जानते हैं और असद्भूत व्यवहारनय का विषय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। क्या इससे यह न

समझा जावे कि "सर्वज्ञ पर को जानते हैं" यह कथन यथार्थ नहीं है ? तथा ऐसी स्थिति में उसमें सर्वज्ञपना भी कैसे संभव है ?

उत्तरः—भाई ! ऐसा नहीं है, ध्यान से सुनो, आत्मा का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव स्वयं का स्वयं से ही (स्वतः) त्रिकाल अनादि निधन है। परज्ञेयों को जाननेवाले ज्ञान का परिणमन स्वयं का स्वय से ही हुआ है, परज्ञेयों के कारण नहीं हुआ। परज्ञेयों को जानने के काल में वस्तुतः परज्ञय नहीं जाने जाते, बल्कि परज्ञेय सम्बन्धी अपना स्व-पर प्रकाशक ज्ञान ही जाना जाता है। परज्ञेय को जाननेवाला ज्ञान परज्ञेयों में तद्रूप नहीं होता, बल्कि अपने में तद्रूप रहकर, परज्ञेयों को भिन्न रखकर जानता है, इसलिए असद्भूत व्यवहारनय से जानता है—ऐसा कहा है, बल्कि यह बात है कि सर्वज्ञशक्ति – स्व-पर प्रकाशकत्व शक्ति स्वयं से है, परज्ञेयों के कारण नहीं।

अरे भाई ! अग्नि किसे नहीं जलाती ? सूखे ईंधन को तो जलाती ही है गीले ईंधन को भी सुखाकर जला देती है, उसी तरह भगवान केवली का परिपूर्ण सामर्थ्य युक्त ज्ञान जो पहले शक्तिरूप था, अब प्रगट हुआ है, वह किसको न जाने। उसकी अमर्यादित सामर्थ्य है। वह स्व-पररूप समस्त लोकालोक को जानता है। एक समय में शक्ति के जो अनन्तानंत अविभागी प्रतिच्छेद हैं, वे सब केवलज्ञान में प्रगट हो गये हैं। जितने प्रथम समय में प्रगट हुए हैं, उतने ही अनंत समयों में होते हैं, उन सबको ज्ञान अपनी एक समय की पर्याय में (सेकिण्ड के असंख्यातवें भाग में) जान लेता है।

जिस तरह केवली लोकालोक को जानते किन्तु हैं, लोकालोक में तद्रूप नहीं होते, उसी तरह ज्ञानी का ज्ञानमय भाव रागादि के साथ मिलकर राग रूप नहीं होता, किन्तु राग से अमिश्रित रहकर ज्ञानमय भाव ज्ञानी के उत्पन्न होता है।

गाथा १६८ के भावार्थ पर प्रवचन

भगवान आत्मा ज्ञान स्वभाव की ऐसी सामर्थ्य से भरपूर चैतन्य बिम्ब है, जो एक समय में लोकालोक को जाने। इसका आश्रय करने से उत्पन्न हुआ रागादिक से अमिश्रित ज्ञानमय भाव पुनः रागादिक के साथ एकमेक नहीं होता, मिश्रित नहीं होता। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के विकल्प से भिन्न जो भेदज्ञान हो गया, वह पुनः उस राग के साथ एकत्व

स्थापित नहीं करता। चाहे शुभ हो या अशुभ हो, राग तो राग ही है और राग मैल है। उस मैल से भिन्न हुआ निर्मल ज्ञानस्वभाव पुनः मैल के साथ एकपना नहीं करता। ज्ञानमयभाव ज्ञानमय ही रहता है, रागमय नहीं होता। भाषा तो सादी है, परन्तु भाव गंभीर है।

देखो, कुन्दकुन्दाचार्य के एक हजार वर्ष बाद हुए अमृतचन्द्राचार्य ने गाथा के भाव का कैसा दोहन किया है – कैसा गजब अर्थ निकाला है। ऐसे गंभीर भावों से भरी कुन्दकुन्द की गाथा की तो बात ही अजब-गजब की है। साथ ही टीकाकार अमृतचंद्र ने भी रहस्योद्घाटन करके कमाल कर दिया है। तभी तो कहा है –

"हुए न हैं न होंहिगे मुनिन्द्र कुन्दकुन्द से"

मंगलाचरण में भी आचार्य कुन्दकुन्द को महावीर स्वामी एवं गणधर के वाद तीसरा स्थान प्राप्त है –

"मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी,
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलं।"

प्रश्नः—कुन्दकुन्दाचार्य की ऐसी महिमा करने से अन्य आचार्यों की अवमानना – अनादर तो नहीं होता ?

उत्तरः—भाई कुन्दकुन्दाचार्य की शैली जिनवाणी के आधार पर – शास्त्रों के आधार से वस्तु स्वरूप को संक्षेप में यथार्थतया स्पष्ट करने की रही। इस कारण वे प्रसिद्ध हो गए हैं। उनकी करुणा का प्रकार ही ऐसा था, अतः ऐसे ग्रंथों को लिखने का भाव जागृत हुआ। अन्य मुनिवर भी अपना कल्याण तो कर गये, उनमें कितने ही तो मोक्ष भी गये हैं। कुन्द-कुन्द भी मोक्ष जावेंगे, किन्तु अर्थ गंभीर – अति स्पष्ट वाणी रह गई है, इससे अपने ऊपर हुआ उनका उपकार जानकर उनकी महिमा की है, इसमें दूसरों के अनादर की बात कहाँ से आ गई ?

आचार्य देवसेन ने "दर्शनसार" ग्रंथ की रचना की है। उसमें उन्होंने कहा है कि महाविदेह क्षेत्र में वर्तमान तीर्थंकर देव श्री सीमंधर स्वामी के पास से मिले हुए दिव्यज्ञान से यदि पद्मनन्दि देव ने (कुन्दकुन्दाचार्य ने) बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चा ज्ञान कैसे प्राप्त करते ? आचार्य देवसेन ज्ञानी थे और उनके गुरु भी ज्ञानी थे, तथापि उन्होंने भी कुन्दकुन्दा-चार्य देव का उपकार माना है, तो क्या इससे अन्य मुनिवरों का अनादर हो गया ? नहीं भाई ! ऐसे अनादर नहीं होता। देखो न, गौतम गणधर के बाद कितने ही मुनि मोक्ष जा चुके हैं, किन्तु गौतम के बाद कुन्दकुन्द का

नाम ही परम्परा में आया है। इससे कहीं उन मुनिराजों का अनादर नहीं होता।

श्रीमद् राजचन्द्र ने भी कहा है कि – कुन्दकुन्दादि आचार्य ! आपके वचन भी स्वरूप के अनुसंधान में इस पामर को उपकारभूत हुए हैं, एतदर्थ मैं आपको अतिशय भक्तिभाव से नमस्कार करता हूँ।

अब कहते हैं कि – इसप्रकार रागादि के साथ एकत्वबुद्धि छूटने की अपेक्षा ज्ञानी के राग में जुड़ान है ही नहीं। जो अस्थिरता है, उसे वह भिन्नपने जानता है। दृष्टि और दृष्टि के विषय की अपेक्षा से जो अल्प बन्ध होता है, वह गौण है, क्योंकि उसके अबद्धस्पृष्ट रूप से परिणमन निरन्तर वर्तता ही रहता है, ज्ञानमयभाव निरन्तर वर्तता रहता है।

अहाहा........! मूल (जड़) कट जाने के बाद जिसतरह पेड़ सूख जाता है, उसीतरह जिसने मिथ्यात्व का मूल छेद दिया है, उस ज्ञानी को राग की परम्परा नहीं बढ़ती; बल्कि समस्त रागादि भाव क्रमशः सूखते ही जाते हैं, नाश ही होते जाते हैं। चौथे गुणस्थान में समकिती को ४१ प्रकृतियों का तो बन्ध ही नहीं होता और अन्य प्रकृतियाँ भी दीर्घ (अनंत) संसार का कारण नहीं होती। सम्यग्दर्शन की ऐसी अनन्त महिमा है।

(शालिनी)

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो
जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान्
एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ॥११४॥

श्लोकार्थ :—[जीवस्य] जीव का [यः] जो [रागद्वेषमोहैः विना] राग-द्वेष-मोह रहित, [ज्ञाननिर्वृत्तः एव भावः] ज्ञान से ही रचित भाव [स्यात्] है और [सर्वान् द्रव्यकर्मास्रव-ओघान् रुन्धन्] जो सर्व द्रव्यकर्म के आस्रव समूह को (अर्थात् थोकबन्ध द्रव्यकर्म के प्रवाह को) रोकनेवाला है, [एषः सर्व-भावास्रवाणाम् अभावः] वह (ज्ञानमय) भाव सर्व भावास्रव के अभावस्वरूप है।

भावार्थ :—मिथ्यात्वरहित भाव ज्ञानमय है। वह ज्ञानमयभाव राग-द्वेष-मोह रहित है और द्रव्यकर्म के प्रवाह को रोकनेवाला है; इसलिये वह भाव ही भावास्रव के अभावस्वरूप है।

संसार का कारण मिथ्यात्व ही है; इसलिये मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादि का अभाव होनेपर, सर्व भावास्रवों का अभाव हो जाता है – यह यहाँ कहा गया है।

कलश ११४ पर प्रवचन

देखो, यह चौथे गुणस्थान की बात चलती है। कहते हैं कि सम्यक्-दर्शन होनेपर जो ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से बना ज्ञानमयभाव, श्रद्धामयभाव स्थिरतामयभाव प्रगट हुआ है, उसमें मिथ्यात्व व दया-दान आदि भावास्रव का अभाव है।

अरे प्रभु ! क्या करें ? लोगों को तो शुभभाव में मोक्ष का कारण-पना नजर आता है, उसे ही मोक्षमार्ग सिद्ध करना चाहते हैं, परन्तु भाई ! ऐसा नहीं है। जो बन्ध है, बन्ध का कारण है, वह मोक्ष का कारण नहीं हो सकता। तथा जो मोक्ष का मार्ग है, वह बन्धन का मार्ग नहीं हो सकता।

अहा ! सत्य को स्वीकार करने में यदि बाहर की इज्जत-आबरू जाती भी हो तो जाने दें। भगवान मेरी आत्मा में इज्जत-आबरू कहाँ है ? जिस भूल में तू अनादि से पड़ा है, उस भूल को मिटाने में इज्जत-आबरू को बीच में क्यों लाता है ? भूल टालने से किसी की इज्जत नहीं जाती, इससे तो तुझे लाभ ही होगा। जबतक तू स्वयं को नहीं जानेगा, तबतक खोटी मान्यता रहेगी। अतः सत्य को स्वीकार करने में प्रतिष्ठा को बीच में नहीं लाना चाहिए।

यहाँ तो कहते हैं कि राग-द्वेष-मोह के बिना ज्ञान से रचा हुआ ज्ञानमयभाव द्रव्यकर्म-जड़कर्म के प्रवाह को रोकनेवाला है, क्योंकि वह भाव सर्व भावास्रव के अभावस्वरूप है। यह जो मिथ्यात्वभाव है, यही मुख्यपने आस्रव है, संसार का कारण है।

कलश ११४ के भावार्थ पर प्रवचन

मिथ्यात्वरहित भाव ज्ञानमय है और मिथ्यात्वसहित भाव अज्ञान-मय है। राग को अपने साथ मिश्रित करना मिथ्यात्वसहित भाव है, अज्ञानमय भाव है और राग को आत्मा के साथ मिश्रित नहीं करना मिथ्यात्वरहित ज्ञानमय भाव है। वह ज्ञानमय भाव ही राग-द्वेष-मोह एवं द्रव्यकर्म के प्रवाह को रोकनेवाला है। ऐसा नहीं है कि भावास्रव नहीं है, इसकारण द्रव्यकर्मों का आस्रव रुका है। द्रव्यकर्मों का प्रवाह आनेवाला था और उसे रोक दिया गया है – ऐसा भी नहीं है, किन्तु जहाँ भावास्रव

नहीं है, वहाँ वास्तव में तो द्रव्यास्रव के प्रवाह का उद्भव ही नहीं होता। व्यवहार की भाषा में इसे ही द्रव्यास्रव को रोक दिया – ऐसा कहा जाता है। इसकारण वस्तुतः ज्ञानमयभाव ही भावास्रव के अभावस्वरूप है और उस ज्ञानमयभाव से द्रव्यास्रव तो होता ही नहीं है।

दया, दान, व्रत आदि एवं काम, क्रोध, विषय-वासना आदि भाव भावास्रव हैं तथा द्रव्यकर्म के रजकण जो आकर आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध करते हैं, वे द्रव्यास्रव हैं।

यहाँ पंडित जयचन्दजी विशेष खुलासा करते हुए कहते हैं कि – संसार का कारण एक मिथ्यात्व ही है, इसकारण मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादिक का अभाव होनेपर सर्व आस्रवों का अभाव हो जाता है, यह यहाँ कहा गया है।

देखो, एक ओर तो कहते हैं कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग बन्ध के कारण हैं और यहाँ दूसरी ओर यह कह रहे हैं कि मिथ्यात्व ही संसार का कारण है, यही बन्ध है; इसका अभिप्राय क्या है?

यहाँ अव्रतादि के परिणामों को अल्प संसार का कारण होने से गौण किया गया है। वैसे देखा जाय तो मुनिराज के छठवें गुणस्थान जैसे उत्कृष्ट शुभभावों को भी "जगपन्थ" कहा है, परन्तु वे परिणाम अनन्त संसार के कारण नहीं हैं। थोड़े से देव व मनुष्य के भव धरेंगे तथा अल्प-काल में मुक्त होंगे – इस अपेक्षा से उन अल्प भवों को गौण किया है। अनन्तानुबंधी के अभावपूर्वक जो स्वरूपाचरण है, वह भी वीतराग अवस्था है और वह शिवपन्थ है।

संसार का कारण, अनन्त नरक-निगोद के भवसिन्धु का कारण तो एक मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व नष्ट होते ही जो अल्प कषाय रह जाती है, उसका अल्पकाल में ही एक-दो भव में ही अभाव हो जाता है। जिस-तरह वृक्ष की जड़ उखड़ जाने के बाद उसके पत्ते सूख जाते हैं, उसीप्रकार मिथ्यात्वरूप संसार की मूल – जड़ सूख जानेपर अल्पकाल में रागादिक का अभाव हो जाता है। यदि मूल – जड़ बनी रहे और सभी पत्ते तोड़ भी दें तो जिसतरह पुनः नये पत्ते आ जाते हैं, उसीतरह मिथ्यात्व के रहते संसार का अभाव नहीं होता, अनन्त काल तक राग की परम्परा चलती ही रहती है। इसलिये यहाँ कहते हैं कि आत्मार्थी को सर्वप्रथम मिथ्यात्व का अभाव करने योग्य है। भाई! जिसकी श्रद्धा सत्य नहीं है, उसके व्रत, तपादि सच्चे नहीं होते।

अथ ज्ञानिनो द्रव्यास्रवाभावं दर्शयति —

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स ।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स ॥१६९॥

पृथ्वीपिंडसमानाः पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययास्तस्य ।
कर्मशरीरेण तु ते बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः ॥१६९॥

ये खलु पूर्वमज्ञानेन बद्धा मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा द्रव्यास्रवभूताः प्रत्ययाः, ते ज्ञानिनो द्रव्यांतरभूता अचेतनपुद्गलपरिणामत्वात् पृथ्वीपिंड-

---

अब, यह बतलाते हैं कि ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव है —

जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते हैं ज्ञानिके ।
वे पृथ्वीपिंड समान हैं, कार्माणशरीर निबद्ध हैं ॥१६९॥

गाथार्थ :—[तस्य ज्ञानिनः] उस ज्ञानी के [पूर्वनिबद्धाः तु] पूर्वबद्ध [सर्वे अपि] समस्त [प्रत्ययाः] प्रत्यय [पृथ्वीपिण्डसमानाः] मिट्टी के ढेले के समान हैं [तु] और [ते] वे [कर्मशरीरेण] (मात्र) कार्मण शरीर के साथ [बद्धाः] बँधे हुए हैं ।

टीका :—जो पहले अज्ञान से बँधे हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं, वे अन्यद्रव्यस्वरूप प्रत्यय अचेतन पुद्गलपरिणामवाले हैं, इसलिये ज्ञानी के लिये मिट्टी के ढेले के समान हैं (जैसे मिट्टी आदि पुद्गलस्कन्ध हैं, वैसे ही ये प्रत्यय हैं); वे तो समस्त ही, स्वभाव से ही मात्र कार्माण शरीर के साथ बँधे हुए हैं — सम्बन्धयुक्त हैं, जीव के साथ नहीं; **इसलिये ज्ञानी के स्वभाव से ही द्रव्यास्रव का अभाव सिद्ध है ।**

भावार्थ :—ज्ञानी के जो पहले अज्ञानदशा में बँधे हुए मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं, वे तो मिट्टी के ढेले की भाँति पुद्गलमय हैं; इसलिये वे स्वभाव से ही अमूर्तिक चैतन्यस्वरूप जीव से भिन्न हैं । उनका बन्ध अथवा सम्बन्ध पुद्गलमय कार्माण शरीर के साथ ही है, चिन्मय जीव के साथ नहीं,

समानाः। ते तु सर्वेऽपि स्वभावत एव कार्माणशरीरेणैव संवद्धा, न तु जीवेन। अतः स्वभावसिद्ध एव द्रव्यास्रवाभावो ज्ञानिनः।

इसलिये ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव तो स्वभाव से ही है। (और ज्ञानी के भावास्रव का अभाव होने से द्रव्यास्रव नवीन कर्मों के आस्रवण के कारण नहीं होते, इस दृष्टि से भी ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव है।)

गाथा १६६ पर प्रवचन

देखो, यहाँ आचार्य कहते हैं कि राग की एकत्वबुद्धि से उत्पन्न हुए मिथ्यात्वभाव – अज्ञानभावपूर्वक राग-द्वेष वन्ध के कारण बनते हैं। ज्ञाता-दृष्टास्वभावी भगवान आत्मा का स्वभाव पुण्य परिणाम करना नहीं है, यह तो अज्ञानभाव है। इसी अज्ञानभावपूर्वक हुए कषायभाव, मिथ्यात्वादि वन्ध के कारण हैं।

किन्तु जिसने अपने ज्ञायक-तत्त्व को राग से भिन्न किया एवं पर्याय में ज्ञान व आनन्द का स्वाद लिया है, उस धर्मी को पूर्व में अज्ञान से वँधे हुए जो जड़कर्म परमाणु अथवा दर्शनमोह का थोड़ा सा अंश जो कि क्षयोपशम सम्यक्त्व के होने पर भी रहते हैं; वे तथा अविरति, कषाय व योगरूप द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं, किन्तु वे अन्यद्रव्यस्वरूप प्रत्यय अचेतन पुद्गलपरिणामवाले होने से ज्ञानी की दृष्टि में मिट्टी के ढेले के समान हैं। जिस तरह मिट्टी का ढेला अजीव है, ज्ञेय है; उसीतरह वे कर्मप्रत्यय भी अजीव हैं, ज्ञेय हैं। जिस तरह मिट्टी का ढेला पुद्गल स्कन्ध है; उसीतरह कर्म भी पुद्गल स्कन्ध हैं।

वे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग के परमाणु जो जड़ – अचेतन हैं, वे मात्र कार्माण शरीर के साथ वँधे हुए हैं, जीव के साथ नहीं। मिथ्यात्वादि जड़प्रत्ययों का आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है तथा पर्याय में द्रव्यकर्म के साथ जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, ज्ञानियों ने उस सम्बन्ध का विच्छेद कर लिया है अर्थात् द्रव्यकर्म का पुद्गल कार्माण शरीर के साथ ही कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध है। त्रिकाल चैतन्यघन स्वरूप भगवान आत्मा का द्रव्यकर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है। ज्ञानी को वर्तमान पर्याय में जो द्रव्यकर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, उसने उसे भी तोड़ लिया है। इसकारण सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्वप्रकृति कदाचित् सत्ता में होवे, तथापि उस प्रकृति के परमाणुओं का कार्माण शरीर के साथ

सम्बन्ध है, जीव के साथ नहीं। ज्ञानी का द्रव्यास्रव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव स्वभाव से ही है।

जिसतरह शरीर, वाणी, स्त्री-कुटुम्ब-परिवार आदि परपदार्थ पर ही हैं, इनके साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, उसीतरह ज्ञानी को द्रव्यास्रवों से कोई सम्बन्ध नहीं। परवस्तु अपने-अपने कारण द्रव्य-गुण रूप से कायम रहकर पर्याय में पलट रही है। शरीर अपने द्रव्य-गुणों में अपनी पर्याय पलट कर रह रहा है। शरीर अपने द्रव्य-गुण में अपनी पर्याय कर रहा है। अन्य आत्मा, अन्य शरीर अथवा पुद्गल अपने-अपने द्रव्य-गुण में अपनी-अपनी पर्याय करके रह रहे हैं। कार्माण शरीर भी अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में रहते हैं। कर्मपरमाणु आत्मा की पर्याय में नहीं आते। भाई! आत्मा का व पर पदार्थों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए जिसको ज्ञायकमूर्ति भगवान आत्मा का आश्रय हुआ है, उस ज्ञानी को द्रव्यास्रव का अभाव स्वभाव से ही सिद्ध है, क्योंकि परमाणुओं का सम्बन्ध जड़ के साथ ही है।

अब "भेदाभेदरत्नत्रय मोक्ष का कारण है" इस बात का स्पष्टीकरण करते हैं।

देखो, भेदरत्नत्रय राग है। जिसको शुद्ध चिदानन्दघन भगवान आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान व स्वरूपाचरण प्रगट हुआ है – ऐसे निश्चय दृष्टिवंत को भेदरत्नत्रयरूप शुभराग आता है। उसे निश्चय अभेद रत्नत्रय का सहकारी जानकर व्यवहार से मोक्ष का कारण कहा है। भेदरत्नत्रय राग होने से है तो बन्ध का ही कारण, वास्तविक मोक्ष का कारण जो अभेदरत्नत्रय है, उसके सहचरपने ऐसा ही राग होता है, इसकारण आरोप से उसे व्यवहार से मोक्ष का कारण कहा जाता है। निश्चय से अभेदरत्नत्रय ही एकमात्र मोक्ष का कारण है, तथापि जिसे निश्चयदृष्टि हुई है एवं कर्त्ताबुद्धि छूट गई है, उसे भूमिकानुसार भेदरत्नत्रय का राग भी आता है। उस भेदरत्नत्रय के परिणाम पर अभेदरत्नत्रय का आरोप करके व्यवहार से मोक्ष का कारण कहा जाता है।

भाई! आत्मा क्या वस्तु है? इस बात का जिसको पता नहीं है – ऐसे अज्ञानी को तो देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग व्यवहार नाम भी नहीं पाता, क्योंकि वह तो व्यवहाराभास है। ज्ञानी को जो राग होता है, उसे

वह मात्र जानता है, करता नहीं है तथा ज्ञाता जीव की जो दृष्टि व स्थिरता अन्दर में हुई है, वही वास्तविक मोक्ष का कारण है।

गाथा १६६ के भावार्थ पर प्रवचन

द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय ज्ञानी के द्रव्यस्वभाव में तो है ही नहीं, किन्तु उसकी पर्याय में भी इनका अभाव है। जैसा पर्याय में राग-द्वेष का सम्बन्ध है, वैसा पर्याय में कर्म का सम्बन्ध नहीं है। उसका बन्ध व सम्बन्ध पुद्गल-कार्माण शरीर के साथ ही है, चिन्मय जीव के साथ नहीं। भगवान आत्मा तो प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप चैतन्यमय ही है, इसके साथ जड़ – अचेतन कर्म का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

लौकिक में यह कहा जाता है कि यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, ये हमारे निकट सम्बन्धी हैं, इनसे हमारा पुराना सम्बन्ध है; किन्तु भाई! वास्तव में कौन किसका पिता और कौन किसका पुत्र? तेरा सम्बन्ध तो केवल राग-द्वेष व विकारभाव से है। वह भी मात्र अज्ञानदशा में। ज्ञानदशा में तो वह भी राग के रिश्ते हैं, अहाहा.........! चैतन्य-भगवान आनन्द के नाथ को जहाँ राग के कर्तृत्वभाव से भिन्नता का भान हुआ, वहीं से इसका जड़कर्म के साथ एवं भावास्रव के साथ का सम्बन्ध छूट जाता है।

ज्ञानी के भावास्रव का अभाव होने से द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय नवीन कर्म के आस्रव के कारण नहीं होते। जड़कर्म उदय में आते हैं, किन्तु मिथ्यात्व व तत्सम्बन्धी राग-द्वेषरूप भावास्रव नहीं है, अतः पुराना कर्म नवीन बन्ध का करण नहीं होता। पहले यह बात आ चुकी है कि जड़कर्म वास्तविक आस्रव हैं तथा नवीन बन्ध के कारण हैं, किन्तु केवल उन्हें, जो मिथ्यात्व व राग-द्वेपरूप परिणमन करते हैं। यदि मिथ्यात्व व राग नहीं करे तो वह कर्म का उदय नवीन आस्रव का कारण नहीं होता। इसकारण इस अपेक्षा से भी ज्ञानी को द्रव्यास्रव का अभाव है।

एक तो द्रव्यास्रव पुद्गल हैं, इसकारण सम्बन्ध नहीं है, तथा दूसरे ज्ञानो के भावास्रव का अभाव है, इस कारण द्रव्यास्रव बन्ध का कारण नहीं होने से ज्ञानी के द्रव्यकर्म नहीं है। इसप्रकार ज्ञानी को द्रव्यास्रव का '। ही है।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(उपजाति)

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो
द्रव्यास्रवेभ्य: स्वत एव भिन्न: ।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो
निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥११५॥

श्लोकार्थ :—[भावास्रव-अभावम् प्रपन्न:] भावास्रवों के अभाव को प्राप्त और [द्रव्यास्रवेभ्य: स्वत: एव भिन्न:] द्रव्यास्रवों से तो स्वभाव से ही भिन्न [अयं ज्ञानी] ज्ञानी – [सदा ज्ञानमय-एक-भाव] जो कि सदा एक ज्ञानमय भाववाला है – [निरास्रव:] निरास्रव ही है, [एक: ज्ञायक: एव] मात्र एक ज्ञायक ही है ।

भावार्थ:—ज्ञानी के राग-द्वेष-मोहस्वरूप भावास्रव का अभाव है और वह द्रव्यास्रव से तो सदा ही स्वयमेव भिन्न ही है, क्योंकि द्रव्यास्रव पुद्‌गल-परिणामस्वरूप है और ज्ञानी चैतन्यस्वरूप है । इसप्रकार ज्ञानी के भावास्रव तथा द्रव्यास्रव का अभाव होने से वह निरास्रव ही है ।

कलश ११५ पर प्रवचन

जिसको राग का कर्तृत्व छूटकर निज आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का अनुभव हुआ, उस धर्मात्मा ने भावास्रव का अभाव कर दिया है । सम्यग्दृष्टि के भावास्रव का अर्थात् मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी राग-द्वेष का अभाव ही है – यह नास्ति से कहा । यदि अस्ति से कहें तो धर्मी जीव ने अपने त्रिकाल ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा को प्राप्त कर लिया है ।

अज्ञानी अनादि से राग-द्वेष-मोहरूप – भावास्रवरूप हो रहा था । ये राग-द्वेष मेरे कर्तव्य हैं, अनादि से ऐसा कर्त्तापना मान रहा था । अब कर्त्तापना त्याग करके वही जीव ऐसा मानने लगता है कि – "मैं तो परमानन्द का नाथ शुद्ध चैतन्यघन प्रभु एकमात्र ज्ञाता-दृष्टास्वभावी हूँ और सारा जगत मात्र ज्ञेय है, दृश्य है" तथा ऐसा विचार करता हुआ अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप को ध्येय बनाकर उसमें अन्तर्लीन होता है, तब वह भावास्रव का अभाव करता हुआ ज्ञानी होता है ।

अनादि से जो पुण्य-पाप के भावरूप आस्रवभाव को प्राप्त हो रहा है, वह अज्ञानी है । जो वस्तु स्वयं से भिन्न है, उसेजो अपनी मानता है,

एवं तदर्थ विपरीत पुरुषार्थ करता है, वह जीव अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि है। भाई ! ज्ञानी हो या अज्ञानी – किसी का कोई भी कार्य बिना पुरुषार्थ के नहीं होता। पुद्‌गल परमाणु में भी उसका परिणमन कार्य उसकी वीर्य-शक्ति के कारण होता है। आत्मा की तरह परमाणु में भी वीर्यशक्ति है। अज्ञानी भिन्न वस्तु को अपनी मानता है, किन्तु वास्तविक रूप में ऐसा है भी नहीं और ऐसा होना संभव भी नहीं है, तो भी अज्ञानी उन्हें अपनी मानता है व राग-द्वेष करता है। अज्ञानी का ऐसा विपरीत पुरुषार्थ चलता है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने लिखा है कि – दिगम्बराचार्य ऐसा कहते हैं कि जीव का मोक्ष नहीं होता, बल्कि मोक्ष उसके द्वारा जाना जाता है। अहाहा········! जो भगवान आत्मा चिदानन्दघन प्रभुस्वरूप है, अनाकुल शान्त एवं आनन्दरसरूप अमाप-प्रमाण – बेहद गम्भीर स्वभाववाला है, उस भगवान आत्मा का मोक्ष नहीं होता। पहले अज्ञान दशा में जीव की यह मान्यता थी कि मैं राग से बंधा हूँ, ज्ञान होने पर ऐसा समझने लगा कि मैं स्वभाव से तो त्रिकाल मोक्षस्वरूप ही हूँ। आत्मा तो सदा राग से भिन्न-स्वरूप ही है, किन्तु जब यह अन्तर में ऐसा समझे तब न ! ज्ञायक को ऐसा मुक्तस्वरूप – अबद्धस्वरूप देखना ही जैनशासन है। ज्ञानी ने पर्याय में ऐसे जैनशासन को प्राप्त कर लिया है।

समयसार गाथा १४ एवं १५ में भी आया है कि आत्मा अबद्धस्पृष्ट है। अहा ! जब यह जीव राग से भी बंधा नहीं है तो फिर कर्म से बंधा है – यह बात ही कहाँ रही ? जिसतरह सूखे नारियल में गोला नरेटी से छूटा होता है, उसीतरह भगवान आत्मा राग व कर्म से छूटा है।

प्रवचनसार की २००वीं गाथा में ऐसा आता है कि अनादि संसार से ज्ञायक ज्ञायकभावरूप से ही रहता है। अनेक ज्ञेयों को जाननेरूप से परिणमन करता हुआ भी सहज अनन्त शक्तिवाले ज्ञायकस्वभाव से एकरूपता को नहीं छोड़ता। अज्ञानी जीवों को मोह के कारण अन्यथा अध्यवसान होता है। अहाहा·········! भगवान आत्मा तो सदा निर्मला-नन्द सच्चिदानन्द प्रभु है, सत् अर्थात् शाश्वत् ज्ञान व आनन्द का पिण्ड है। ध्रुव-ध्रुव-ध्रुव ! यानि अनादि-अनन्त ज्ञायकभाव ज्ञायकभावरूप से ही है। परज्ञेयों को जानता हुआ भी शुद्धतत्त्व परज्ञेयरूप हुआ नहीं है, है नहीं और होगा भी नहीं।

यह बात समझने का लोगों को अवसर ही नहीं मिला, इसकारण बिचारे व्रत-उपवास, तीर्थयात्रा, पूजन-भक्ति आदि बाह्य क्रियाओं में ही संतुष्ट हो गये हैं, परन्तु भाई ! ये सब जड़ की क्रियायें तो अपने-अपने समय में तत्समय की योग्यतानुसार हुआ करती हैं। यदि उनके उसप्रकार के परिणमन के काल में जीव शुभभाव करे तो पुण्यबंध होता है, किन्तु धर्म नहीं होता। परद्रव्य की क्रिया के काल में राग का निमित्त होता तो अवश्य है, किन्तु वह निमित्त जीव में कुछ करता नहीं है; क्योंकि निमित्त निमित्तरूप से होता है, किन्तु निमित्त परद्रव्य में कुछ कार्य करे – ऐसी योग्यता उसमें नहीं है। लोगों को अनादि से कर्माधीन दृष्टि के कारण ऐसा लगता है कि जब कर्म का उदय निमित्त रूप में होता है तो आत्मा में विकार होता है, अतः उपरोक्त कथन उन्हें अटपटा लगता है; परन्तु उनकी यह मान्यता ही ठीक नहीं है। उपादान की तत्समय की वैसा होने की स्वयं की वसी योग्यता थी, सो वैसा हुआ है, कर्म के कारण नहीं।

प्रश्न :—पंडित बनारसीदास के 'बनारसी विलास' में ऐसा कथन आता है कि – "परमात्मा की दिव्यध्वनि से आत्मा को ज्ञान होता है" जिसका मूल पद्य प्रकार है—

"ऊंकार धुनि सुनि, अर्थ गणधर विचारे,
रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारैं"

इस कथन का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर : भाई ! निमित्त की मुख्यता से ऐसा ही कहा जाता है। जब जीव स्वयं अपने पुरुषार्थ से संशय टालता है, तब स्वयं से हुए यथार्थ ज्ञान में वाणी को निमित्त कहा जाता है। वस्तुत: तो भगवान ज्ञायक की अन्तर्दृष्टि करने पर जो ज्ञान हुआ, वही संशयरहित यथार्थ ज्ञान है। वह स्वभाव के पुरुषार्थ से स्वतः हुआ है, निमित्त से नहीं।

कहा भी है —

"जिन सो ही हैं आत्मा, अन्य सोई है कर्म।
इसी वचन से समझलें, जिन प्रवचन का मर्म ॥"

भगवान त्रिलोकीनाथ की वाणी का यह मर्म है कि – रागादि भी अन्य कर्म हैं, आत्मा नहीं। भाई ! जैनशासन कोई बाड़ा नहीं है, वस्तु का स्वरूप है। भगवान ! तू मुक्तस्वरूप है। जिस शुद्धोपयोग में आत्मा मुक्त-स्वरूप जाना गया, दिखाई दिया, वह शुद्धोपयोग ही जैनशासन है।

ऐसे जैनशासन को तो जाना नहीं, सूक्ष्मतत्त्व होने से यह सहजता से समझ में भी नहीं आता तथा दया, दान, भक्ति आदि चिरपरिचित होने से झट समझ में आ जाते हैं, सहज लगते हैं, अतः उनमें अटक जाता है; परन्तु भाई ! ये सब तो बाह्य क्रियायें हैं। यदि जन्म-मरण का अभाव करना हो तो वह इन क्रियाओं से नहीं होगा। भगवान आत्मा को समझे बिना तथा अन्तर्दृष्टि किये बिना सभी जीव अनादि से दुःखी हैं। शान्तरस के समुद्र भगवान आत्मा को भूलकर कषाय की अग्नि में जल रहा है।

छहढाला में आता है न –

"यह राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइए।
चिरभजे विषय-कषाय अब तो त्याग निजपद वेइए ॥"

भाई ! तूने अनन्त कालतक विषय-कषाय का सेवन किया, अब उन्हें त्यागकर अन्तर्दृष्टि कर ! अपने अन्दर विकारी परिणाम होते हैं, ज्ञानी जन उन्हें छोड़ने के लिए कहते हैं। पर का सेवन करना व छोड़ना तो अपनी सीमा में ही नहीं आता; क्योंकि आत्मा परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से शून्य है। आत्मा में त्यागोपादानशून्यत्व नाम की एक ऐसी शक्ति है, जिसके कारण आत्मा कभी भी परद्रव्य का ग्रहण-त्याग नहीं करता। यहाँ तो यह कहते हैं कि – अपने ही अन्दर में विषय-कषाय से भी रहित आनन्द का नाथ भगवान आत्मा विद्यमान है। एकबार तू इसकी सेवा में आजा, इससे तुझे अवश्य आनन्द की प्राप्ति होगी, सुख होगा और अन्तर में से ऐसी झनकार आएगी कि 'मैं अल्पकाल में ही मुक्ति प्राप्त करूँगा।'

अहा ! जिसने स्वज्ञेय को पकड़ लिया है, जान लिया है, फिर भले ही मति-श्रुतज्ञान ही क्यों न हो, सम्यग्ज्ञान है, अतः भावास्रव से रहित हो गया। अब कहते हैं कि – सम्यक् मति-श्रुतज्ञान केवलज्ञान को बुलाता है अर्थात् सम्यग्ज्ञान केवलज्ञान प्राप्त होने का कारण है।

प्रश्न :—बाह्य के मन्दिर आदि बनवाने से एवं पंचकल्याणक आदि करवाने से भी तो धर्मप्रभावना होती है न ?

उत्तर :—भाई ! शुद्ध स्वभाव में एकाग्रतापूर्वक विज्ञानघनस्वभाव की पर्याय में वृद्धि होना निश्चय प्रभावना है। जिन्हें यह निश्चय प्रभावना प्रगट हुई है, उन जीवों के उक्त जाति के शुभभाव को व्यवहार प्रभावना कहते हैं। बाह्य में इस शुभभाव के साथ मन्दिर बनने आदि की क्रिया हुई है, उसमें इस जीव का कोई कर्तृत्व नहीं है; क्योंकि कोई द्रव्य परद्रव्य में

कुछ भी नहीं कर सकता – ऐसा वस्तु का स्वभाव है, परन्तु अज्ञानी केवल वाह्य में ही कुछ करने में व्यवहार प्रभावना मानता है। ऐसे अज्ञानी का शुभभाव भी व्यवहार प्रभावना नहीं है।

इसप्रकार भावास्रव के अभाव को प्राप्त और द्रव्याश्रवों से स्वभाव से ही सर्वथा भिन्न यह ज्ञानी सदा एक ज्ञानमय भाववाला होने से निरास्रव ही है।

यह वात मिथ्यात्व व अनन्तानुवंधी कषाय के अभाव की अपेक्षा से जानना। उस समय अस्थिरता का जो राग है, उसे भी स्वभाव के अवलम्बन से टालने का निरन्तर प्रयत्न है, इसकारण उसे यहाँ गौण करके "ज्ञानी निरास्रव ही है" ऐसा कहा है। तथा मात्र एक ज्ञायक ही है अर्थात् ज्ञानी तो केवल स्व का ज्ञाता-दृष्टा ही है, पर का नहीं। परज्ञेय तो ज्ञान के निर्मल स्वभाव में सहज आ जाते हैं, क्योंकि आत्मा स्व-पर प्रकाशक स्वभाववाला है, इस अपेक्षा पर का भी ज्ञाता-दृष्टा कहा जाता है। वास्तव में तो आत्मा केवल जाननेवाले को जानता है।

कलश ११५ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, जड़ द्रव्यास्रव से तो वस्तुत: अज्ञानी भी भिन्न ही है, किन्तु उस की मान्यता इससे विपरीत है। वह मानता है कि – "मुझ में और द्रव्यकर्म में सम्बन्ध है, जबकि द्रव्यास्रव पुद्‌गलपरिणामस्वरूप है और वह चैतन्यस्वरूप है, इसकारण ज्ञानी द्रव्यास्रव से स्वभाव से ही भिन्न है।

इसप्रकार यहाँ ज्ञानी को मिथ्यात्व व अनन्तानुवंधी कषाय के अभाववाला होने से एवं समकित व स्वरूपस्थिरतावाला होने से निरास्रव कहा है। कोई एकान्त से ऐसा मान बैठे कि उसे आस्रव का अस्तित्व ही नहीं है, सो ऐसा नहीं है।

वापू! यह अनन्त काल से अपरिचित वात है। अनादि काल आजतक ऐसी "वस्तुस्वातंत्र्य" की वात सुनी ही नहीं। ज्ञानी तो त्रिकाल निरास्रव ही है। वह अल्प काल में मुक्ति प्राप्त करेगा, क्योंकि उसने अपने निरास्रव स्वभाव को पहचान लिया है। अवतक वाह्य क्रियाओं में या राग में ही अटका था, यही इसकी वड़ी भारी भूल थी। इसी भूल से संसार में परिभ्रमण होता था, स्वभाव की पहचान होने से अव वह भ्रम भंग हो गया है।

समयसार गाथा १७०

कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत्—

चउविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं ।
समए समए जम्हा तेण अबंधो ति णाणी दु ॥१७०॥

चतुर्विधा अनेक भेदं बध्नंति ज्ञानदर्शनगुणाभ्याम् ।
समये समये यस्मात् तेनाबंध इति ज्ञानी तु ॥१७०॥

ज्ञानी हि तावदास्रवभावभावनाभिप्रायाभावान्निरास्रव एव । यत्तु तस्यापि द्रव्यप्रत्ययाः प्रतिसमयमनेकप्रकारं पुद्गलकर्म बध्नंति, तत्र ज्ञानगुणपरिणाम एव हेतुः ।

अब यह प्रश्न होता है कि ज्ञानी निरास्रव कैसे है ? उसके उत्तर-स्वरूप गाथा कहते हैं :—

चउविधास्रव समय समय जु, ज्ञानदर्शन गुणहिसे ।
बहु भेद बाँधे कर्म, इससे ज्ञानि बंधक नाहि है ॥१७०॥

गाथार्थ :—[यस्मात्] क्योंकि [चतुर्विधा] चार प्रकार के द्रव्यास्रव [ज्ञानदर्शनगुणाभ्याम्] ज्ञान-दर्शन गुणों के द्वारा [समये समये] समय-समय पर [अनेक भेदं] अनेक प्रकार का कर्म [बध्नंति] बाँधते हैं, [तेन] इसलिये [ज्ञानी तु] ज्ञानी तो [अबंधः इति] अबन्ध है ।

टीका :—पहले, ज्ञानी तो आस्रवभाव की भावना के अभिप्राय के अभाव के कारण निरास्रव ही है, परन्तु जो उसे भी द्रव्यप्रत्यय प्रति समय अनेक प्रकार का पुद्गलकर्म बाँधते हैं, वहाँ ज्ञानगुण का परिणमन ही कारण है ।

गाथा १७० एवं उसकी टीका पर प्रवचन

यहाँ शिष्य पूछता है कि ज्ञानी निरास्रव कैसे है ? उसके उत्तर में यह गाथा कही गई है ।

यहाँ कहते हैं कि – जिसे शुद्ध चिदानन्दस्वरूप अखण्ड एक ज्ञायक-स्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि व अनुभव हुआ है, वह ज्ञानी है, धर्मी है। उसे मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय का अभाव है। चाहे वह दया-दान-भक्ति-व्रत आदि का शुभभाव हो अथवा हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-कषाय के अशुभभाव हों – दोनों ही भावास्रव हैं और ज्ञानी इन भावों से रहित है एवं जड़कर्म अर्थात् द्रव्यास्रव से तो स्वभाव से ही भिन्न है। यह बात पीछे भी आ चुकी है। यहाँ तो शिष्य यह पूछता है कि क्या ज्ञानी हो जाने मात्र से निरास्रव हो जाता है ?

समाधान करते हुए टीकाकार आचार्य कहते हैं कि धर्मी जीव के पुण्य-पापरूप आस्रवभाव करने के अभिप्राय का अभाव है। "आस्रवभाव करने लायक है" – ऐसे अभिप्राय से ज्ञानी रहित हो गया है, इसकारण उसे *निरास्रव कहा गया है। गजब बात है भाई! कहते हैं कि* – जिसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप पूर्णानंद के नाथ भगवान आत्मा की श्रद्धा, रुचि एवं आश्रय हुआ है, उसको शुद्ध चैतन्यस्वभाव की एकाग्रता की भावना में पुण्य-पाप की भावना का अभाव है। अहा.........! जो भगवान सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में आयी थी, वही बात यहाँ कुन्दकुन्द देव ने कही है।

आचार्य कहते हैं कि चौरासी के जन्म-मरण का चक्कर मिटाने का एकमात्र उपाय अन्तर में विराजमान पूर्णानन्द का नाथ शुद्ध चिदानन्दघन-स्वरूप परमात्मा की दृष्टि, रुचि एव अभिप्राय में उसका बस जाना ही है। धर्म का प्रथम सोपान सम्यग्दर्शन है, यहीं से धर्म की शुरुआत होती है।

निमित्त, राग व अल्पज्ञता की उपेक्षा एवं पूर्ण सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा की अपेक्षापूर्वक शुद्धात्मा का अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दृष्टि जानता है कि मैं शरीर-मन-वाणी, पुण्य-पाप एवं अल्पज्ञ स्वरूप नहीं हूँ, मैं तो चैतन्यरसकंद परिपूर्ण सर्वज्ञस्वभावी भगवान हूँ। भगवान को जो पर्याय में सर्वज्ञपना प्रगट है, वह अन्तर में पड़े हुए सर्वज्ञ स्वभाव के आश्रय से एवं उसकी प्रतीति पूर्वक परिपूर्ण एकाग्रता करने से प्रगट हुआ है।

यहाँ कहते हैं कि पूर्व के जड़कर्म उदय में आने पर ज्ञानी को थोड़े नवीन कर्म बंधते हैं, उसमें ज्ञानगुण का जघन्य परिणमन ही कारण है अर्थात् ज्ञानी जीव के ज्ञानगुण की क्षयोपशम दशा ही बन्ध का कारण

है, आत्मवस्तु एवं उसकी दृष्टि बन्ध का कारण नहीं है। वर्तमान पुरुषार्थ की हीनता के कारण क्षयोपशमज्ञान की जो हीन दशा परिणमित हो रही है, वही बन्ध का कारण है।

अहो ! सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक वस्तु है। दुनियाँ देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को अथवा नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा को सम्यग्दर्शन मानती है, किन्तु यह मान्यता अयथार्थ है। महाविदेह क्षेत्र में साक्षात् सर्वज्ञ परमात्मा विराजते हैं। वे ऐसा कहते हैं कि जिसे दृष्टि में अपने शुद्ध चैतन्यमय भगवान आत्मा की स्वीकृति आई है, आदरभावना उत्पन्न हो गई है, उस ज्ञानी के अभिप्राय में आस्रव उत्पन्न करनेवाला भाव तो छूट गया है, किन्तु फिर भी जो अल्प कर्मबन्ध होता है, वहाँ पूर्व कर्म के उदय में वर्तमान में ज्ञान कि परिणति की कमजोरी के कारण होता है। अर्थात् ज्ञानगुण की हीन-क्षयोपशम दशा ही ज्ञानी के कर्मबन्ध का कारण है यह हीन दशा सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है अथवा सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है।

तेई भवसागर तरैं जीव

समुझैं न ग्यान कहैं करम कियेसौं मोख,
ऐसे जीव विकल मिथ्यात की गहलमैं।
ग्यान पच्छ गहैं कहैं आतमा अबंध सदा,
बरतैं सुछंद तेऊ बूडे हैं चहलमैं॥
जथा जोग करम करैं पैं ममता न धरैं,
रहैं सावधान ग्यान ध्यान की टहलमैं।
तेई भव सागर के ऊपर ह्वै तरैं जीव,
जिन्हिको निवास स्यादवाद के महलमैं॥१५॥

— समयसार नाटक, पुण्य-पाप एकत्वद्वार

कथं ज्ञानगुणपरिणामो बंधहेतुरिति चेत्—

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि ।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७१॥

यस्मात्तु जघन्यात् ज्ञानगुणात् पुनरपि परिणमते ।
अन्यत्वं ज्ञानगुणः तेन तु स बंधको भणितः ॥१७१॥

ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भावः तावत् तस्यान्तर्मुहूर्तविपरिणामित्वात् पुनः पुनरन्यतयास्ति परिणामः । स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात् ।

अब यह प्रश्न होता है कि ज्ञानगुण का परिणमन बन्ध का कारण कैसे है ? उसके उत्तर की गाथा कहते हैं :—

जो ज्ञानगुण की जघनता में, वर्तता गुण ज्ञान का ।
फिर फिर प्रणमता अन्यरूप जु, उसहि से बंधक कहा ॥१७१॥

गाथार्थ :—[यस्मात् तु] क्योंकि [ज्ञानगुणः] ज्ञानगुण, [जघन्यात् ज्ञानगुणात्] जघन्य ज्ञानगुण के कारण [पुनरपि] फिर से भी [अन्यत्वं] अन्यरूप से [परिणमते] परिणमन करता है, [तेन तु] इसलिये [सः] वह (ज्ञानगुण) [बंधकः] कर्मों का बन्धक [भणितः] कहा गया है ।

टीका :—जबतक ज्ञानगुण का जघन्य भाव है (क्षायोपशमिक भाव है), तबतक वह (ज्ञानगुण) अन्तमुहूर्त में विपरिणाम को प्राप्त होता है, इसलिये पुनः पुनः उसका अन्यरूप परिणमन होता है । वह (ज्ञानगुण का जघन्यभाव से परिणमन) यथाख्यातचारित्र अवस्था के नीचे अवश्यम्भावी राग का सद्भाव होने से, बन्ध का कारण ही है ।

भावार्थ :—क्षायोपशमिकज्ञान एक ज्ञेय पर अंतर्मुहूर्त ही ठहरता है, फिर वह अवश्य ही अन्य ज्ञेय को अवलम्बता है; स्वरूप में भी वह अंतर्मुहूर्त ही टिक सकता है, फिर वह विपरिणाम को प्राप्त होता है,

इसलिये ऐसा अनुमान भी हो सकता है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा सविकल्प दशा में हो या निर्विकल्प अनुभवदशा में हो, उसे यथाख्यातचारित्र अवस्था होने से पूर्व अवश्य ही रागभाव का सद्भाव होता है और राग होने से बन्ध भी होता है, इसलिये ज्ञानगुण के जघन्यभाव को बन्ध का हेतु कहा गया है।

गाथा १७१, उसकी टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

अब यहाँ शिष्य पुनः पूछता है कि ज्ञानगुण का परिणमन बंध का कारण किसप्रकार है? इसी के उत्तर में आचार्यदेव ने यह गाथा कही है।

वे कहते हैं कि अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी को निरास्रव कहा, परिणति में तो उसे अस्थिरता की कमजोरी का राग – आस्रवभाव है तथा उतना बन्ध भी है। ज्ञानी के ज्ञान की परिणति जबतक केवलज्ञानपने प्रगट नहीं होती है अर्थात् जबतक ज्ञानगुण जघन्यभाव से (अल्पभाव से) परिणमित होता है, तबतक वह विपरिणाम को पाता ही है। आत्मा स्वयं स्वभाव से तो ज्ञानस्वरूप चिदानन्द भगवान परमात्मा है तथा ज्ञानी को ऐसे भानपूर्वक शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव भी हुआ है, किन्तु अन्तर्ध्यान में अर्थात् आत्मा के अनुभव की दशा में तो यह अन्तर्मुहूर्त ही रह सकता है; इसकारण ध्यान में तो विशेष रह नहीं सकता, उस स्थिति में ज्ञानी को भी विकल्प उठते हैं, चाहे वे विकल्प व्रतादि के हों या विषय-कषाय के, राग तो आता ही है। वहाँ ज्ञानगुण का जघन्य परिणमन होने से अन्तर्मुहूर्त काल में उसका विपरिणमन हो ही जाता है अर्थात् राग का परिणमन आ ही जाता है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो तो भी निर्विकल्प अनुभव में आने के बाद अन्तर्मुहूर्त में अनुभव की परिणति से विपरीत रागभाव आ जाता है अर्थात् पुनः पुनः उसका अन्यरूप परिणमन हो जाता है।

अब कहते हैं कि – समकिती धर्मीजीव को अभिप्राय की अपेक्षा निरास्रव कहा है, क्योंकि अभिप्राय व अभिप्राय का विषय तो अखण्ड वस्तु है, अतः धर्मी को अभिप्राय की अपेक्षा से तो चैतन्यस्वभाव में ही एकाग्रता की भावना है; किन्तु इसकी परिणति जघन्य है, निचले दर्जे की वीतराग परिणति है, परिपूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई है, इसलिए साथ में राग का सद्भाव है और वह राग बन्ध का कारण है। ज्ञानी को जितना राग है, उतना दुःख भी है; जितना पर्याय में हीनपना है, उतना बन्धन है। वह

वन्धन ज्ञानी का मात्र ज्ञेय है। ज्ञानी के निश्चय व व्यवहार दोनों यथार्थ होते हैं।

ज्ञानी को राग होता ही नहीं है, दुःख होता ही नहीं है – यह बात दृष्टि की अपेक्षा कह रहे हैं। ज्ञानअपेक्षा से तो ज्ञानी जानता है कि जिन छठवें गुणस्थान में झूलनेवाले मुनियों को अथवा प्रचुर स्वसम्वेदन में सम्यग्दृष्टि जीवों को अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है उन्हें भी जो महाव्रतादि के परिणाम आते हैं, वे प्रमादरूप हैं एवं दुःख हैं।

पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में भावलिंगी मुनिराजों के २८ मूलगुण आदि के रागभाव को "जगपन्थ" कहा है, शिवपन्थ नहीं कहा।

"ता कारण जगपन्थ इत, उत शिवमारग जोर।
परमादी जग कौं धुकै, अपरमादी शिव ओर॥

जितना स्वभावसन्मुखतारूप परिणमन है, मात्र उतना ही शिवपन्थ है, मोक्षमार्ग है।

अहो ! पूर्वकाल में हुए पण्डित बनारसीदास, टोडरमल वगैरह ने अलौकिक बातें बताई हैं। वे परम्परा एवं शास्त्र के अनुसार कथन करनेवाले प्रामाणिक सत्पुरुप थे।

अहा ! एक ओर तो कहते हैं कि ज्ञानी निरास्रव ही है तथा दूसरी ओर कहते हैं कि – यथाख्यातचारित्र होने के पूर्व तक राग है, यह क्या बात है ?

भाई ! अभिप्राय एवं अभिप्राय के विषय की अपेक्षा से ज्ञानी को निरास्रव कहा है, किन्तु परिणमन में तो अति जघन्यपना है, उस अपेक्षा से उसे अल्प रागांश विद्यमान है एवं तत्प्रमाण वन्ध भी है। यहाँतक कि गणधरदेव को भी तथा तीर्थंकरों को भी जबतक छद्मस्थ दशा है, तबतक रागांश है और वह रागांश उनके लिये भी वन्धन का कारण है।

भाई ! वीतराग की वाणी में जहाँ जो जिस अपेक्षा कथन है, उसे यथार्थ जानना-समझना चाहिए। तीर्थंकर हों या गणधर हों, जबतक चारित्र की पूर्णता न हो, तबतक राग जरूर होता है। साधक दशा में जितना अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया उतनी ज्ञानधारा है – मुक्तिमार्ग है तथा जितना राग है, वह कर्मधारा है, बन्ध का कारण है।

ज्ञानी को भी राग वन्ध का ही कारण है। "शुभराग से कल्याण होगा, परम्परा मुक्ति होगी" – यह मान्यता यहाँ निषिद्ध की गई है।

भाई ! यह वीतराग का मार्ग है। वीतराग भगवान का उपदेश तो यह है कि तुझे सुखी होना हो तो हमारे सामने खड़े होकर जो बारम्बार हमारे दर्शन-अर्चन-वन्दन करता है – यह सब करना छोड़ दे और अन्तर्मुख होकर अपने त्रिकाली भगवान आत्मा को देख।

भावार्थ यह है कि क्षायोपशमिक ज्ञान निजस्वरूप में अर्थात् आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में अन्तर्मुहूर्त ही रह सकता है। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् छद्मस्थ का उपयोग नियम से स्वरूप से विचलित होकर पर का अवलम्बन ले लेता है तथा पर के अवलम्बन लेते ही उससे आत्मा में रागभाव हो जाता है।

अहाहा ! कितना स्पष्ट किया है ? सच्चा संत हो या समकिती ज्ञानी हो, जबतक राग है, तबतक वन्ध है – इस वास्तविकता को जानना चाहिए। दृष्टि की अपेक्षा ज्ञानी निरास्रव होते हुए भी परिणति में जो जघन्य परिणमन है, वह निश्चित ही वन्ध का कारण है।

......जाग सकै तो जाग

कर्मन की जर राग है, राग जरे जर जाय।
प्रगट होत परमातमा, भैया सुगम उपाय ॥

काहे को भटकत फिरे सिद्ध होन के काज।
राग-द्वेष को त्याग दे, भैया सुगम इलाज ॥

राग-द्वेष के त्याग बिन, परमातम पद नाँहि।
कोटि-कोटि जप-तप करो, सबहिं अकारथ जाँहि ॥

जगत मूल यह राग है, मुकति मूल वैराग।
मूल दुहुन को यह कह्यो, जाग सकै तो जाग ॥

– भैया भगवतीदास

एवं सति कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत्—

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ।
णाणी तेण दु बज्झदि पोग्गलकम्मेण विविहेण ।।१७२।।

दर्शनज्ञानचारित्रं यत्परिणमते जघन्यभावेन ।
ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन ।।१७२।।

यो हो ज्ञानी स *बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहरूपास्रवभावाभावात् निरास्रव एव, किंतु सोऽपि यावज्ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वाऽशक्तः सन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यति जानात्यनुचरति च तावत्तस्यापि

अब पुनः प्रश्न होता है कि यदि ऐसा है (अर्थात् ज्ञानगुण का जघन्यभाव वन्ध का कारण है) तो फिर ज्ञानी निरास्रव कैसे है ? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं :—

चारित्र, दर्शन, ज्ञान तीन जघन्य भाव जु परिणमे ।
उससे हि ज्ञानी विविध पुद्गलकर्म से बंधात है ।।१७२।।

गाथार्थ :—[यत्] क्योंकि [दर्शनज्ञानचारित्र] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [जघन्यभावेन] जघन्यभाव से [परिणमते] परिणमन करते हैं, [तेन तु] इसलिये [ज्ञानी] ज्ञानी [विविधन] अनेक प्रकार के [पुद्गल-कर्मणा] पुद्गलकर्म से [बध्यते] बँधता है ।

टीका :—जो वास्तव में ज्ञानी है, उसके बुद्धिपूर्वक (इच्छापूर्वक) राग-द्वेष-मोहरूपी आस्रवभावों का अभाव है, इसलिये वह निरास्रव ही है; परन्तु वहाँ इतना विशेष है कि वह ज्ञानी जबतक ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट भाव से देखने, जानने और आचरण करने में अशक्त वर्तता हुआ जघन्य

---

*बुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा ये मनोद्वारा वाह्यविषयानालंब्य प्रवर्तंते, प्रवर्तमानाश्च स्वानुभवगम्याः अनुमानेन परस्यापि गम्या भवंति । अबुद्धिपूर्वकास्तु परिणामा इन्द्रियमनोव्यापारमंतरेण केवलमोहोदयनिमित्तास्ते तु स्वानुभवगोचरत्वादबुद्धिपूर्वका इति विशेषः ।

जघन्यभावान्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमानाबुद्धिपूर्वककलंकविपाकसद्भावात् पुद्गलकर्मबंधः स्यात् । अतस्तावज्ज्ञानं द्रष्टव्यं ज्ञातव्यमनुचरितव्यं च यावज्ज्ञानस्य यावान् पूर्णो भावस्तावान् दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च सम्यग्भवति । ततः साक्षात् ज्ञानीभूतः सर्वथा निरास्रव एव स्यात् ।

भाव से ही ज्ञान को देखता, जानता और आचरण करता है, तबतक उसे भी जघन्यभाव की अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा (जघन्यभाव अन्य प्रकार-से नहीं बनता इसलिये) जिसका अनुमान हो सकता है – ऐसे अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंक के विपाक का सद्भाव होने से पुद्गलकर्म का बन्ध होता है । इसलिये तबतक ज्ञान को देखना, जानना और आचरण करना चाहिये; जबतक ज्ञान का जितना पूर्ण भाव है, उतना देखने, जानने और आचरण में भलोभाँति आ जाये । तबसे लेकर साक्षात् ज्ञानी होता हुआ (वह आत्मा) सर्वथा निरास्रव ही होता है ।

भावार्थ :—ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक (अज्ञानमय) राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से वह निरास्रव ही है । परन्तु जबतक क्षायोपशमिक ज्ञान है, तबतक वह ज्ञान ज्ञानी को सर्वोत्कृष्ट भाव से न तो देख सकता है, न जान सकता है और न आचरण कर सकता है; किन्तु जघन्यभाव से देख सकता है, जान सकता है और आचरण कर सकता है, इससे यह ज्ञात होता है कि उस ज्ञानी के अभी अबुद्धिपूवक कर्मकलंक का विपाक (चारित्रमोहसम्बन्धी राग-द्वेष) विद्यमान है और इससे उसके बन्ध भी होता है । इसलिये उसे यह उपदेश है कि जबतक केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तबतक निरन्तर ज्ञान का ही आचरण करना चाहिये । इसी मार्ग से दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणमन बढ़ता जाता है और ऐसा करते-करते केवलज्ञान प्रगट होता है । जब केवलज्ञान प्रगटता है, तबसे आत्मा साक्षात् ज्ञानी है और सर्व प्रकार से निरास्रव है ।

जबतक क्षायोपशमिक ज्ञान है, तबतक अबुद्धिपूर्वक (चारित्रमोह का) राग होने पर भी, बुद्धिपूर्वक राग के अभाव की अपेक्षा से ज्ञानी के निरास्रवत्व कहा है और अबुद्धिपूर्वक राग का अभाव होनेपर तथा केवल-ज्ञान प्रगट होनेपर सर्वथा निरास्रवत्व कहा है । यह विवक्षा की विचित्रता है । अपेक्षा से समझनेपर यह सर्व कथन यथार्थ है ।

गाथा १७२ की उत्थानिका, गाथा एवं टीका पर प्रवचन

यहाँ शिष्य फिर पूछता है कि यदि ज्ञानगुण का जघन्यभाव बन्ध का कारण है तो फिर ज्ञानी निरास्रव कैसे रहा ? एक ओर तो आप कहते हो कि जिसको अन्तःस्वरूप का अनुभव अर्थात् सम्यग्दर्शन हुआ है, वह ज्ञानी निरास्रव है तथा दूसरी ओर यह कहते हो कि जबतक ज्ञान का जघन्य परिणमन है, तबतक ज्ञानी के राग है और इसकारण उसे बन्ध भी है तो फिर ज्ञानी को निरास्रव किस अपेक्षा से कहा है ?

शिष्य की इस शंका का समाधान करते हुए आचार्यदेव ने यह गाथा कही है। वे कहते हैं कि जो वास्तव में ज्ञानी है अर्थात् सम्यग्दृष्टि है उसकी यह बात है। यदि किसी को बीच में ऐसा प्रश्न उठे कि जिसे सम्यग्दर्शन नहीं है, उसे सर्वप्रथम क्या करना चाहिए ? तो उसके लिए आचार्यदेव यह कहते है कि सम्यग्दर्शन होने के पहले उसे इस बात का निर्णय करना चाहिये कि आत्मा अखण्ड, पूर्ण एवं शुद्ध है, पर्याय में मलिनता का अंश है; किन्तु वस्तु में मलिनता नहीं है, राग की भूमिका में ऐसा निर्णय होता है। यद्यपि यह (उपरोक्त विकल्परूप) निर्णय नहीं है, यह बात गाथा ७३ में आ भी चुकी है। वहाँ कहा है जिस तरह समुद्र के भंवर ने जहाज वहुत समय से पकड़ रखा हो, किन्तु ज्यों ही भंवर शमन हो जाती है तो जहाज छूट जाता है; उसीप्रकार जब आत्मा विकल्पों के आवर्त (भवर) को शमन करता है, तब निर्विकल्प अनुभव होता है। ज्ञानी जब राग को अपने स्वसन्मुखता के पुरुषार्थ से छोड़ता है, तब वह उस राग से मुक्त होकर निर्विकल्परूप आत्मा का अनुभव करता है। १४४वीं गाथा में भी आता है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है – ऐसा प्रथम निर्णय करना।

आत्मा में एक वीर्य गुण है, वह समस्त गुणों व पर्यायों में व्याप्त है। उसी से ज्ञानपर्याय में भी वीर्य है। वह पर्याय प्रथम विकल्प द्वारा ऐसा निर्णय करतो है कि मैं शुद्ध, बुद्ध, अखण्ड, चैतन्यघन हूँ, सदा अबद्ध, अस्पृष्ट सामान्य एकरूप हूँ। यद्यपि प्रारंभ में ऐसा विकल्परूप निर्णय होता है, तथापि विकल्प का अनुभव में योगदान होता हो – ऐसा नहीं है, बल्कि सर्वज्ञ परमेश्वर ने जिस रीति से जैसा आत्मा का प्रतिपादन किया है, उसीप्रकार यथार्थ जानने के लिए उसे विकल्प आता है, किन्तु वह विकल्प छूटकर निर्विकल्प अनुभव होता है।

भाई ! वास्तव में तो पहले-पीछे की बात ही कहाँ है ? क्योंकि वस्तुतः निर्विकल्प अनुभव ही यथार्थ निर्णय है। उस निर्णय को विकल्परूप निर्णय की अपेक्षा ही कहाँ है ? यद्यपि विकल्प की अपेक्षा नहीं है, तथापि निर्विकल्प के पहले तत्संबंधी विकल्प होते अवश्य हैं। जिसे विकल्पपूर्वक भी शुद्ध आत्मा का निर्णय नहीं, उसका तो अन्तर में जाने का ठिकाना ही नहीं है। भाई ! वस्तु तो अन्तर्मुख है, सम्पूर्ण वस्तु पर्याय में है ही कहाँ ? जब वह पर्याय अन्तर्मुख हो, तब निर्विकल्प निर्णय होता है।

यहाँ वास्तव में ज्ञानी कौन है – यह बात समझाते हुए कहा गया है कि जिसे निर्विकल्प अनुभव हुआ है आनन्द के नाथ भगवान आत्मा का जिसके स्वसवेदन ज्ञान प्रगट हुआ है वह ज्ञानी है। शास्त्र के वाचन से, विशेष क्षयोपशमज्ञान से या धारणा करने से अर्थात् हजारों गाथायें व श्लोक कंठस्थ याद रखने से कोई ज्ञानी नहीं कहलाता।

प्रश्न :—क्या विद्वान व ज्ञानी में कोई अन्तर है ?

उत्तर :—हाँ, बहुत शास्त्रों का ज्ञाता विद्वान है, जिसे निश्चयतत्त्व का ज्ञान नहीं है, पूर्णानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का ज्ञान (अनुभव) नहीं है तथा शास्त्रों में जो व्यवहार का – निमित्त का ज्ञान कराने के प्रयोजन से कथन आये हैं, उन्हें पकड़कर निमित्ताधीन दृष्टि बना लेता है, वह विद्वान तो है, पर ज्ञानी नहीं, क्योंकि उसे वस्तुस्वरूप का भी यथार्थ ज्ञान नहीं है एवं वह स्वसंवेदनज्ञान से भी शून्य है। जबकि ज्ञानी को निर्विकल्प अनाकुल आनन्दस्वरूप वीतरागमूर्ति भगवान आत्मा के आश्रय से सम्यक्-दर्शन-ज्ञान व स्वरूपाचरण प्रगट हुआ है। ज्ञानी को वास्तविक आत्मज्ञान प्रगट हुआ है।

जो वास्तविक ज्ञानी हैं, उनके बुद्धिपूर्वक अर्थात् रुचिपूर्वक – इच्छा-पूर्वक अज्ञानपूर्वक राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभावों का अभाव होने से वे निरास्रव ही हैं। धर्मी को अभिप्राय में आस्रवभावों का अभाव होने से तथा उनका स्वामीपना नहीं होने से उनको निरास्रव कहा है। जड़ द्रव्यास्रव का तो उनके स्वभाव से ही अभाव है और आस्रवभावों के कर्त्तापने का भी उसके अभिप्राय में श्रद्धान नहीं है, इसकारण ज्ञानी निरास्रव है। जो आस्रव होता है, उसमें ज्ञानी की जघन्य – हीन परिणति ही कारण है।

अबुद्धिपूर्वक राग के दो अर्थ होते हैं –

(१) अबुद्धिपूर्वक अर्थात् रुचि बिना जो राग होता है, उसे अबुद्धिपूर्वक राग कहा जाता है। यहाँ यह पहला अर्थ ही इष्ट है।

(२) पं० ब्र० रायमल्ल ने अबुद्धिपूर्वक राग का यह अर्थ किया है कि जो .ग जानने में नहीं आता – ज्ञान की पकड़ में नहीं आता – ऐसा सूक्ष्मराग बुद्धिपूर्वक राग कहलाता है।

ज्ञानी को पाप के परिणाम की तो बात ही क्या, पुण्य के परिणाम की भी रुचि नहीं होती, अतः वह पुण्य के परिणाम की भी भावना नहीं करता। जिसको आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में एकाग्रता की ही भावना है एवं रागादि आस्रवभाव बिल्कुल नहीं है। ऐ-ा ज्ञानी तो निरास्रव ही है।

किन्तु इतना विशेष है कि वह ज्ञानी जबतक ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट-भाव से देखने के लिए, जानने के लिए और आचरण के लिए अशक्त वर्तता हुआ ज्ञान को जघन्यभाव से ही देखता है, जानता है एवं आचरण करता है, तबतक उसको भी जघन्यभाव की अन्यथा अनुत्पत्ति होने से व जिसका अनुमान हो सकता है – ऐसे अबुद्धिपूर्वक हुए कर्मकलंक के विपाक का सद्भाव होने से पुद्गलकर्म का बन्ध होता है।

पिछली गाथाओं में ऐसा कहा गया था कि यथाख्यात चारित्र होने के पूर्व तक ज्ञानी जघन्यभाव से ही परिणमता है, इससे उसके राग भी है और बन्ध भी है। यहाँ ऐसा कहा है कि ज्ञानी जबतक ज्ञान को अर्थात् शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप भगवान आत्मा को जघन्यभाव से ही देखता-जानता, व आचरण करता है तथा सर्वोत्कृष्टभाव से देखने-जानने व आचरण करने में समर्थ नहीं है, तबतक उसे राग है तथा उस राग से बन्ध भी है। ज्ञानी को जो अभी सर्वोत्कृष्ट भाव से आत्मा को जानने-देखने व आचरण करने में अशक्तपना है, वह अशक्तपना किसी कर्म के कारण नहीं है; किन्तु अपनी पर्याय का वीर्य इतना ही काम करता है – ऐसा समझना चाहिए। तबतक उसे राग भी है एवं तज्जनित बन्ध भी है।

असमर्थता अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण है, कर्म के उदय के जोर से या उसकी बलजोरी से नहीं। शास्त्र में कहीं-कहीं ऐसा कथन मिलता है कि ज्ञानी के कर्म के उदय का जोर है, इसकारण उसको

राग-द्वेष होता है; किन्तु उसका अर्थ मात्र इतना ही है कि ज्ञानी को राग-द्वेष की रुचि नहीं है। रुचि के विना ही अथवा उत्साह के विना ही उसे राग-द्वेष हो जाते हैं। ज्ञानी को राग की रुचि नहीं है – यह दर्शाने के लिए ही कर्म के उदय को वलजोरी से राग हुआ ऐसा वताया गया है। जिसप्रकार किसी को स्वयं तो नाटक-सिनेमा देखने में उत्साह नहीं है और रुचि भी नहीं है, तथापि कोई आग्रह करे तो चला भी जाता है और देखता भी है, तव अरुचि दर्शाने के लिए उसके द्वारा यही कहा जाता है कि अमुक नहीं माना, इसलिए मैं चला गया था, मेरी तो इच्छा नहीं थी। इसीतरह ज्ञानी की रुचि नहीं है, अतः कर्म के उदय के जोर से राग हुआ – ऐसा आगम में कहा जाता है।

इष्टोपदेश में ऐसा कहा है कि – "जीवो वलियो, कम्मोवलियो" अर्थात् कभी जीव वलवान है और कभी कर्म वलवान है। जव जीव पर की ओर लक्ष्य करके परिणमता है, तव कर्म को वलवान कहा जाता है तथा जव वह स्व की ओर लक्ष्य करके आत्मा के लक्ष्य से परिणमता है, तव जीव वलवान है – ऐसा कहा जाता है। वास्तव में देखा जावे तो जड़कर्म तो जीव का स्पर्श ही नहीं करता तो उसके वल से आत्मा के रागी-द्वेषी होने का प्रश्न ही कहाँ से उठता है? परद्रव्य में व आत्मा में परस्पर कोई संवंध नहीं है, अतः कर्म जीव को विकार कराता है या संसार में रुलाता है, यह वात कभी तीनकाल में भी संभव नहीं है। अपनी पर्याय में पुरुषार्थ की हीनता के कारण निमित्त के आश्रय से रागादि परिणमन होता है, वह भावकर्म का वल है, वहाँ उपचार से द्रव्यकर्म का वल है – ऐसा कहा जाता है। वास्तव में द्रव्यकर्म जीव को रागादिरूप नहीं परिणमाता।

प्रश्न :—कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध तो है न ?

उत्तर :—हाँ है, पर जानते हो उसका अर्थ क्या है ? कर्म के उदय में अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण जव जीव स्वयं पर में एकत्व-ममत्व व रागादि भाव करता है, तव व्यवहार में कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध है – ऐसा कहा जाता है। निश्चय से देखा जाए तो कर्म के साथ जीव का कोई सम्वन्ध नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी जवतक अपने आत्मा को जघन्यभाव से देखता, जानता एवं आचरण करता है, तवतक उसके अवुद्धिपूर्वक राग है

तथा उतना बन्ध भी है। क्षायिक श्रद्धान में तो सम्यग्दृष्टि को दृष्टि में पूर्ण आत्मा आ गया है, किन्तु देखने-जानने में और आचरण करने में जैसा पूर्ण आना चाहिए वैसा अभी वर्तमान में नहीं आया है। यहाँ भगवान आत्मा का सर्वोत्कृष्ट भाव से देखना-जानना अर्थात् परिपूर्ण आश्रय करके देखने-जानने की बात है। यहाँ पर अरहन्तादि भगवान को जानने-देखने की बात नहीं है, किन्तु अपने पूर्ण स्वरूप को देखने की बात है। भाई ! यह तो संतों द्वारा कही गई वह बात है, जिसे सर्वज्ञ भगवान ने साक्षात् दिव्यध्वनि द्वारा कहा है।

छहढाला में आता है –

"ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारन।
इहि परमामृत जन्म-जरा-मृत रोग निवारण।"

भगवान आत्मा का ज्ञान सुख का कारण है, क्योंकि यह ज्ञान होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। यह आत्मज्ञान जन्म-जरा एव मृत्यु के रोग का निवारण करनेवाला है। इसके सिवाय यह शरीर-स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब-परिवार, बाग-बंगला अथवा धन-सम्पत्ति आदि कुछ भी सुख के साधन या कारण नहीं हैं।

कुछ लोग ऐसा प्रश्न पूछते हैं कि इसके लिये क्या करना पड़ता है ? हमें इसको उपलब्ध करने का कोई उपाय नहीं सूझता। यदि व्रत, उपवास, एकाशन आदि करने को कहो तथा रसत्याग, ब्रह्मचर्य पालन आदि करने को कहो तो उन्हें तो कर सकते हैं।

भाई ! जो करने के लिए तुम कहते हो वह सब तो राग है, इससे तो आत्मा को बन्ध व दुःख होता है। चिद्ब्रह्मस्वरूप भगवान आत्मा को जघन्यभाव से जानना-देखना एवं आचरण करना जघन्य ब्रह्मचर्य है तथा सर्वोत्कृष्टभाव से जानना-देखना व आचरण करना सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य पालने का राग तो कथनमात्र ब्रह्मचर्य है।

ज्ञानी जबतक अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप को जघन्यभाव से देखते-जानते एवं आचरण करते हैं, तबतक उन्हें भी जघन्यभाव की अन्यथा अनुत्पत्ति से (जघन्यभाव की अन्यथा सिद्धि न होने से) जिसका अनुमान हो सकता है – ऐसे अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंक के विपाक का सद्भाव होने

से उसे पुद्गल कर्म का बन्ध होता है। वहाँ बुद्धिपूर्वक का या रुचिपूर्वक का राग भले न हो; किन्तु अरुचिपूर्वक राग वहाँ है तथा उससे इतना बन्ध भी है।

इसलिए कहते हैं कि जबतक सर्वोत्कृष्ट रूप से जानना-देखना व आचरण न हो, तबतक अन्दर में जानने-देखने व आचरण करने का पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। यहाँ दर्शन-ज्ञान व चारित्र तीनों लिए हैं।

अब कहते हैं कि जब से ज्ञान का अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का जितना पूर्णभाव है, उतना पूरा का पूरा जानने-देखने व आचरण में आ जावे, तब से साक्षात् ज्ञानी होता हुआ आत्मा सर्वथा निरास्रव हो जाता है। केवलज्ञान में अपना आत्मा पूर्ण देखने-जानने और आचरण में आ जाता है, तब वह जीव साक्षात् ज्ञानी होता है।

टीका के प्रारम्भ में जो यह कहा है कि 'जो वास्तव में ज्ञानी है' सो वहाँ बात तो ज्ञानी की ही है; परंतु वह साक्षात् ज्ञानी की बात नहीं है। साक्षात् ज्ञानी तो अपने को सर्वोत्कृष्ट भाव से देखता-जानता और आचरण करता है। ज्ञानी को बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष-मोहरूपी आस्रवभाव का अभाव होने से दृष्टि-अपेक्षा निरास्रव कहा है तथा यहाँ ऐसा कहा है कि वह साक्षात् ज्ञानी होता हुआ सर्वथा निरास्रव ही है। दोनों में स्पष्ट अन्तर होते हुए भी परस्पर सुमेल है।

पुण्य-पाप अधिकार १६०वीं गाथा में आया है कि "जो स्वयं ही ज्ञान होने के कारण विश्व को (सर्व पदार्थों को) सामान्य-विशेषतया जानने के स्वभाववाला है, ऐसा ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य अनादिकाल से अपने पुरुषार्थ के अपराध से प्रवर्तमान कर्ममल के द्वारा लिप्त या व्याप्य होने से ही, बन्ध अवस्था में सर्वप्रकार से सम्पूर्ण अपने को अर्थात् सर्वप्रकार से सर्व ज्ञेयों को जाननेवाले (स्वयं) को न जानता हुआ, इसप्रकार प्रत्यक्ष अज्ञानभाव से (अज्ञानदशा में) रह रहा है।"

देखो, वहाँ सर्वज्ञानी-सर्वदर्शी भगवान आत्मा सबको नहीं जानता — ऐसा न कहकर यह कहा है कि सर्वज्ञत्व-शक्तिस्वरूप आत्मा स्वयं को नहीं जानता। यहाँ भी स्वयं को देखने-जानने एवं आचरण की बात कही है। ज्ञानी जबतक स्वयं को जघन्यभाव से देखता-जानता एवं आचरण करता है, तबतक उसे किंचित् अस्थिरता का राग है तथा उससे बंध भी है; परन्तु

जब वह सर्वोत्कृष्ट भाव से स्वयं जानता-देखता व आचरण करता है, तब वह साक्षात् ज्ञानी होता है तथा तब वह सर्वथा निरास्रव ही होता है।

तथा वहीं गाथा १६० में कहा है कि "वह अनादि काल से अपने पुरुषार्थ के अपराध से प्रवर्तमान मल के द्वारा लिप्त या व्याप्त होने से ही"

देखो, इसमें भी अपने पुरुषार्थ के अपराध की ही बात कही है तथा कर्मरज न कहकर कर्ममल कहा है, जिसका तात्पर्य अपने विकारी अज्ञानमय भावकर्म से है, जड़ द्रव्यकर्म से नहीं।

कुछ लोग ऐसा आरोप लगाते हैं कि जो लोग "नियत" को मानते हैं; उनकी मान्यता मिथ्या है, किन्तु "नियत" का अभिप्राय जाने विना मिथ्या कहना उचित नहीं है। यदि "नियत" का अर्थ क्रमबद्धपर्याय है अर्थात् जिस समय द्रव्य की जो पर्याय होती हो, वह उसी समय होती है – ऐसा मानता है तो उसकी यह मान्यता मिथ्या नहीं है। आत्मावलोकन, चिद्विलास तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा में यह बात आयी है। जिस समय द्रव्य की जो पर्याय होनी हो, वह उस समय ही होती है – यह निश्चय है। इस कथन में कार्य निमित्ताधीन नहीं है, यह बात आ ही गई है। "निमित्त मिलेगा तभी काम होगा" यह बात रहती ही नहीं है।

निमित्त विना तो क्या ? ध्रुव व व्यय के विना उत्पाद होता है – यह निश्चय है। निमित्त तो परद्रव्य है, किन्तु जिस समय जो उत्पाद होता है, उसे ध्रुव की अर्थात् अपने नियत द्रव्य की भी अपेक्षा नहीं है। परद्रव्य को तो अन्य द्रव्य स्पर्श ही कहाँ करता है ?

प्रश्न :—उत्पाद को द्रव्य की अपेक्षा नहीं है, इसका क्या अर्थ है ? ऐसा कहकर आप क्या सिद्ध करना चाहते हो ?

उत्तर :—उत्पाद सत् है तथा जो सत् है, वह अहेतुक है। उत्पाद के उत्पन्न होने में द्रव्य होते हुए भी द्रव्य की अपेक्षा नहीं है, उसीप्रकार उत्पाद को व्यय की अपेक्षा भी नहीं है; तीनों स्वतंत्र सत् हैं। दूसरी प्रकार से कहें तो आत्मा में एक प्रभुत्वशक्ति है, उसका रूप प्रत्येक पर्याय में है। इस कारण सम्यग्दर्शन आदि सब पर्यायें स्वतंत्ररूप से स्वयं अपने अखण्ड प्रताप से शोभायमान हैं। उन्हें निमित्त की – परद्रव्य की अपेक्षा तो है ही नहीं, अपने द्रव्य की भी अपेक्षा नहीं है।

प्रश्न :—उत्पाद को द्रव्य की अपेक्षा होवे तो क्या बाधा आती है ?

उत्तर: —जहाँ द्रव्य की अपेक्षा लग जाती है, वहाँ व्यवहार का कथन हो जाता है; किन्तु यहाँ तो निश्चय सिद्ध करना है। निश्चय में धर्मों को धर्मी की एवं धर्मी को धर्मो की अपेक्षा नहीं होती, दोनों भिन्न हैं। यदि भिन्न नहीं मानें तो दोनों अपने से हैं – ऐसा नहीं होगा।

एकबार निश्चय सिद्ध करने के पश्चात् यह पर्याय द्रव्य की है – ऐसा कहना व्यवहार है, क्योंकि उसमें द्रव्य की अपेक्षा आ गई।

जिस समय जो पर्याय होनी हो, उस पर्याय का वह समय जन्मक्षण है। भाई ! इस बात के स्वीकार करने में अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है, क्योंकि प्रत्येक पर्याय अपने जन्मक्षण में होती है। एक-एक पर्याय नियत है – यह जानने का अर्थ वीतरागता है, क्योंकि द्रव्य के आश्रय से ऐसा निर्णय होने पर पर्याय में नियम से वीतरागता प्रगट होती है। वह समय वीतरागता होने का ही काल है, इसलिये वीतरागता होती है। वह पर्याय व्यवहार के कारण अथवा पूर्व की पर्याय के कारण नहीं होती। भाई ! पर्याय कोई इसमें किसी के तर्क-वितर्क काम नहीं आते। यह तो भेदविज्ञान करने की एवं अन्तर आत्मा की कोई अलौकिक बात है।

जैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है, तदनुसार क्रमबद्ध अर्थात् जिस काल में जो पर्याय होनी हो, उसी-उसी काल में वही-वही पर्याय होती है, आगे-पीछे नहीं। जिसने ऐसा निर्णय किया है, उसने यह निर्णय अपने ज्ञायक स्वभाव के निकट जाकर ही किया है। ज्ञायकस्वभाव के निकट जाये बिना यह निर्णय संभव हो नहीं है, क्योंकि ज्ञायकस्वभाव में सर्वज्ञता है। ज्ञायक स्वभाव की प्रतीति में सर्वज्ञ की प्रतीति आती है तथा उसके ज्ञान में सर्वज्ञस्वभाव का ज्ञान आता है।

अहो ! जिसको ऐसे सर्वज्ञ स्वभाव की प्रतीति हुई है, अनुभव हुआ है, उसे ही क्रमबद्ध का यथार्थ ज्ञान हुआ है। सर्वज्ञ भगवान जगत में हैं तथा उन्होंने जो देखा, वह जैसा है, वैसा ही है तथा उसी के अनुसार होता है – इसमें जो शंका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। है तो ऐसा ही, परन्तु इसका निर्णय किसको होता है ? जिसे आत्मा के ज्ञानस्वभाव की (ज्ञायकस्वभाव की) अन्तर्दृष्टि से इसका निश्चय होता है, उसे ही क्रमबद्ध का यथार्थ निर्णय होता है।

ज्ञायक स्वभाव का निर्णय करने में सभी समवाय आ जाते हैं—

१. ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता करने में अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

२. वह सन्मुखताज्ञायकस्वभाव के प्रति हुई, अतः स्वभाव आ गया।

३. स्वभाव सन्मुखता की नियति की पर्याय का जो काल है, वह काललब्धि हुई।

४. जो भाव होने योग्य था वही हुआ, यह भवितव्य आया।

५. तथा उससमय निमित्तरूप कर्म का जो अभाव हुआ है, वह निमित्त भी आ गया।

इसप्रकार पाँचों ही समवाय एकसाथ आ जाते हैं।

सर्वज्ञ के मार्ग में आकर भी कितने ही लोग यह कहते हैं कि सर्वज्ञ तो पुरुषार्थ करने को कहते नहीं हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि अमुक जीव का अमुक समय में पुरुषार्थ होगा। केवली के अनुसार कोई जीव पुरुषार्थ कर नहीं सकता, वह तो जब होना होगा, तब होगा; अपन नया कुछ नहीं कर सकते।

ऐसी मान्यतावालों को ज्ञानी कहते हैं कि भाई! सर्वज्ञ की सत्ता का स्वीकार सर्वज्ञ स्वभाव के सन्मुख होकर ही होता है तथा यही पुरुषार्थ है। प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में कहा है –

"जो जानता अरहंत को, गुण द्रव्य व पर्याय से।
वह जीव जाने आत्म को, तसु मोह क्षय निश्चय अरे॥

अर्थात् जो अरहंत की पर्याय को जानता है, वह आत्मा के निर्मल शुद्ध ज्ञायकस्वभाव को भी जानता ही है। अरहंत को यथार्थ जाननेवाले की ऐसी ही योग्यता है। जब जीव निश्चय से अपने आत्मा को जानता है, तभी अरहंत को यथार्थ जानता है – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। अहा! जो वीतराग की वाणी निकलती है, वह आत्मा के स्वभाव का पुरुषार्थ करानेवाली ही होती है; क्योंकि भगवान ने भी स्वभाव के पुरुषार्थ से ही वीतरागता प्रगट की है तथा स्वभाव के पुरुषार्थ के सिवाय जीव में अन्य कुछ करने की योग्यता भी है क्या? [अर्थात् ज्ञानस्वभावी आत्मा अपने स्वभावसन्मुखता के सिवाय अन्य कुछ भी करने योग्य नहीं है।

अहा ! ज्ञानस्वभावी आत्मा बस एकमात्र जानता ही है, अन्य कुछ भी नहीं करता । जो तीन काल व तीन लोक को जानता है, वह भी अपने स्व-परप्रकाशकपने के स्वभाव की सामर्थ्य से जानता है, पर के कारण नहीं । अपने को जानना-देखना तथा अपने में आचरण करना ही सच्चा पुरुषार्थ है ।

क्रमवद्ध के यथार्थ निर्णय में निश्चय-व्यवहार व उपादान-निमित्त का भी यथार्थ ज्ञान हो जाता है । वस्तु की निर्विकल्प दृष्टि व अनुभव निश्चय तथा उस समय हुई राग की मन्दता व्यवहार है । इससे यह स्पष्ट है कि व्यवहार से निश्चय नहीं होता । दोनों एक काल में साथ ही होते हैं । तथा जिस समय जो पर्याय होनी हो, उस समय ही वह होती है – ऐसा निर्णय होने पर 'निमित्त हो, तब पर्याय हो' यह बात भी नहीं रहती । कार्य के काल में निमित्त की उपस्थिति का भी काल निश्चित है, अतः वह भी अपने काल में अपने ही स्वचतुष्टय से होता है और उपादान की पर्याय अपने काल में अपने से होती है, निमित्त से नहीं । हाँ दोनों का मात्र निमित्त-नैमित्तिक संवंध अवश्य है, किन्तु कर्त्ता-कर्म संवंध नहीं ।

द्रव्यसंग्रह की ४७वीं गाथा में ऐसा आता है कि – निश्चय व व्यवहार दोनों मोक्षमार्ग एकसाथ प्रगट होते हैं । यह बात भी क्रमवद्ध के निर्णय से यथार्थ सिद्ध होती है । जब क्रमवद्ध का निर्णय करता है, तब दृष्टि ात्मस्वभाव की ओर जाती है और उस समय स्वभाव का जो निर्णायक परिणमन होता है, वह निश्चय है तथा इसी काल में जो राग शेष रहता है, वह व्यवहार है । इसप्रकार व्यवहार से निश्चय होता है – यह बात रहती हीं नहीं है ।

सर्वज्ञ परमात्मा केवलज्ञान में तीन काल व तीन लोक को प्रत्यक्ष जानते हैं तथा सर्वज्ञ का निर्णय करनेवाला वर्तमान मति-श्रुतज्ञान तीन काल व तोन लोक को परोक्षपने जानता है । बस, केवल जानता ही है, दूसरे का कुछ करता नहीं है एवं उसमें कुछ फेरफार भी नहीं करता । वस्तु का स्वरूप ही कुछ ऐसा है ।

जिसको सर्वज्ञस्वभाव प्रगट हुआ है, उसे सर्वज्ञस्वभाव के आश्रय की अपेक्षा से कहें तो सर्वज्ञस्वभाव में से सर्वज्ञ पर्याय आई है । बाकी तो सर्वज्ञस्वभाव के लक्ष्य से हुई पर्याय अपने (पर्याय के) षट्कारक के

परिणाम से हुई है। यह बात कुछ कठोर है, परन्तु वीतरागता का मार्ग जैसा है, वैसा ही फलदायक है।

गाथा १७२ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ यह कहते हैं कि ज्ञानी को अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह का अभाव है। "मैं राग करूँ या राग मरा कर्तव्य है" – ज्ञानी को ऐसी बुद्धि नहीं होती। मैं तो निमित्त, राग व अल्पज्ञता से रहित परिपूर्ण सर्वज्ञ स्वभावी ज्ञानस्वरूप परमात्मा हूँ, ज्ञानी को ऐसी दृष्टि होने से उसके अज्ञानपूर्वक होनेवाले रागादिभावों का अभाव है तथा उस अपेक्षा से वह निरास्रव ही है।

जो कर्त्ता होकर दया, दान, व्रत, भक्ति आदि पुण्यभाव करते हैं, उनकी दृष्टि तो पर की क्रिया एवं राग पर है, इसकारण वे तो मिथ्या-दृष्टि ही हैं। उनकी दृष्टि भगवान आत्मा पर नहीं है। वे तो मिथ्यात्व सहित राग-द्वेष-मोह को ही उत्पन्न करते हैं।

प्रश्न :—बुद्धिपूर्वक हुए राग-द्वेष-मोह का नाश होने के पश्चात् क्या करना चाहिए ? व्रत, तप आदि करें या नहीं ?

उत्तर :—अरे भाई ! बुद्धिपूर्वक होनेवाले राग-द्वेष-मोह का अभाव होने के पश्चात् स्वरूप में स्थिर होने का पुरुषार्थ करना चाहिए। स्वरूप में स्थिर होना ही एकमात्र पुरुषार्थ करना है। व्रतादि के विकल्प करना तो राग है। यद्यपि भूमिकानुसार ये विकल्प भी होते हैं, किन्तु यह ध्येय नहीं है। देखो, इसीका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि भाई ! जीव को प्रथम-भूमिका (सम्यग्दर्शन) प्रगट होने के बाद यह शंका नहीं रहती कि पीछे क्या करें, क्योंकि उसके ज्ञान में आगे का पूरा मोक्षमार्ग स्पष्ट भासित होने लगता है। क्षायिक समकिती को भी जबतक जघन्य परिणमन है, तबतक चारित्रमोह का राग है तथा उतना बंध भी है। इसलिए यह उपदेश दिया गया है कि केवलज्ञान होनेपर ज्ञान में ही रमणता करना चाहिए, ज्ञान को ही देखना-जानना एवं आचरण करना चाहिए। व्यवहार रत्नत्रय के राग का आचरण करने की यहाँ बात ही नहीं है। यहाँ तो आत्मा के ही आचरण करने की बात है।

अब कहते हैं कि – इसी मार्ग से दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणमन बढ़ता जाता है और इसीप्रकार करते-करते केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

यहाँ यह नहीं कहा कि व्यवहार करते-करते केवलज्ञान हो जाता है, किन्तु यह कहा है कि स्वरूप की एकाग्रता बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ।

जब केवलज्ञान प्रगट हो जाता है, तब आत्मा साक्षात् ज्ञानी होता है तथा सर्वप्रकार से निरास्रव होता है । देखो, ज्ञानी तो था पर साक्षात् ज्ञानी केवलज्ञान होने पर हुआ । अविरत सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव की अपेक्षा निरास्रव था तथा केवलज्ञान प्रगट होनेपर पूर्ण साक्षात् ज्ञानी हुआ, तब वह सर्वप्रकार से निरास्रव हुआ ।

प्रश्न :—भाई ! समझना क्या कुछ करना नहीं है ? वस्तुत: तो यही इसका करना एवं यही इसका कार्य है । जो ज्ञान स्वज्ञेयाकार से होता है, उस ज्ञान को ही यहाँ ज्ञान कहा है । अस्थिरता से जब पर की ओर लक्ष्य जाता है, तब रागादिसहित परज्ञेय का ज्ञेयाकार परिणमन होता है । पर को ज्ञेय बनाकर जो ज्ञेय का ज्ञान हुआ, वह अपना ज्ञान है; किन्तु वह रागादि सहित है । इसकारण यहाँ तो स्वज्ञेय में एकाग्र होकर उसे ही जानने-देखने एवं आचरण करने को कहा है ।

जहाँतक क्षायोपशमिक ज्ञान है, वहाँ तक ज्ञानी को अस्थिरता का राग है तो अवश्य, किन्तु बुद्धिपूर्वक अज्ञानमय राग के अभाव की अपेक्षा से उसे राग नहीं है अर्थात् वह निरास्रव है । सर्वथा निरास्रव तो केवलज्ञान प्रगट होनेपर ही होता है । यह जो विवक्षा है, उसे बराबर समझने पर दोनों कथन अपनी-अपनी अपेक्षा से यथार्थ प्रतीत होते हैं । कहीं कोई विरोध नहीं रहता ।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(शार्दूलविक्रीडित)

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन् ।
उच्छिन्दन्परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-
न्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥११६॥

श्लोकार्थ :—[**आत्मा यदा ज्ञानी स्यात् तदा**] आत्मा जब ज्ञानी होता है तब, [**स्वयं**] स्वयं [**निजबुद्धिपूर्वम् समग्रं रागं**] अपने समस्त

बुद्धिपूर्वक राग को [अनिशं] निरन्तर [संन्यस्यन्] छोड़ता हुआ अर्थात् न करता हुआ, [अबुद्धिपूर्वम्] और जो अबुद्धिपूर्वक राग है, [तं अपि] उसे भी [जेतुं] जीतने के लिये [वारम्वारम्] वारम्वार [स्वशक्ति स्पृशन्] (ज्ञानानुभवनरूप) स्वशक्ति को स्पर्श करता हुआ और (इस-प्रकार) [सकलां परवृत्तिम् एव उच्छिन्दन्] समस्त परवृत्ति को – पर-परिणति को उखाड़ता हुआ [ज्ञानस्य पूर्णः भवन्] ज्ञान के पूर्णभावरूप होता हुआ, [हि] वास्तव में [नित्यनिरास्रवः भवति] सदा निरास्रव है।

भावार्थ :—ज्ञानी ने समस्त राग को हेय जाना है। वह राग को मिटाने के लिये उद्यम किया करता है; उसके आस्रवभाव की भावना का अभिप्राय नहीं है; इसलिये वह सदा निरास्रव ही कहलाता है।

परवृत्ति (परपरिणति) दो प्रकार की है – अश्रद्धारूप और अस्थिरतारूप ज्ञानी ने अश्रद्धारूप परवृत्ति को छोड़ दिया है और वह अस्थिरतारूप परवृत्ति को जीतने के लिये निज शक्ति को वारम्वार स्पर्श करता है अर्थात् परिणति को स्वरूप के प्रति वारम्बार उन्मुख किया करता है। इसप्रकार सकल परवृत्ति को उखाड़ करके केवलज्ञान प्रगट करता है।

'बुद्धिपूर्वक' और 'अबुद्धिपूर्वक' का अर्थ इसप्रकार है – जो रागादि-परिणाम इच्छा सहित होते हैं, सो बुद्धिपूर्वक हैं और जो इच्छारहित परनिमित्त की बलवत्ता से होते हैं, सो अबुद्धिपूर्वक हैं। ज्ञानी के जो रागादि-परिणाम होते हैं, वे सभी अबुद्धिपूर्वक ही हैं; सविकल्प दशा में होनेवाले रागादि परिणाम ज्ञानी को ज्ञात तो हैं, तथापि वे अबुद्धिपूर्वक हैं; क्योंकि वे विना इच्छा के ही होते हैं।

(पण्डित राजमल्लजी ने इस कलश की टीका करते हुए 'बुद्धिपूर्वक' और 'अबुद्धिपूर्वक' का अर्थ इसप्रकार किया है – जो रागादि परिणाम मन के द्वारा वाह्य विषयों का आलम्बन लेकर प्रवर्तते हैं और जो प्रवर्तते हुए जीव को निज को ज्ञात होते हैं तथा दूसरों को भी अनुमान से ज्ञात होते हैं, वे परिणाम बुद्धिपूर्वक हैं और जो रागादि परिणाम इन्द्रिय-मन के व्यापार के अतिरिक्त मात्र मोहोदय के निमित्त से होते हैं तथा जीव को ज्ञात नहीं होते वे अबुद्धिपूर्वक हैं। परिणामों को प्रत्यक्ष ज्ञानी जानता है और उनके अविनाभावी चिह्नों से वे अनुमान से भी ज्ञात होते हैं।)

कलश ११६ पर प्रवचन

देखो, जबतक जीव एकान्ततः राग का ही अनुभव करता है, तबतक वह अज्ञानी है तथा जब जीव अपने ज्ञानस्वभाव का अनुभव करता है, तब ज्ञानी होता है। देखो, ज्ञानी जीव अपने में बुद्धिपूर्वक होते हुए समस्त राग को निरन्तर छोड़ता जाता है तथा अबुद्धिपूर्वक होते हुए राग में भी रुचि नहीं रखता। उसे भी स्व-शक्ति के स्पर्श से नष्ट करने का प्रयत्न करता है। अर्थात् अपने ज्ञानस्वभावी निज परमात्मा के अनुभव द्वारा उस अबुद्धि-पूर्वक हुए राग को भी टालने का प्रयत्न करता है।

देखो, यहाँ यह नहीं कहा कि व्यवहार में व्रतादिरूप क्रिया आचरण करके अपने राग को टालता है, यह भी नहीं कहा कि कर्म नष्ट होने पर राग टल जाता है, वल्कि यह कहा कि ज्ञानी उग्र पुरुषार्थ द्वारा अपने स्वभाव से एकाग्रता करके राग को टालता है या नष्ट करता है। ज्ञानी को जो व्यवहार का यथासंभव राग आता है, उसकी भी उसे रुचि नहीं है।

वहुत पहले एकवार रात्रिचर्चा में यह प्रश्न आया था कि राग कैसे टले ? क्या प्रतिवंधक कारण के नष्ट होने पर ही राग टल सकेगा ?

तव उस प्रश्न के समाधान में हमने खुलासा करते हुए कहा था कि सर्वप्रथम तो यह विचार करो कि द्रव्यकर्म व आत्मा में परस्पर क्या संवंध है ? उनमें तो एक-दूसरे को स्पर्श करने का भी संवंध नहीं है। तो फिर कर्म टले तो राग टले – यह वात ही कहाँ रही ? यह तो मूल में ही भूल है। वास्तव में तो सर्व द्रव्य स्वतंत्र हैं, अतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श ही नहीं करता। इस दृष्टि से "कर्म टले तो राग टले" – यह वात ही सिद्धान्त विरुद्ध है।

यहाँ तो यह कहते हैं कि अनन्त-अनन्त शक्तिवान चिदानन्द-घनस्वरूप भगवान आत्मा के स्पर्श से राग टलता है। स्व के आश्रय से राग टलता है – यह सिद्धान्त है। स्व के आश्रय से वीतरागता प्रगट होती है तथा जितनी वीतरागता प्रगट होती है, उतना राग का अभाव होता है। अहो ! यह अलौकिक सिद्धान्त है।

ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा के स्पर्श करने पर अर्थात् उसमें एकाग्र होने पर प्रथम मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय टलती है, तब जीव

ज्ञानी होता है। पश्चात् जो अबुद्धिपूर्वक राग बाकी रहता है, वह भी स्व के उग्र आश्रय से टलता है।

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि विकार होने के दो कारण हैं। आत्मा से भी विकार होता है तथा कर्म से भी विकार होता है। उनकी दलील यह है कि जिसतरह पुत्र की उत्पत्ति माँ एवं बाप दोनों से होती है, उसीतरह विकार आत्मा व कर्म दोनों से होता है।

उनसे कहते हैं कि अरे भाई! यह तो निमित्तरूप पुद्गल कर्म परमाणुओं के ज्ञान करने की बात है। वस्तुतः निश्चय से तो राग एक आत्मा से ही होता है। राग अपने षट्कारकरूप परिणमन से ही होता है तथा निर्विकारी परिणमन का षट्कारकरूप परिणमन होने पर वह राग-भावकर्म कट जाता है। यहाँ जड़ द्रव्यकर्म टालने की बात नहीं है, जड़कर्म तो अपने कारण से टलते हैं और अपने कारण रहता है।

यहाँ कहा भी है कि – "स्वशक्ति स्पृशन्" अर्थात् अपने शुद्ध चैतन्य स्वभाव का स्पर्श करता हुआ अर्थात् उसमें एकाग्र - स्थिर होता हुआ ज्ञानी अबुद्धिपूर्वक राग को टालता है।

तथा कुछ कहते हैं कि राग कैसे टाला जाय – इसका शास्त्र में कहीं कुछ उल्लेख है नहीं।

उनसे कहते हैं कि अरे भाई! यदि जीव स्वभाव का स्पर्श करे तो राग उत्पन्न ही नहीं होता, इसी को राग टला कहा जाता है। "यह राग है और इसे टालूँ" – इसप्रकार राग के लक्ष्य से राग कभी नहीं टलता, इससे तो उल्टी राग की उत्पत्ति ही होती है। अपने शुद्ध चैतन्य शक्तिवान आत्मा के लक्ष्य से या आश्रय से राग टलता है, क्योंकि तब राग उत्पन्न ही नहीं होता। कर्म के, राग के या पर्याय के लक्ष्य से राग टले – ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है।

"णमो अरिहंताणं" का कहीं-कहीं जो ऐसा अर्थ किया गया है कि कर्मरूपी अरि का हनन करनेवाले अरिहंत हैं। अरि का अर्थ जड़कर्म नहीं है, क्योंकि जड़कर्म कहाँ वैरी है? न तो जड़कर्म में वैरभाव है और न अरिहंत पद प्राप्त करनेवाले साधक में जड़कर्मों के प्रति वैरभाव है। जड़-कर्मों को वैरी कहना तो निमित्त पर आरोप करके किया गया कथन है। जड़ घातियाकर्म वैरी नहीं हैं। हाँ भावघातिकर्म (विकारी परिणति) ही

आत्मा का वैरी है, अतः भावघाती कर्मों के हनन करनेवाले को अरिहंत कहा गया है। प्रवचनसार में विकार को अनिष्ट कहा है। विकार अनिष्ट है और जो शुद्धस्वभाव प्रगट हुआ वह इष्ट है। निश्चय से राग-द्वेष-मोह जीव की स्वभावगुण की पर्याय की वैरी है, अन्य जड़कर्म वैरी नहीं है। द्रव्यकर्म व आत्मा भले एक प्रदेश में रहे, पर एक दूसरे के कर्त्ता नहीं हैं, एक दूसरे की पर्याय में जाते भी नहीं हैं। सब अपने-अपने में ही परिणम रहे हैं।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानीजीव अबुद्धिपूर्वक राग को भी जीतने के लिए बारम्बार ज्ञानानुभवरूप स्वशक्ति को स्पर्शता हुआ एवं समस्त पर-प्रवृत्ति या परपरिणति को उखाड़ता – छेदता हुआ ज्ञान के पूर्णभावरूप होता हुआ सदा निरास्रव ही है। आत्मा स्वभाव से तो ज्ञानमय होने से निरास्रव है ही, पर्याय में भी पूर्णज्ञानमय होने पर सदा निरास्रव ही है।

समकिती को बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से दृष्टि की अपेक्षा निरास्रव कहा है, किन्तु जघन्य परिणमन के कारण उसे अबुद्धि-पूर्वक आस्रव होता है, उसे वह अल्पकाल में ही आत्मा के उग्र आश्रय से उत्कृष्ट परिणमन को प्राप्त होकर वस्तु की शक्ति को उत्कृष्टपने स्पर्श करके उखाड़ फेंकता है। "उखाड़ फेंकता है" यह भी व्यवहार का कथन है। वास्तव में तो आत्मा का पूर्ण आश्रय होने पर राग का सम्पूर्ण अभाव ही रहता है, राग की उत्पत्ति ही नहीं होती। धर्मी विकार का नाश करता है – यह कहना तो व्यवहार का कथन है। समयसार गाथा ३४ में कहा है – प्रत्याख्यान के समय प्रत्याख्यान करने योग्य परभाव की उपाधि मात्र से प्रवर्तमान त्याग के कर्तृत्व का नाम आत्मा को होने पर भी परमार्थ से देखा जाय तो परभाव के त्याग के कर्तृत्व का नाम अपने को नहीं है। स्वयं तो इस नाम से रहित है, क्योंकि ज्ञानस्वभाव से स्वयं छूटा नहीं है, इसलिए प्रत्याख्यान ज्ञान ही है।

देखो, जहाँ राग के त्याग का कर्त्ता कहना भी नाममात्र है, वहाँ 'पर' के त्याग की तो बात ही क्या करना? आत्मा में "त्यागोपादान-शून्यत्व" नाम की शक्ति है। उस शक्ति के कारण आत्मा में पर का ग्रहण व त्याग है ही नहीं। लौकिक जन तो ऐसा मानते हैं कि मने आहार का त्याग किया, इसलिये मेरा उपवास हो गया। इसप्रकार वे परवस्तु के याग में धर्म मान बैठे हैं, परन्तु भाई! आत्मा पर का ग्रहण कैसे करे व

त्याग भी कैसे करे ? आत्मा में परपदार्थ का ग्रहण-त्याग मानना तो मिथ्यादर्शन है ।

कलश ११६ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, अन्तर्दृष्टि की महिमा ! ज्ञानी के अन्तर्दृष्टि हो जाने से उसने समस्त राग को हेय जान लिया है, अतः अब उसे पुण्य परिणाम की भावना का भी (अभिप्राय में) आदर नहीं रहा । उसे तो सिर्फ एक वीतरागभाव की भावना का ही सदा (अभिप्राय में) आदरभाव वर्तता है, इसकारण वह सदैव निरास्रव ही है ।

ज्ञानी के अश्रद्धानरूप परपरिणति तो सर्वथा छूट ही गई है तथा अस्थिरतारूप परप्रवृत्ति के जीतने में भी वह सदा प्रयत्नशील रहता है, इसके लिए वह बारम्बार निजशक्ति का स्पर्श करता है, अपनी परिणति को बारम्बार स्वरूप के प्रति झुकाने का प्रयत्न करता रहता है । मुनिदशा की तो कहना ही क्या ? वे तो हर अन्तर्मुहूर्त में निज स्वरूप में डुबकियाँ लगाया ही करते हैं । इसप्रकार ज्ञानी सम्पूर्ण उत्कृष्ट स्थिरता करके केवलज्ञान प्रगट करते हैं ।

"बुद्धिपूर्वक व अबुद्धिपूर्वक" का अर्थ यह है कि जो रागादि परिणाम इच्छा सहित होता है, वह बुद्धिपूर्वक है तथा जो रागादि परिणाम इच्छा के बिना परनिमित्त की बलजोरी से होता है, वह अबुद्धिपूर्वक है । परनिमित्त की बलजोरी अर्थात् स्वयं की इच्छा बिना परनिमित्त के लक्ष्य से जो राग होता है, उसे पर की बलजोरी से हुआ कहा जाता है । वस्तुतः निमित्त की बलजोरी नहीं है, बल्कि अपने हीन पुरुषार्थ का क्रम ही ऐसा है । तथा उससमय राग होने का भी ऐसा ही क्रम है, तथापि संयोगरूप निमित्त में कर्म या परपदार्थ की अपेक्षा से कथन करने पर निमित्त की बलजोरी से हुआ – ऐसा कथन करने की रीति है । निमित्त बलपूर्वक पर में कुछ अनहोना परिणमन या फेरफार नहीं कराता ।

ज्ञानी को जो रागादि परिणाम होते हैं, वे सब अबुद्धिपूर्वक ही होते हैं । यद्यपि सविकल्प दशा में रहते हुए वे रागादि परिणाम ज्ञानी के ज्ञान में हैं; तथापि वे अबुद्धिपूर्वक हैं, क्योंकि वे बिना इच्छा के हुए हैं । ज्ञानी को राग की रुचि नहीं है, राग ठीक है – ऐसी मान्यता भी नहीं हैं, तो भी राग तो होता ही है, उसे ही अबुद्धिपूर्वक कहा जाता है ।

ब्र. राजमल्लजी ने भी कलश टीका में बुद्धिपूर्वक व अबुद्धिपूर्वक की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जो रागादि परिणाम मन द्वारा बाह्य विषयों का अवलम्बन लेकर प्रवर्तता है तथा जिसप्रकार प्रवर्तता हुआ वह जीव को स्वयं को ज्ञात होता है, उसीप्रकार दूसरों को भी अनुमान से ज्ञात हो जाता है, वह परिणाम बुद्धिपूर्वक कहा जाता है। दया, दान, भक्ति, पूजा आदि का जो राग आता है, वह मन द्वारा स्वयं को तो ख्याल में आता ही है, दूसरों को भी अनुभव से ज्ञात होता है, इसकारण वह परिणाम बुद्धिपूर्वक है। तथा जो रागादि परिणाम इन्द्रिय, मन के व्यापार के बिना केवल मोह के उदय के निमित्त से होता है एवं जीव को ज्ञात नहीं होता अर्थात् पकड़ में नहीं आता, वह अबुद्धिपूर्वक राग है। वस्तुतः तो जहाँ अबुद्धिपूर्वक राग है, वहाँ भी मन का जुड़ाव तो है; किन्तु सूक्ष्म है उस अपेक्षा से मन नहीं है – ऐसा कहा है।

जो ज्ञानी को ज्ञान होता है, वह तो बुद्धिपूर्वक राग होता है, वह राग होते हुए भी ज्ञानी को उस राग से निरन्तर भेदज्ञान वर्तता है। वह जानता है कि मैं तो त्रिकाल राग से भिन्न ही हूँ तथा मैं शुद्ध चेतन्यमय आनंदरसकन्द भगवान आत्मा हूँ। वह समकिती चाहे नारकी हो या तिर्यंच हो, प्रत्येक को ऐसा भान होता है।

जिसकी ऐसी मान्यता है कि परवस्तु मेरी है, उसे तो राग का अर्थात् जहर का ही स्वाद आता है; परन्तु जिसे राग से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव है, उसे अनाकुल आनन्द का – परम अमृत का स्वाद आता है। समयसार के मोक्ष अधिकार में शुभभाव को भी विषकुम्भ कहा है। जहाँ भगवान शुभभाव को भी जहर कहते हों, वहाँ विषय-भोगादि अशुभभाव की तो बात ही क्या है, वह तो हालाहल है।

इस अबुद्धिपूर्वक रागादि परिणाम को वैसे प्रत्यक्षज्ञानी तो जानते ही हैं तथा उसके अनिवाभावी चिन्हों से वह अनुमानज्ञान से भी ज्ञात होता है।

पहले तो बुद्धिपूर्वक व अबुद्धिपूर्वक रुचि की अपेक्षा से कहा गया था और यहाँ राजमल्लजी ने जानने-न जानने की अपेक्षा से कहा है। अर्थात् ज्ञान में ज्ञात होने व न होने की अपेक्षा बुद्धिपूर्वक व अबुद्धिपूर्वक राग की व्याख्या की है।

अब शिष्य की शंका का श्लोक कहते हैं :—

(अनुष्टुभ्)

सर्वस्यामेव जीवन्त्यां द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ।।११७।।

श्लोकार्थ :—'[सर्वस्याम् एव द्रव्यप्रत्ययसंततौ जीवन्त्यां] ज्ञानी के समस्त द्रव्यास्रव की संतति विद्यमान होनेपर भी [कुत] यह क्यों कहा है कि [ज्ञानी] ज्ञानी [नित्यम् एव] सदा ही [निरास्रवः] निरास्रव है ?' [इति चेत् मतिः] यदि तेरी यह मति (आशंका) है तो अब उसका उत्तर कहा जाता है ।

कलश ११७ पर प्रवचन

यह कलश गाथा १७३ से १७६ की उत्थानिका के रूप में कहा गया है । इसमें प्रश्न उठाया है कि ज्ञानी को समस्त द्रव्यास्रव की संतति विद्यमान होते हुए भी वह सदा ही निरास्रव है – ऐसा क्यों कहा ?

जो राग से भिन्न पड़ा है तथा जिसको शुद्ध चैतन्यस्वरूप के निराकुल आनन्द का स्वाद आया है, उस धर्मी के आत्मप्रदेशों में भी आठों जड़कर्म स्थित हैं, उनका उदय भी है तथा यहाँ पर्याय में राग-द्वेष भी होते हैं, तो फिर उसे निरास्रव कैसे कहा ?

जिसे ऐसी आशंका है, उसके समाधानस्वरूप आचार्य देव आगे एक-साथ चार गाथायें कहेंगे ।

समयसार गाथा १७३ से १७६

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया अत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥१७३॥
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा ।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥१७४॥
संता दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेह पुरिसस्स ।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥१७५॥
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो भणिदो ।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥१७६॥

सर्वे पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययाः संति सम्यग्दृष्टेः ।
उपयोगप्रायोग्यं बध्नंति कर्मभावेन ॥१७३॥
भूत्वा निरुपभोग्यानि तथा बध्नाति यथा भवंत्युपभोग्यानि ।
सप्ताष्टविधानि भूतानि ज्ञानावरणादिभावैः ॥१७४॥
संति तु निरुपभोग्यानि बाला स्त्री यथेह पुरुषस्य ।
बध्नाति तानि उपभोग्यानि तरुणी स्त्री यथा नरस्य ॥१७५॥
एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टिरबंधको भणितः।
आस्रवभावाभावे न प्रत्यया बंधका भणिताः ॥१७६॥

अब, पूर्वोक्त आशंका के समाधानार्थ गाथा कहते हैं :—

जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते सद्दृष्टि के ।
उपयोग के प्रायोग्य बंधन, कर्मभावों से करे ॥१७३॥
अनभोग्य रह उपभोग्य जिस विध होय उस विध बाँधते ।
ज्ञानावरण इत्यादि कर्म जु सप्त-अष्ट प्रकार के ॥१७४॥
सत्ता विषैं वे निरुपभोग्य हि, बालिका ज्यों पुरुष को ।
उपभोग्य बनते वे हि बाँधें, यौवना ज्यों पुरुष को ॥१७५॥
इस हेतुसे सम्यक्त्वसंयुत, जीव अनबंधक कहे ।
आसरवभावअभाव में प्रत्यय नहीं बंधक कहे ॥१७६॥

यतः सदवस्थायां तदात्वपरिणीतबालस्त्रीवत् पूर्वमनुपभोग्यत्वेऽपि विपाकावस्थायां प्राप्तयौवनपूर्वपरिणीतस्त्रीवत् उपभोग्यत्वात् उपयोग-प्रायोग्यं पुद्गलकर्मद्रव्यप्रत्ययाः सतोऽपि कर्मोदयकार्यजीवभावसद्भावादेव बध्नंति ततो ज्ञानिनो यदि द्रव्यप्रत्ययाः पूर्वबद्धाः संति, संतु; तथापि स तु निरास्रव एव, कर्मोदयकार्यस्य रागद्वेषमोहरूपस्यास्रवभावस्याभावे द्रव्य-प्रत्ययानामबंधहेतुत्वात् ।

गाथार्थ :—[सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टि के [सर्वे] समस्त [पूर्व-निबद्धाः तु] पूर्वबद्ध [प्रत्ययाः] प्रत्यय (द्रव्यास्रव) [संति] सत्तारूप में विद्यमान हैं, वे [उपयोगप्रायोग्यं] उपयोग के प्रयोगानुसार, [कर्मभावेन] कर्मभाव के द्वारा (रागादि के द्वारा) [बध्नंति] नवीन बन्ध करते हैं। वे प्रत्यय, [निरुपभोग्यानि] निरुपभोग्य [भूत्वा] होकर फिर [यथा] जैसे [उपभोग्यानि] उपभोग्य [भवंति] होते हैं [तथा] उसीप्रकार, [ज्ञानावरणादिभावैः] ज्ञानावरणादि भाव से [सप्ताष्टविधानि भूतानि] सात-आठ प्रकार से होनेवाले कर्मों को [बध्नाति] बाँधते हैं [संति तु] सत्ता-अवस्था में वे [निरुपभोग्यानि] निरुपभोग्य है अर्थात् भोगने-योग्य नहीं हैं [यथा] जैसे [इह] इस जगत में [बाला स्त्री] बाल स्त्री [पुरुषस्य] पुरुष के लिये निरुपभोग्य है। [यथा] जैसे [तरुणी स्त्री] तरुण स्त्री – युवती [नरस्य] पुरुष को [बध्नाति] बाँध लेती है, उसी-प्रकार [तानि] वे [उपभोग्यानि] उपभोग्य अर्थात् भोगने योग्य होनेपर बन्धन करते हैं। [एतेन तु कारणेन] इस कारण से [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि को [अबंधकः] अबन्धक [भणितः] कहा है, क्योंकि [आस्रव-भावाभावे] आस्रवभाव के अभाव में [प्रत्ययाः] प्रत्ययों को [बन्धकाः] (कर्मों का) बन्धक [न भणिताः] नहीं कहा है।

टीका :—जैसे पहले तो तत्काल की परिणीत बाल स्त्री अनुपभोग्य है, किन्तु यौवन को प्राप्त वह पहले की परिणीत स्त्री यौवनावस्था में उपभोग्य होती है और जिसप्रकार उपभोग्य हो तदनुसार वह पुरुष के रागभाव के कारण ही पुरुष को बन्धन करती है – वश में करती है, इसी-प्रकार जो पहले तो सत्तावस्था में अनुभोग्य हैं, किन्तु विपाक-अवस्था में उपभोगयोग्य होते हैं। ऐसे पुद्गलकर्मरूप द्रव्यप्रत्यय होनेपर भी वे जिस-प्रकार उपभोग्य हों, तदनुसार (अर्थात् उपयोग के प्रयोगानुसार), कर्मोदय

के कार्यरूप जीवभाव के सद्भाव के कारण ही, बन्धन करते हैं। इसलिये ज्ञानी के यदि पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं, तो भले रहें; तथापि वह (ज्ञानी) तो निरास्रव ही है, क्योंकि कर्मोदय का कार्य जो राग-द्वेष-मोह-रूप आस्रवभाव है, उसके अभाव में द्रव्यप्रत्यय बन्ध के कारण नहीं हैं। (जैसे यदि पुरुष को रागभाव हो तो ही यौवनावस्था को प्राप्त स्त्री उसे वश कर सकती है, इसीप्रकार जीव के आस्रवभाव हो तब ही उदयप्राप्त द्रव्यप्रत्यय नवीन बन्ध कर सकते हैं।)

भावार्थ :—द्रव्यास्रवों के उदय और जीव के राग-द्वेष-मोहभाव का निमित्त-नैमित्तिकभाव है। द्रव्यास्रवों के उदय में युक्त हुवे बिना जीव के भावास्रव नहीं हो सकता और इसलिये बन्ध भी नहीं हो सकता। द्रव्यास्रवों का उदय होने पर जीव जैसे उसमें युक्त हो अर्थात् जिसप्रकार उसे भावास्रव हो उसीप्रकार द्रव्यास्रव नवीन बन्ध के कारण होते हैं। यदि जीव भावास्रव न करे तो उसके नवीन बन्ध नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व का और अनन्तानुबंधी कषाय का उदय न होने से उसे उसप्रकार के भावास्रव तो होते ही नहीं और मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय सम्बन्धी बन्ध भी नहीं होता। (क्षायिक सम्यग्दृष्टि के सत्ता में से मिथ्यात्व का क्षय होते समय ही अनन्तानुबन्धी कषाय का तथा तत्सम्बन्धी अविरति और योगभाव का भी क्षय हो गया होता है, इसलिये उसे उसप्रकार का बन्ध नहीं होता; औपशमिक सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय मात्र उपशम में – सत्ता में ही होने से सत्ता में रहा हुआ द्रव्य उदय में आये बिना उसप्रकार के बन्ध का कारण नहीं होता; और क्षायोपशमिक सम्यक्दृष्टि को भी सम्यक्त्व-मोहनीय के अतिरिक्त छह प्रकृतियाँ विपाक में (उदय में) नहीं आतीं, इसलिये उसप्रकार का बन्ध नहीं होता।)

अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादि के जो चारित्रमोह का उदय विद्यमान है, उसमें जिसप्रकार जीव युक्त होता है, उसीप्रकार उसे नवीन बन्ध होता है; इसलिये गुणस्थानों के वर्णन में अविरतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों में अमुक-अमुक प्रकृतियों का बन्ध कहा है, किन्तु यह बन्ध अल्प है, इसलिये उसे सामान्य संसार की अपेक्षा से बन्ध में नहीं गिना जाता। सम्यग्दृष्टि चारित्रमोह के उदय में स्वामित्वभाव से युक्त नहीं होता, वह मात्र अस्थिरतारूप से युक्त होता है और अस्थिरतारूप युक्तता निश्चयदृष्टि में

युक्तता ही नहीं है, इसलिये सम्यग्दृष्टि के राग-द्वेष-मोह का अभाव कहा गया है। जबतक जीव कर्म का स्वामित्व रखकर कर्मोदय में परिणमित होता है, तबतक ही वह कर्म का कर्त्ता कहलाता है; उदय का ज्ञाता-दृष्टा होकर पर के निमित्त से मात्र अस्थिरतारूप परिणमित होता है, तब कर्त्ता नहीं, किन्तु ज्ञाता ही है। इस अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि होने के बाद चारित्र-मोह के उदयरूप परिणमित होते हुए भी उसे ज्ञानी और अबन्धक कहा गया है। जबतक मिथ्यात्व का उदय है और उसमें युक्त होकर जीव राग-द्वेष-मोहभाव से परिणमित होता है, तबतक ही उसे अज्ञानी और बन्धक कहा जाता है। इसप्रकार ज्ञानी-अज्ञानी और बन्ध-अबन्ध का यह भेद जानना और शुद्धस्वरूप में लीन रहने के अभ्यासद्वारा केवलज्ञान प्रगट होने से जब जीव साक्षात् सम्पूर्ण ज्ञानी होता है, तब वह सर्वथा निरास्रव हो जाता है – यह पहले कहा जा चुका है।

गाथा १७३ से १७६ एवं उनकी टीका पर प्रवचन

पूर्वोक्त ११७वें कलश में प्रश्न उठाया था कि ज्ञानी के समस्त द्रव्यास्रवों की संतति विद्यमान होने पर भी यह क्यों कहा है कि ज्ञानी सदा ही निरास्रव है? इसी प्रश्न के उत्तरस्वरूप आचार्यदेव ने ये चार गाथायें लिखी हैं। बाल स्त्री का दृष्टान्त देते हुए आचार्य कहते हैं कि जिसतरह तत्काल परिणीता बाल स्त्री पहले तो (बाल्यावस्था में तो) अनुपभोग्य है, किन्तु यौवनावस्था में वही (पूर्वपरिणीता) स्त्री उपभोग्य होती है। और जिसप्रकार उपभोग्य हो, तदनुसार वह पुरुष के रागभाव के कारण ही पुरुष को बन्धन करती है, वश में करती है। इसीप्रकार जो पुद्गलकर्म पहले (सत्तावस्था में) तो अनुपभोग्य होते हैं, किन्तु बाद में – विपाक-अवस्था में वही उपभोग्य होते हैं। वे पुद्गलकर्मरूप द्रव्यप्रत्यय जिसप्रकार उपभोग्य हों, तदनुसार जीवभाव के सद्भाव के कारण ही बन्धन करते हैं।

यहाँ इस बात पर विशेष वजन है कि – जिसप्रकार उपभोग्य हो तदनुसार पुरुष स्त्री के प्रति जितना राग करता है, उतने प्रमाण में ही वह स्त्री उसे वश में करती है।

किसी का ऐसा प्रश्न हो सकता है कि आचार्यदेव ने ऐसा दृष्टान्त क्यों दिया? उससे कहते हैं कि भाई! आचार्यदेव तो मुनिवर हैं। दुनिया को जल्दी समझ में आ जावे, इस कारण ऐसा दृष्टान्त दिया है। निर्विकारी वीतरागी संतों को ऐसी कल्पना भी नहीं होती कि इसमें किसी को अटपटा

या बुरा भी लग सकता है। उनका हृदय तो अत्यन्त पवित्र व सरल होता है, अतः निःसंकोच भाव से जिस तरह तत्त्व समझ में आ जावे, वैसा दृष्टान्त दे देते हैं। जिस पवित्र भाव से उन्होंने दृष्टान्त दिया है उसी पवित्र भाव स ग्रहण करना योग्य है।

यहाँ यह ज्ञानी की बात है। ज्ञानी को जो आठ कर्म सत्ता में पड़े हैं, वे बाल स्त्री की भांति अनुपभोग्य हैं; परन्तु वे ही कर्म विपाक अवस्था में उपभोग्य होते हैं, भोगने के योग्य हो जाते हैं। वे द्रव्यप्रत्यय जिसप्रकार उपभोग्य हों, तदनुसार अर्थात् जितनी मात्रा में उपयोग उनमें जुड़े उस प्रमाण, कर्मोदय के कार्यभूत जितना रागादि भाव हो, उस प्रमाण में बन्धन करते हैं। कर्म के उदय में वर्तमान जितना उपयोग जुड़े उतना बन्धन होता है।

ज्ञानी रुचिपूर्वक तो राग करता नहीं है। उसकी पर्याय में जो राग दिखाई देता है, वह उसकी रुचिपूर्वक नहीं हुआ है। ज्ञानी के मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष का तो अभाव ही है तथा चारित्र की अस्थिरता का जो अल्पराग होता है, वह भी उसे पुसाता नहीं है – अच्छा नहीं लगता है।

जिस तरह व्यापारी को जिस माल का खरीदना या बेंचना पुसाता नहीं, वह माल वह खरीदता-बेंचता नहीं है। उसे जिस माल की खरीद पुसाती है, वही खरीदता है। उसीप्रकार ज्ञानी को राग नहीं पुसाता। अस्थिरता का अल्प राग है, किन्तु वह भी नहीं पुसाता, इस कारण उसे गौण करके ज्ञानी निरास्रव ही है – ऐसा कहा है, क्योंकि उदय के कार्य-भूत मिथ्यात्व व राग-द्वेष-मोह भाव का अभाव होने से ज्ञानी के द्रव्य-प्रत्यय बन्ध के कारण नहीं है।

कर्मोदय के कार्यभूत जीव के भावों को अर्थात् जीव की पर्याय में होनेवाले रागादि परिणामों को यदि जीव करे तो द्रव्यप्रत्यय बन्ध के कारण बने, किन्तु ज्ञानी जीव को तो राग-द्वेष-मोह हैं ही नहीं, इसलिए उसके अभाव में ज्ञानी के द्रव्यप्रत्यय बन्ध के कारण नहीं होते। यहाँ यह बात मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी राग-द्वेष-मोह की अपेक्षा से कही गई है। अपने आत्मा के आनन्द के स्वाद के आस्वादी ज्ञानी जनों को बन्धन के कारणभूत मिथ्यात्वसहित राग-द्वेष-मोह होते ही नहीं हैं। उनकी दृष्टि

आत्मा पर है और उनके स्वरूपाचरण भी है, इसकारण ज्ञानी को निरास्रव कहा है।

ज्ञानी को अस्थिरता का अल्पराग है तथा उसके द्रव्यकर्मों में भी अल्पबन्ध व अल्प स्थिति पड़ती है, किन्तु ज्ञानी को संसार में दीर्घ कालतक परिभ्रमण करना पड़े – ऐसा कर्म बन्धन नहीं होता।

अहा! 'मै राग का कर्त्ता हूँ' – ऐसा मिथ्यात्व भाव ही मुख्यरूप से आस्रवभाव है और यही दीर्घ ससार है, महापाप है, अनन्त भव का कारण है। इससे विपरीत जिसे मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यग्दर्शन हुआ है, वह मानो भवरहित ही हो गया है। "भरतजी घर में ही वैरागी" का अर्थ ही यह है कि दृष्टि स्वभाव पर जाने से कर्म के उदय में भी ज्ञानी के मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी राग उत्पन्न नहीं होता।

शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ एवं अरहनाथ – ये तीनों तीर्थंकर व कामदेव थे। उन्होंने सांसारिक राग में कर्तृत्व एवं कर्तव्य बुद्धि का तो त्याग कर ही दिया था, उससे लाभ होने की मान्यता का भी त्याग कर दिया था। उन्हें राग होता तो अवश्य था, परन्तु उससे लाभ मानने की बुद्धि (मान्यता) का नाश हो गया था। उनके मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी राग-द्वेष का अभाव हो गया था। इस अपेक्षा से उन्हें गृहस्थ दशा में भी निरास्रव कहा है। अस्थिरता का जो अल्प राग होता है, वह यहाँ गौण है।

अहा! मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय का जिसके अभाव हो गया है – ऐसे सम्यग्दृष्टि को श्रद्धा की अपेक्षा देखें तो कर्म की एक सौ अड़तालीस प्रकतियों में से एक का भी बन्ध नहीं है, भले ही वह सम्यक्-दृष्टि बाहर में चक्रवर्ती हो या बलदेव ही क्यों न हो। समयसार नाटक में भी कहा है –

"करै कर्म सोई करतारा, जो जाने सो जाननहारा।
जो करता नहिं जाने सोई, जाने सो करता नहिं होई॥"

ज्ञानी की मान्यता में से यह बात छूट गई है कि – "राग मेरा कर्तव्य है।" उनको राग होता है, किन्तु वह उनका कर्म नहीं बनता एवं ज्ञानी उसका कर्त्ता नहीं बनता। जो राग का कर्त्ता बने व राग जिसका कर्म – कर्तव्य बने, वह ज्ञानी नहीं है।

लोगों को सम्यग्दर्शन की अपेक्षा बाह्य त्याग की महिमा अधिक है, क्योंकि उन्हें अभी अन्तर के मोह – मिथ्यात्व के त्याग की वीतरागता की उपलब्धि की महिमा नहीं आई है। भाई! भवबीज का नाश करनेवाला सम्यग्दर्शन परम महिमावन्त वस्तु है। भव व भव के भावरहित भगवान आत्मा की रुचि – प्रतीति जिसे हुई है, उसे बाहर में छहखण्ड के राज्य व ९६ हजार रानियों का सयोग तुच्छ प्रतीत होता है तथा उनके भोगने में किंचित् भी रुचि नहीं होती, अतः वह निरास्रव है।

अहो! सम्यग्दर्शन परम अद्भुत वस्तु है। उस का विषय परिपूर्ण आत्मा है। आत्मश्रद्धान बिना केवल देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा या नवतत्त्व की भेदरूप प्रतीति – श्रद्धा समकित नहीं है, क्योंकि यह तो सब राग है। ऐसा राग तो जीव ने अनन्तबार किया है। एकमात्र भवछेदक आत्मा की अन्तर्दृष्टि ही दुर्लभ रही है। अब तो बस एक मात्र वही करने योग्य है। अतः सम्पूर्ण शक्ति समेट कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में अर्थात् आत्मा को जानने-पहचानने एवं उसी में जम जाने में लगा देना चाहिए।

गाथा १७३ से १७६ के भावार्थ पर प्रवचन

द्रव्यास्रवों के उदय का एवं जीव के राग-द्वेष-मोह के भावों का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव (सम्बन्ध) है।

देखो, यहाँ कहते हैं कि – भगवान आत्मा को स्वभाव से देखो तो वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप परम पवित्र त्रिकाल वीतराग स्वभावी ही है, किन्तु इसकी वर्तमान पर्याय में होता हुआ रागादि विकार भावास्रव है, उसमें द्रव्यास्रव अर्थात् जड़कर्म का उदय निमित्त व अपनी अवस्था में उत्पन्न हुआ विकार नैमित्तिक है। पहले जो कर्म सत्ता में था, उसके प्रगट होने को उदय कहते हैं तथा उसी समय उस उदय के निमित्त से आत्मा की पर्याय में जो नैमित्तिकरूप विकार उत्पन्न हुआ, वह आत्मा के तत्समय के अशुद्ध उपादान से ही हुआ है, निमित्त से नहीं। राग-द्वेष-मोह आदि आस्रवभाव अपने-अपने काल में स्वयं से ही जो होनेवाले होते हैं, वे ही होते हैं। पुराना कर्म का उदय निमित्तरूप भले हो, किन्तु निमित्त से आत्मा की पर्याय विकारी नहीं होती। निमित्त का निमित्तरूप से निषेध नहीं है, किन्तु निमित्त उपादान में कुछ करता नहीं है।

इस बात पर कितने ही अज्ञानी कहते हैं कि ऐसा अनेकान्त करना चाहिए कि विकार कथंचित् आत्मा से (स्वयं से) होता है और कथंचित् निमित्त से होता है ।

उनसे कहते हैं कि अरे भाई ! अनेकान्त का ऐसा स्वरूप नहीं है । आत्मा स्वयं जितने प्रमाण में कर्म के उदय में जुड़ता है, उतने प्रमाण में आत्मा को मिथ्यात्व व राग-द्वेष उत्पन्न होता है और उससे नवीन कर्म का बन्ध होता है ।

निमित्त के सबंध में कितने ही लोगों की ऐसी मान्यता है कि जितनी मात्रा में कर्म का उदय आता है, उतनी ही मात्रा में जीव को विकार करना पड़ता है अर्थात् निमित्त के प्रमाण में जीव को रागादि भाव होता ही है, परन्तु यह मान्यता यथार्थ नहीं है । अरे भाई ! कर्म का उदय तो जड है और आत्मा चेतन है, दोनों भिन्न-भिन्न हैं । जब जड़कर्म आत्मा को छूते ही नहीं हैं तो फिर वे चेतन का क्या भला-बुरा कर सकते हैं ? चेतन की पर्याय में जो मिथ्यात्वादि होते हैं, उनका स्वयं का अपना-अपना जन्म-क्षण है, अर्थात् वे अपनी स्वयं की तत्समय की योग्यता से होते हैं, कर्म के कारण नही । जब पर्याय में विकार होता है, तब कर्म के उदय को निमित्त कहा जाता है । इसीप्रकार जब अपने शुद्ध द्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, उसमें राग की मन्दता निमित्त है; परन्तु यह निमित्त सम्यग्दर्शन की पर्यायरूप नैमित्तिक को उत्पन्न नहीं करता । सम्यग्दर्शन की पर्याय निमित्त के कारण अथवा निमित्त के आश्रय से उत्पन्न नहीं होती ।

अब आगे कहते हैं कि "द्रव्यास्रव के उदय के बिना जीव के रागादि आस्रवभाव नहीं होते – इस कथन का अभिप्राय तो मात्र इतना है कि कर्मोदय में जीव स्वतंत्रपने जितना जुड़ान करता है, उतना भावास्रव होता है । कितने ही लोग इस अभिप्राय को नहीं समझते, अतः कहते हैं कि क्या यह तुम्हारे घर की बात है ? परन्तु भाई ! ऐसा नहीं है, इसका तो आशय मात्र इतना है कि द्रव्यास्रव के उदय बिना अर्थात् द्रव्यास्रव के उदय में जुड़ान किए विना जीव के आस्रवभाव नहीं हो सकता । जीव कर्म के उदय में जितना स्वतंत्ररूप से जुड़ान करता है, उतना भावास्रव होता है । 'निमित्त के बिना नहीं होता' इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि निमित्त से कार्य होता है । 'निमित्त के बिना नहीं होता' यह वाक्य तो केवल निमित्त की उपस्थिति का सूचक है, उसके कर्तृत्व का नहीं ।

अहा ! इस जगत को क्या हो गया है ? जो सर्वज्ञ वीतराग देव की वीतराग वाणी भी इसे एकान्त लगती है। भाई ! इस ग्रन्थ के टीकाकार पंडित जयचंदजी छाबड़ा ने स्वयं खुलासा किया है। वे कहते हैं कि – "द्रव्यास्रवों का उदय होनेपर जीव जितने प्रमाण में उसमें युक्त हो अर्थात् जिसप्रकार उसे भावास्रव हो उसीप्रकार द्रव्यास्रव नवीन बन्ध के कारण होते हैं अर्थात् उदय के परिणाम में नवीन बन्ध नहीं होता। दूसरे प्रकार से कहेंगे तो ऐसा कह सकते हैं कि जीव जितने प्रमाण में अपने उपयोग को उदय में जोड़ता है, तदनुरूप द्रव्यास्रव नवीन बन्ध का कारण होता है तथा जीव के जिसप्रकार का भावास्रव होता है, उसीप्रकार से द्रव्यास्रव नवीन बन्ध का कारण होता है। जीव भावास्रव न करे तो नवीन बन्ध नहीं होता। यदि ऐसा ही नियम होता कि जब कर्म का उदय आता है, तब भावास्रव व उससे होनेवाला कर्मबन्ध होता ही है, तो कर्म का उदय तो सदा ही रहता है, उससे कर्म बन्ध भी सदा ही होता रहेगा; परन्तु ऐसा नहीं है। जीव जब उसमें स्वयं जुड़ान करके आस्रव करता है, तभी नवीन बन्ध होता है, न करे तो कर्म छूट जाते हैं और आत्मा उन कर्मों से बन्धनमुक्त हो जाता है।

आज लोक दो मूलभूत सैद्धान्तिक बातों का निम्न बातों से बड़ा भारी विरोध करते हैं –

(१) निमित्त से उपादान में कार्य होता है।

(२) व्यवहार से निश्चय होता है अर्थात् चरणानुयोग के आचरण-रूप व्रतादि शुभराग से धर्म होता है। एतदर्थ उन्हें आगम का अवलोकन करके अपने विरोध को शमन करना चाहिए।

प्रवचनसार ग्रन्थ की १०२वीं गाथा में स्पष्ट कहा है कि मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि जो भी परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे अपने उत्पत्ति के काल में ही होते हैं। उनका अपना जन्मक्षण है, वे परिणाम पर से – निमित्त से उत्पन्न नहीं होते। परद्रव्य को यानि निमित्तों को तो आत्मा स्पर्श भी नहीं करता। देखो, घड़ा जो बना है, वह मिट्टी से बना है। भले दूसरे कुम्हार आदि निमित्त हों, परन्तु निमित्तों से घड़ा नहीं बना।

समयसार की ३७२वीं गाथा की टीका में आचार्य अमृतचंद्रदेव कहते हैं कि हम जीव के रागादि का उत्पादक परद्रव्य को नहीं देखते

(मानते) कि जिसपर कोप करें। कुम्हार घड़ा बनाता है – ऐसा हमें दिखाई ही नहीं देता, क्योंकि मिट्टी अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं करती है, अतः कुम्हार घड़े का उत्पादक हो ही नहीं सकता। मिट्टी भी कुम्हार के स्वभाव का स्पर्श न करती हुई अपने स्वभाव से ही घड़े के रूप में उत्पन्न होती है। मिट्टी में घटरूप उत्पन्न होने का अपना चतुष्टय था, इसी कारण वह उस घट की पर्यायरूप से उत्पन्न हुई है। कुम्हार ने घड़ा बनाया ही नहीं है।

तथा वहीं ६७२वीं गाथा में आचार्यदेव ने यह भी कहा है कि जीव को परद्रव्य रागादि उत्पन्न करते हैं – ऐसी शका नहीं करना, क्योंकि अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य के गुण का उत्पाद करने की अयोग्यता है, सर्व द्रव्यों में स्वभाव से ही उत्पाद होता है। देखो कर्म की यह शक्ति नहीं है कि वह आत्मा में विकार उत्पन्न करा दे। कर्म निमित्त अवश्य है, किन्तु वह आत्मा में विकार उत्पन्न करदे – ऐसी उसमें योग्यता नहीं है।

अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि ज्ञानावरणी कर्म के कारण ज्ञान रुकता है, क्योंकि "ज्ञानावरणी" शब्द मे ऐसा भासित होता है न कि वह आवरण करता होगा, परन्तु भाई! ऐसा नहीं है। ज्ञानावरणी कर्म तो निमित्तमात्र है। जब जीव अपने ज्ञान की हीन परिणति स्वयं अपने से ही करता है, तब कर्म को निमित्त कहा जाता है। जिसतरह कुम्हार घड़े का उत्पादक नहीं है, उसीप्रकार कर्म जीव में विकार का उत्पादक नहीं है।

कुछ लोग जो व्यवहार से निश्चय का होना मानते हैं, व्रत, तप, भक्ति यात्रा आदि करके ऐसा मानते हैं कि मैं कर्म कर रहा हूँ, उनसे कहते हैं कि – भाई! ये भाव परलक्ष्य से हुए होने से शुभभाव हैं, इनमें धर्म नहीं है। हाँ अशुभ से बचने के लिए धर्मात्मा जीवों को भी ये भाव होते हैं, किन्तु ये धर्म नहीं हैं। धर्म तो सच्चिदानन्दस्वरूप ध्रुव परमात्मद्रव्य भगवान आत्मा के आश्रय से होता है। सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मानुभवमंडित आत्मश्रद्धान बिना धर्म कैसा? सम्यग्दर्शनरहित क्रियाकाण्ड तो एक के बिना बिन्दीवत् (शून्यवत्) है।

समयसार की ७२वीं गाथा में आत्मा व आस्रव का भेदज्ञान कराते हुए स्पष्ट कहा है कि शुभ व अशुभ दोनों आस्रवभाव हैं। दया, दान, व्रतादि के भाव आस्रव हैं। अरे! जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति का

बन्ध होता है, वह शुभभाव भी आस्रव है और वह आस्रव मलिन है, विपरीत स्वभाववाला जड़ है तथा आकुलता को उत्पन्न करनेवाला है, जबकि भगवान आत्मा अतिनिर्मल, चैतन्यमात्र स्वभावरूप व सदा ही निराकुल स्वभावरूप अनुभव में आता है। इसप्रकार भगवान आत्मा शुभभाव से भिन्न है। जो शुभराग आत्मा से भिन्न है, वह निश्चय का कारण कैसे हो सकता है ? राग कारण व निर्मल वीतराग पर्याय कार्य – ऐसा नहीं है। राग करते-करते सम्यक्त्व होता है – यह बात सर्वथा मिथ्या है। क्या लहसन खाते-खाते कभी कस्तूरी की डकार आ सकती है ? नहीं आ सकती। इसीतरह व्रत-तप आदि करते-करते भी निश्चयधर्म प्रगट नहीं होता।

भाई ! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। लोगों को सुनने के लिए नहीं मिला, इसकारण जैन होकर भी अजैन जैसे ही हैं।

देखो, पुण्य से धर्म होता है अथवा व्यवहार से निश्चय होता है – ऐसी विपरीत मान्यता सम्यग्दृष्टि को नहीं होती। ज्ञेयों को इष्ट मानकर राग हुआ तथा अनिष्ट मानकर द्वेष हुआ – यह अनन्तानुबंधी कषाय है। सम्यग्दृष्टि के इनका अभाव है। विपरीत मान्यता के नाशसहित सम्यक्-दृष्टि के अनन्तानुबंधी कषाय का अभाव हुआ है तथा उतना स्वरूपाचरण में स्थिर हुआ है, इसकारण उन्हें उसप्रकार का भावास्रव होता ही नहीं है तथा उस भावास्रव का अभाव होने से ज्ञानी के मिथ्यात्व व अनन्ता-नुबंधी कषाय सम्बन्धी बन्ध भी नहीं होता। इस गाथा में सम्यग्दृष्टि को जो अस्थिरता का राग होता है, उसे गिना ही नहीं है; क्योंकि मिथ्यात्व संबंधी राग-द्वेष ही संसार की जड़ है। अहो ! सम्यग्दर्शन ऐसी अद्भुत वस्तु है, जो संसार की जड़ छेद देती है।

अहा ! आत्मद्रव्य अनन्त-अनन्त आनन्द स्वभाव से भरा है। इस द्रव्य की दृष्टि होने पर पर्याय में आनन्द का स्वाद आता है। अकेले आनंद का ही नहीं, परन्तु द्रव्य में जितने गुण हैं, उन सभी का व्यक्त अंश सम्यग्दर्शन के काल में प्रगट हो जाता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव को मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी राग-द्वेष तो है ही नहीं, अतः उसके उसप्रकार का बन्ध भी नहीं है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि की सत्ता में से मिथ्यात्व का क्षय होते समय ही अनन्तानुबंधी कषाय का तथा उस सम्बन्धी अविरति का व योगभाव का भी क्षय हो जाता है, इसकारण उसे उसप्रकार का

वन्ध नहीं होता । देखो, पंडित जयचन्दजी ने स्पष्ट किया है कि परमाणु की (जड़कर्म की) – मिथ्यात्व की सत्ता का क्षय होने के समय क्षायिक सम्यदृष्टि के अनन्तानुवन्वी कषाय का भी क्षय होता है तथा उस सम्वन्धी अविरति का भी नाश होता है । तथा सम्यग्दर्शन होनेपर कषाय होनेरूप जो उसके सहभावी योग का भी नाश हुआ है, क्योंकि अयोग गुण-अकम्प स्वभाव का एक अंश भी उसी समय प्रगट हुआ है । यहाँ यह कहते हैं कि सम्यग्दर्शन होनेपर अनन्त गुणों का अंश प्रगट होता है और साथ ही उस-उस जाति के अवगुणों का भी आंशिक क्षय होता है ।

गृहस्थाश्रम में चतुर्थ गुणस्थान में आत्मा के चारित्र गुण का अंश भी प्रगट होता है तथा उससे संवंधित अनन्तानुवंधी कषाय का भी नाश होता है । औपशमिक सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व व अनन्तानुवंधी कषाय मात्र उपशम में – सत्ता में ही होने से सत्ता में रहनेवाला द्रव्य उदय में आये विना उसप्रकार के बन्ध का कारण नहीं होता । उपशम सम्यक्त्व में मिथ्यात्व का उदय नहीं होता । क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि को भी सम्यक् मोहनीय कर्मप्रकृति के सिवाय छः प्रकृतियों का विपाक – उदय नहीं आता, इस-कारण उसप्रकार का वन्ध नहीं होता । क्षयोपशम समकित के मिथ्यात्व, मिश्र व अनन्तानुवंधी चार – इसप्रकार छः प्रकृतियों का उदय ही नहीं है । मात्र सम्यक् मोहनीय का मंद उदय है, किन्तु उससे कोई वन्ध नहीं होता ।

आगे कहते हैं कि निमित्तरूप से द्रव्य-चारित्रमोहनीय कर्म का उदय वर्तता है, परन्तु उसमें जीव जितना जुड़ता है, उतने प्रमाण में बन्ध होता है । उदय के कारण वन्ध हो या विकार करना ही पड़ता हो – ऐसा नहीं है । कर्म के उदय में जीव की पर्याय की योग्यता जैसी हो, तदनुरूप जुड़ान होता है । कर्म के उदयप्रमाण विकार नहीं होता । जिस समय जो पर्याय होनी हो, उस समय वही पर्याय होती है ।

द्रव्य की जिस समय जो पर्यायें होती हैं, वे सब क्रमवद्ध ही होती हैं । इसपर कोई यह कह सकता है कि पर्यायें एक के पीछे एक क्रमशः होती हैं, यह तो ठीक परन्तु इसके बाद यही होगी – ऐसा नियत क्रम नहीं है, सो यह उसकी मान्यता खोटी है । प्रत्येक द्रव्य की पर्याय नियत क्रम में ही सर्वज्ञदेव ने देखी है और इसी प्रमाण में जैसी है, वैसी ही होती है, आगे-पीछे नहीं होती तथा स्वकाल में हुए विना रहीं रहती । पर्याय का – आयत समुदाय का प्रवाह क्रम है । गुण अक्रम हैं तथा

प्रवाहक्रम है अर्थात् एक के बाद एक होने रूप प्रवाहक्रम है। यह क्रम नियत ही है। जिसप्रकार दाँयें के बाद बाँया व बायें के बाद दाँया पैर उठने का क्रम होता है, उसीप्रकार जिससमय जो पर्याय होनी हो, उसी-समय वही पर्याय होती है – ऐसा ही नियतक्रम है, वस्तु का ऐसा ही स्वरूप है। फिर भी जो पर्यायो को क्रमबद्ध नहीं मानते उनके मत से सर्वज्ञता का ही अभाव ठहरता है अर्थात् वह सर्वज्ञ को ही नहीं मानता।

अहा ! सम्यग्दृष्टि को एक-एक गुण – शक्ति से परिपूर्ण द्रव्यस्वभाव का तथा समय-समय स्वतंत्ररूप से परिणमित होती हुई पर्यायों का यथार्थ-ज्ञान होता है।

सम्यग्दर्शन की पर्याय अपने कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरणरूप षट्कारक के परिणमन से होती है तथा निमित्त की पर्याय निमित्त में निमित्त के अपने षट्कारकों से उसके स्वयं के कालक्रम में होती है। प्रत्येक कार्य होने के काल में निमित्त भी होते हैं, परन्तु निमित्त से कार्य नहीं होते; क्योंकि व्यवहार व निश्चय एक ही समय में होता है। दृष्टि स्वभाव पर जाते ही सम्यग्दर्शन की पर्याय अपने स्वकाल में निश्चय से होती है तथा उसी समय जो राग शेष है, उसका भी यही क्रम व काल स्वयं से है। इससे स्पष्ट है कि व्यवहार से निश्चय नहीं होता। सम्यग्दर्शन की पर्याय का कर्त्ता राग – व्यवहार तो है ही नहीं, द्रव्य व गुण भी अपनी सम्यग्दर्शनरूप पर्याय के कर्त्ता नहीं हैं।

अहा ! ऐसा वस्तु का स्वरूप प्रगट होते हुए भी अज्ञानीजन अपनी हठ से कहते हैं कि निमित्त आवे तो उपादान में कार्य हो, परन्तु भाई ! पर्याय का अपना स्वतंत्र जन्मक्षण है, वह अपने स्वकाल में स्वतः प्रगट होती है; उसे निमित्त की अपेक्षा नहीं है।

भाई ! जैसे द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, उनके स्वरूप का वैसा ही ज्ञान करके द्रव्य की दृष्टि – प्रतीति करे तो सम्यग्दर्शन होता है। समय-समय होनेवाली प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल में प्रगट होती है – ऐसा निर्णय करनेवाली दृष्टि ही द्रव्यस्वभाव में जाती है और उसी का नाम सम्यग्दर्शन है।

अब कहते हैं कि गुणस्थान परिपाटी में चतुर्थ गुणस्थान में समकिती को ४१ प्रकृतियों का नाश होता है। समकिती को चारित्रमोह

के उदयकाल में उसकी जितनी-जैसी योग्यता है, उतना विकार होता है तथा उतना बंध भी होता है; किन्तु वह अल्प है, इसकारण सामान्य अर्थात् मूल संसार की अपेक्षा उसे बन्ध ही नहीं गिना जाता।

देखो, धर्मी कर्त्ता होकर राग को नहीं करता। उसके मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी का तो क्षय हो ही गया है, इसकारण उसकी पर्याय में इतना विकार – राग तो है ही नहीं। चारित्रमोह के उदय में उसकी जितनी-जैसी पर्याय की योग्यता है, उसी प्रमाण में जुड़ान होता है; किन्तु जो किंचित् राग होता है, वह उसका भी स्वामी या कर्त्ता नहीं होता। "व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है" – ऐसा जो १२वीं गाथा में कहा है, तदनुसार धर्मी राग को मात्र जानता ही है। वस्तुतः ज्ञानी राग का स्वामी नहीं है, किन्तु वह अपना निर्मल पर्याय का स्वामी है। आत्मा में स्व-स्वामित्व का एक गुण है, जिसके कारण शुद्ध द्रव्य, शुद्ध गुण व निर्मल शुद्ध पर्याय धर्मी के स्व है तथा आत्मा उनका स्वामी है। आत्मा राग का स्वामी नहीं है। समयसार परिशिष्ट में शक्तियों के वर्णन में द्रव्य-गुण व पर्याय तीनों ही निर्मल लिये हैं। गुणों को धारण करनेवाला गुणी आत्मा के आश्रय होनेपर गुण का जो निर्मल परिणाम होता है, आत्मा उसका स्वामी है, राग का नहीं।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव चारित्रमोह के उदय में स्थिरतारूप से जुड़ता है, परन्तु वह अस्थिरतारूप जुड़ान वास्तव में देखा जाय तो जुड़ान ही नहीं है, क्योंकि एक तो वह अनन्त ससार का कारण नहीं है, दूसरे – अल्पकाल में नाश होनेवाला है तथा ज्ञानी की दृष्टि ही उसपर नहीं है, अतः उसकी यहाँ बन्ध के रूप में गिनती ही नहीं की गई है। यहाँ तो केवल मिथ्यात्वसहित राग-द्वेष को ही आस्रव व बंध गिना है। इसलिए सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष-मोह का अभाव कहा गया है।

जबतक कर्म का स्वामीपना रखकर जीव कर्म के उदय में परिणमता है, तबतक ही जीव कर्म का कर्त्ता है। देखो, यहाँ कहते हैं कि दया, दान, व्रत, तप आदि के परिणाम अपने स्वकाल में ज्ञानी को भी आते हैं, परन्तु ज्ञानी के उसका स्वामित्व नहीं है, जबकि अज्ञानी शुभराग का स्वामी बनकर परिणमता हुआ उसका कर्त्ता बनता है। भाई! चरणानुयोग का जितना व्यवहाररूप आचरण है, उसका कर्त्ता बनकर परिणमना ही अज्ञान है। शुभपरिणाम की क्रिया अज्ञान नहीं, बल्कि उसमें स्वामित्व और कर्तृत्व की मान्यता अज्ञान है।

उदय का ज्ञाता-दृष्टा रहकर पर के निमित्त से मात्र अस्थिरतारूप से परिणमना कर्त्तापना नहीं है, यह तो ज्ञातापना ही है। धर्मी को जो पर के निमित्त से या पर के लक्ष्य से यत्किंचित् रागादिभाव होते हैं, उनका वह ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं। यहाँ "पर के निमित्त से" ऐसा जो कहा, उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि पर के कारण राग होता है, बल्कि ऐसा समझना कि जब ज्ञानी स्वयं अपनी तत्कालीन योग्यता से पर में जुड़ान करता है, तब राग है; निमित्त के कारण या पर के कारण नहीं। जड़ नयों में एक ईश्वरनय है। वहाँ कहा है कि आत्मद्रव्य ईश्वरनय से परतंत्रता का भोगनेवाला है, अर्थात् आत्मा स्वयं पर के आधीन होकर परिणमता है, ऐसी इसके पर्याय की तत्समय की योग्यता है। पर या निमित्त किसी भी परद्रव्य को अपने आधीन नहीं करता, किन्तु अज्ञानी जीव स्वयं पर के आधीन होता है।

"आधीन होता है व आधीन करता है" इन दोनों बातों में भारी अन्तर है। ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से परिणमते हुए ज्ञानी को जो अस्थिरता का राग होता है, वह उसका ज्ञाता ही रहता है, कर्त्ता नहीं बनता।

इस अपेक्षा सम्यग्दृष्टि होने के बाद चारित्रमोह के उदयरूप परिणमन करते हुए भी उसे ज्ञानी व अबन्धक कहते हैं। जबतक मिथ्यात्व का उदय है तथा उसमें जुड़ान करके जीव राग-द्वेष-मोहभाव से परिणमता है, तबतक ही उसे अज्ञानी व बन्धक कहा जाता है। दृष्टि व दृष्टि का विषय शुद्ध निर्मल है। इस अपेक्षा से निर्मल दृष्टिवन्त ज्ञानी को मिथ्यात्व व अनन्तानुबधी के परिणाम नहीं होने से उस जाति का बन्धन नहीं है, इसकारण उसे अबन्धक कहा है। दूसरी ओर जब पर्याय का ज्ञान कराना हो, तब ऐसा कहते हैं कि दसवें गुणस्थान पर्यन्त जो राग होता है, वह स्वयं का अपराध है और स्वयं ही उसे करता है। वह राग कर्म के कारण नहीं होता; बल्कि वह राग, राग के स्वामित्व बिना व कर्तृत्व बिना स्वयं से होता है।

अब कहते हैं कि ज्ञानी को जो शुद्धस्वरूप अनुभव में आया है, उसमें लीन रहने के अभ्यास द्वारा ही उसे केवलज्ञान प्रगट होता है। केवलज्ञान प्रगट करने का यह एक ही उपाय है, व्रत-तप-भक्ति आदि उपायों से केवलज्ञान की प्राप्ति सभव नहीं है। शास्त्र में जहाँ इन्हें मुक्ति के उपायों में गिनाया है, वह आरोपित कथन जानना। जीव को जब शुद्धात्मा के अनुभव द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, तब वह ज्ञानी होता है और

इसी अनुभव के अभ्यास द्वारा उसे केवलज्ञान प्रगट होता है तथा जब केवलज्ञान प्रगट होता है, तभी वह साक्षात ज्ञानी होता है। चौथे गुणस्थान में ज्ञानी को दृष्टि की अपेक्षा निरास्रव कहा है तथा केवलज्ञान होनेपर साक्षात् ज्ञानी होता हुआ वह सर्वथा निरास्रव हो जाता है।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(मालिनी)

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः
समयमनुसरंतो यद्यपि द्रव्यरूपाः ।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः ॥११८॥

श्लोकार्थ :—[यद्यपि] यद्यपि [समयम् अनुसरन्तः] अपने-अपने समय का अनुसरण करनेवाला (अपने-अपने समय में उदय में आनेवाले) [पूर्वबद्धाः] पूर्वबद्ध (पहले अज्ञान अवस्था में बँधे हुवे) [द्रव्यरूपाः प्रत्ययाः] द्रव्यरूप प्रत्यय [सत्तां] अपनी सत्ता को [न हि विजहति] नहीं छोड़ते (वे सत्ता में रहते हैं) [तदपि] तथापि [सकलरागद्वेषमोह-व्युदासात्] सर्व राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से [ज्ञानिनः] ज्ञानी के [कर्मबन्धः] कर्मबन्ध [जातु] कदापि [अवतरति न] अवतार नहीं धरता – नहीं होते।

भावार्थ :—ज्ञानी के पहले अज्ञान अवस्था में बाँधे हुए द्रव्यास्रव सत्ता अवस्था में विद्यमान हैं और वे अपने उदयकाल में उदय में आते रहते हैं, किन्तु वे द्रव्यास्रव ज्ञानी के कर्मबन्ध के कारण नहीं होते, क्योंकि ज्ञानी के समस्त राग-द्वेष-मोहभावों का अभाव है। यहाँ समस्त राग-द्वेष-मोह का अभाव बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष-मोह की अपेक्षा से समझना चाहिये।

कलश ११८ पर प्रवचन

यह सम्यग्दृष्टि की बात है। सम्यग्दृष्टि अर्थात् जिसने अनन्त संसार के कारणभूत मिथ्यात्वभाव का एवं अनन्तानुबंधी राग-द्वेष का नाश किया है तथा त्रिकाली मुक्तस्वरूप शुद्ध चैतन्यस्वभावी भगवान ज्ञायक परिपूर्ण परमात्मस्वरूप निज आत्मा की अनुभूति प्रगट की है, वह सम्यग्दृष्टि है।

शुद्ध समकित के स्वरूप को नहीं जाननेवाले अज्ञानी बाह्य आचरण को ही संयम मानते हैं। यथार्थ संयम क्या वस्तु है – इसकी उन्हें खबर नहीं है। वस्तुतः जिसे शुद्धात्मा के अनुभवपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है, उसे जो आत्मा के स्वरूप में लीनता या रमणता होती है, उसका नाम संयम है। ये बाह्य व्रत, तप आदि रूप भाव सच्चा संयम नहीं है। यह तो वस्तुतः असंयम ही है। भगवान तो ऐसा कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि के सभी व्रत व तप बालव्रत व बालतप हैं। इस बाह्य तप-त्यागरूप क्रिया में अटके जीवों के अन्दर में मिथ्यात्व की जो महाशल्य विद्यमान है, सर्वप्रथम वह त्यागना है – यह बात उन्हें सूझती ही नहीं है।

अरे भाई! ये सभी बाह्य क्रियाएँ तो अभव्य ने भी अनन्तबार की हैं। इन क्रियाओं में भगवान आत्मा नहीं है। बिना सम्यग्दर्शन के कदाचित् ग्यारह अंग भी पढ़ले, तो भी वह अज्ञानी है। जो राग की क्रियाओं में धर्म मानता है, उसे तो मिथ्यात्व का बंध होता है तथा भगवान आत्मा तो सदा अबन्धस्वरूप है। उस अबन्धस्वभावी आत्मा की अन्तर में महिमा लाकर उसमें अन्तर्लीनता करना ही आत्मा का अबन्ध परिणाम है। यहाँ इस कलश में उसी अबन्ध परिणाम को प्राप्त सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की बात है।

इसमें आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दर्शन प्रगट होनेपर तथा मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी सम्बन्धी कषाय के नाश होने पर जो शेष कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में विद्यमान हैं, वे यद्यपि अपनी सत्ता को छोड़ती नहीं हैं तथा उनका अपने-अपने समय अनुसार उदय भी आता रहता है, तथापि सर्व राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से ज्ञानी को कदापि कर्मबन्ध नहीं होता। ज्ञानी को दृष्टि की अपेक्षा कोई भी राग-द्वेष-मोह नहीं होने से नवीन कर्मबन्ध नहीं होता – यह कथन अनन्त संसार का कारणभूत मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय के नाश होने की अपेक्षा से है। अस्थिरताजनित अल्प चारित्र सम्बन्धी दोष को यहाँ गिना नहीं है, क्योंकि चारित्र का दोष तो अति अल्प दोष है। उसे गौण करके यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी के तथा धर्मी के कर्मबन्ध नहीं होता।

तथा कितने ही यह कहते हैं कि ज्ञानी एवं धर्मी में बहुत फेर है – दोनों पृथक्-पृथक् हैं। वे कहते हैं कि हम धर्मी हैं, ज्ञानी नहीं; परन्तु

उनका यह सोचना बराबर नहीं है, क्योंकि जो ज्ञानी (आत्मज्ञानी) नहीं होगा, वह धर्मी कैसा ? भाई ! ज्ञानी कहो या धर्मी कहो – दोनों एक ही बात है। ज्ञानी धर्मी है व धर्मी ज्ञानी है। जिसे निर्विकल्प आत्मा का अनुभव है वह सम्यग्दृष्टि धर्मी है, ज्ञानी है।

देखो, सम्यग्दृष्टि भरत चक्रवर्ती को ९६ हजार रानियों का एवं छह खण्ड की विभूति का राग होते हुए भी यह राग चारित्र मोह का अल्प दोष होने से गौण किया गया है। कहा भी है—

"भरत जी घर में ही वैरागी"

अर्थात् भरत चक्रवती घर में रहते हुए भी जल से भिन्न कमल की भाँति घर-परिवार से भिन्न-विरक्त थे। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व का महादोष होने से कोटिवर्ष के व्रत-तप आदि को संसार का कारण कहा गया है।

जिसने विपरीत मान्यता व उसके अनुसार होनेवाले राग-द्वेष का नाश किया है – ऐसी आठवर्ष की बालिका भी सम्यग्दृष्टि है, ज्ञानी है। सम्यग्दर्शन होने के बाद कदाचित् वह लग्न भी करे तो भी उसे मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष नहीं है। चारित्रमोह का जो अल्प दोष है, वह भी अल्पकाल में स्वतः नष्ट होनेवाला है, अतः उसे भी गौण करके यह कहा जाता है कि ज्ञानी के नवीन कर्म का बन्ध नहीं होता।

कलश ११८ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, ज्ञानी के भी अज्ञान अवस्था में बंधे हुए तथा वर्तमान में सत्ता में विद्यमान पूर्व के जड़कर्म अपने स्व-समय में उदय में आते रहते हैं; परन्तु वे द्रव्यास्रव उदयकाल में ज्ञानी को नवीन कर्मबन्ध के कारण नहीं होते, क्योंकि श्रद्धा की अपेक्षा ज्ञानी के सम्पूर्ण राग-द्वेष-मोह का अभाव है। जिसे अन्तर में विराजमान सच्चिदानन्दमय भगवान आत्मा का अवलम्बन लेने से सम्यग्दर्शन हुआ, उसे मिथ्यात्व व तदनुसार होनेवाले राग-द्वेष का नाश हो गया है, इसकारण उसे पूर्व द्रव्यास्रव का उदय नवीन कर्मबन्ध का कारण नहीं होता। यहाँ जो सकल राग-द्वेष-मोह के अभाव की बात कही है, उसका अर्थ केवल मिथ्यात्व व तदविनाभावी अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष-मोह का अभाव समझना, क्योंकि संसार का मूल मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषाय ही है। जिस अपेक्षा जो बात कही जाती है, उसे यथार्थ समझना चाहिए। जिसने मूल – जड़ का ही नाश कर

दिया है, उस समकिती को राग-द्वेष-मोह होते ही नहीं हैं तथा उससे उसे पूर्व द्रव्यास्रव नवीन कर्मबन्ध के कारण नहीं होते।

भरत चक्रवर्ती छह लाख पूर्व तक चक्रवर्ती पद पर रहे। एक पूर्व में ७० लाख ५६ हजार करोड़ वर्ष होते हैं। ऐसे छह लाख पूर्व चक्रवर्ती पद में रहते हुए भी उनके कर्मबन्धन नहीं होता था, क्योंकि वे समकिती थे।

यह सुनकर किसी को फिर प्रश्न हो सकता है कि वह तो इसी भव में मोक्ष जानेवाले महापुरुष थे, किन्तु दूसरे सामान्य समकितियों के तो कर्मबन्ध होता ही होगा न ?

उनसे कहते हैं कि भाई ! महान तो आत्मा है और उसे उस (आत्मा) का अनुभव हो गया है, अतः सभी ज्ञानी-समकितियों के संसार की मूल – जड़रूप मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी राग-द्वेष का अभाव हो जाता है। जो अल्पराग रह जाता है, उसके कारण कर्म की स्थिति व रस भी अल्प होता है। भरत चक्रवर्ती तो मोक्षगामी थे, परन्तु अन्य कोई सामान्य धर्मी जीव जो उस भव से मोक्ष न भी जाय, तो भी समकिती को दीर्घ संसार के कारणभूत राग-द्वेष-मोह नहीं होते।

यहाँ जो यह कहा कि समकिती को राग-द्वेष-मोह है ही नहीं, उसका तात्पर्य यही लेना कि यहाँ अस्थिरताजनित अल्पराग को गिना नहीं है – गौण कर दिया है। वस्तुतः देखा जावे तो समकिती को अस्थिरता-जनित शुभाशुभभाव होते हैं तथा तज्जनित बंध भी होता है; परन्तु विशेषता यह है कि जबतक उसके अशुभभाव रहता है, तबतक उसे भविष्य की आयु का बन्ध नहीं पड़ता। जब वह शुभभाव में आता है, तभी भविष्य की आयु बंधती है। भरत चक्रवर्ती तो उसी भव में मोक्ष गये, इसकारण उनके भविष्य की आयु के बन्ध का प्रश्न ही नहीं था; किन्तु दूसरे बलदेव आदि चक्रवर्ती जो स्वर्ग में वैमानिक देवों में जाते हैं, उनके जबतक अशुभ-भाव का काल है, तबतक भविष्य का आयुबंध नहीं होता।

चौथे गुणस्थान में धर्मी को आर्त व रौद्र – दोनों ध्यान होते हैं। बहुत शुभभाव भी आते हैं और बहुत अशुभभाव भी होते हैं। स्त्रीसेवन का अशुभ राग भी आता है, परन्तु उस काल में उसे भविष्य की आयु का बन्ध नहीं होता, सम्यग्दर्शन का ऐसा कोई गजब का प्रवाह है – जोर है। अहो ! सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की कोई अचिन्त्य-अलौकिक महिमा है।

कोई बाह्य में राज्य, व्यापार-धंधा अथवा कुटुम्ब-परिवार का परित्याग कर देवे और व्रतादि पाले तो लोगों को उसकी बहुत महिमा आती है, परन्तु उससे क्या ? उसमें तो यदि कषाय मंद रही तो पुण्यभाव है, किन्तु मिथ्यात्व तो उदय में पड़ा ही है न ? और जहाँ मिथ्यात्व का भी त्याग नहीं हुआ, वहाँ किसी का भी त्याग संभव नहीं है। मिथ्यात्व का त्याग होनेपर ही सर्व राग-द्वेष-मोह का त्याग होता है। यहाँ कहा भी है कि ज्ञानी के सर्व राग-द्वेष-मोह का अभाव है। भाई ! आचार्यदेव किस शैली से बात करते हैं, उसे यथार्थ समझना चाहिए।

भगवान ! जहाँ स्वयं त्रिकाल सच्चिदानंदस्वरूप भगवान आत्मा विराज रहा है, वहाँ दृष्टि करना है। स्वयं सदा परमात्मस्वरूप ही है, उसके पास जाना व स्थिर होना ही अपना कर्तव्य है तथा निमित्त, राग व पर्याय की ओर से पीठ फेरना है, तभी आत्मोपलब्धि होना सभव है। सुखी होने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

यह बात सुनकर किसी को पुनः प्रश्न हो सकता है कि समाधिशतक शास्त्र में व्रत के परिणाम को छाया की उपमा दी है न ? अतः व्रतादि धारण करना चाहिए न ?

उनसे कहते हैं कि भाई ! बात तो ठीक है, परन्तु व्रत होते किसे हैं ? जिसको अन्तर के अवलम्बन से आत्मज्ञान उदित हुआ है, उसे ही व्रत होते हैं। वहाँ समाधिशतक में ज्ञानी की अपेक्षा ही वह कथन है। बिना आत्मज्ञान के व्रत का परिणाम छाया नहीं है। जिसे आत्मा के अनुभव सहित सम्यग्दर्शन हुआ है, उस समकिती को अव्रत के अशुभभाव में रहना धूप है। जब वह अव्रत के अशुभभाव से व्रत के शुभभाव में आता है, तब वह व्रत का परिणाम छाया के समान है। जब समकिती के अन्दर में वीतरागी शान्ति बढ़ जाती है, वैराग का परिणाम दृढ़ हो जाता है; तब उसके साथ व्रत के विकल्प आते हैं।

अब यहाँ और भी विशेष स्पष्टीकरण करते हैं कि ज्ञानी को जो सर्व राग-द्वेष-मोह का अभाव कहा है, वह बुद्धिपूर्वक या रुचिपूर्वक राग-द्वेष-मोह की अपेक्षा समझना। पण्डित राजमलजी ने "बुद्धिपूर्वक" का दूसरा अर्थ यह किया है कि जो जानने में आवे, वह बुद्धिपूर्वक है तथा जो ज्ञान में न आवे, वह अबुद्धिपूर्वक है; परन्तु यहाँ यह बात नहीं है। यहाँ तो यह कहा है कि अभिप्राय में ज्ञानी को सर्व राग-द्वेष-मोह का अभाव है।

लोग पूछते हैं कि राग कैसे टले ? उनसे कहते हैं कि हे भाई ! आत्मा स्वयं चिदानंदस्वरूप परमात्मा है, उसे स्पर्श करते हुए अर्थात् एकाग्र होकर परिणमन करते हुए राग का नाश हो जाता है। इसके सिवाय राग के नाश का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

अरे ! सांसारिक कार्यों के आगे इसे इस तत्त्व को समझने की फुरसत ही कहाँ है ? घर में स्वयं के पुत्र-पुत्रियाँ न होंगी तो दूसरे के पुत्र-पुत्रियों को गोद लेगा, किन्तु संसार के काम तो करेगा ही। इन संसारी प्राणियों की कैसी मति मारी गई है ? यदि यही पैसा धर्मकार्य में खर्च करे तो शुभभाव हो तथा अपनी दैनिक चर्चा से बचे समय को नई-नई कमाई में लगाने के वजाय स्वाध्याय-मनन-चिन्तन में लगावे तो आत्म-कल्याण भी हो जावे; परन्तु मोह की महिमा कोई गजब की है। गोद लेकर वंश वढ़ाना चाहता है। अरे भाई ! किसका वंश ? क्या जड़ देह के वंश को वढ़ाना है ? कैसी विडम्वना है ? भाई ! इस देह के वंश को वढ़ाने की रुचि अनन्त जन्म-मरण के दुःख में डालनेवाली है। इन सब उलझनों को छोड़कर शास्त्र क्या कहते हैं – इसका श्रवण करने का, मनन व चिन्तन करने का समय निकालना चाहिए।

अब इसी अर्थ को दृढ़ करनेवाली आगामी दो गाथाओं का सूचक श्लोक कहते हैं :—

(अनुष्टुभ्)

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः।
तत एव न बंधोऽस्य ते हि बंधस्य कारणम् ॥११९॥

श्लोकार्थ :—[यत्] क्योंकि [ज्ञानिनः रागद्वेषविमोहानां असंभवः] ज्ञानियों के राग-द्वेष-मोह असम्भव है, [ततः एव] इसलिये [अस्य बन्धः न] उनके वन्ध नहीं है; [हि] कारण कि [ते वन्धस्य कारणम्] वे (राग-द्वेष-मोह) हीं वन्धन के कारण हैं।

कलश ११९ पर प्रवचन

देखो, यहाँ आचार्य कहते हैं कि चतुर्थ गुणस्थान में समकिती को राग-द्वेष-मोह अर्थात् दुःख नहीं है। वास्तव में तो यहाँ मिथ्यात्व का नाश हुआ है, इसकारण तत्संबंधी राग-द्वेष-मोह नहीं है – ऐसा कहा है। इससे

कोई ऐसा न समझ ले कि सर्वथा राग-द्वेष या दुःख नहीं रहा; बल्कि मिथ्यात्व के अभाव से अनन्त दुःख व अनन्त संसार का अभाव हुआ है, अल्प संसार व अल्प दुःख रहा है। वैसे देखा जावे तो सच्चे भावलिंगी संतों को छट्ठे-सातवें गुणस्थान में जहाँ आत्मज्ञानसहित प्रचुर स्वसंवेदन है, वहाँ भी किंचित् राग, अशुद्धता व दुःख है। यहाँ इस कलश में तो बुद्धिपूर्वक अर्थात् रुचिपूर्वक होनेवाले आस्रव की अपेक्षा कथन है।

ढाईद्वीप के बाहर स्वयंभूरमण समुद्र में असंख्य तिर्यंच समकिती पंचम गुणस्थानवर्ती हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच भी असख्य हैं। वे सब ज्ञानी हैं, इसकारण उन सबको यहाँ जिस अपेक्षा से राग-द्वेष-मोह का व बंध का अभाव कहा जाता है, उस अपेक्षा से स्पष्ट समझना चाहिये।

ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह नहीं है, इसकारण उसके बंध नहीं है। इस कथन से कोई ऐसा नहीं समझ ले कि ज्ञानी करोड़ों पूर्व तक बड़े भारी राजपाट में तथा हजारों स्त्रियों के साथ भोग-विलास में रहता है, तथापि उसे बन्ध नहीं है। उसके अल्प-अस्थिरता का जितना राग है, उतना बन्ध भी है। "सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के हेतु हैं" – ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसे सर्वथा बन्ध का अभाव नहीं है। सर्वथा निर्जरा हो जाती हो – ऐसा नहीं है, बल्कि उसे मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय नहीं है तथा उसे संसार का कारणभूत बन्ध का अभाव होने से निर्जरा है – ऐसा कहा गया है। दृष्टिपूर्वक स्वभाव की रुचि में राग का अभिप्राय छूट जाता है। इसकारण दृष्टि की महिमा दिखाने के लिये ज्ञानी के भोग निर्जरा के कारण हैं – ऐसा आगम में कहा गया है। उसी आगम में यह भी कहा है कि पंचमहाव्रत के शुभ परिणाम बंध के कारण हैं। एक ओर महाव्रत के परिणाम को बन्ध का कारण और दूसरी ओर भोग के भाव को निर्जरा का कारण कहा है, उसकी अपेक्षा को नहीं जानेगा तो शास्त्रों का मर्म कभी समझ में नहीं आ सकता।

निर्जरा अधिकार में एक और नई बात आती है कि – हे समकिती ! तू परद्रव्य को मत भोग ! अब आप स्वयं सोचिये कि जहाँ आत्मा परद्रव्य को भोग ही नहीं सकता तो फिर तू इसको मत भोग – इसका क्या अर्थ हो सकता है ?

भाई ! वहाँ परद्रव्य के कारण जो अपराध होता है, उसे छोड़ने की बात है। 'परद्रव्य के कारण तुझे हानि होती है' – इस मिथ्या

मान्यता को छोड़ दे। तुझे तेरे अपराध से बन्ध है, यह वहाँ सिद्ध किया है।

ज्ञानी को किंचित् राग होता है, परन्तु वह तो अस्थिरता का दोष है तथा वह स्वरूप के उग्र अवलम्बन से क्रमशः छूट जाता है। दर्शनपाहुड में कहा भी है – "सिज्झन्ति चरिय भट्टा, दंसण भट्टा ण सिज्झंति" तात्पर्य यह है कि जो व्रत, तप आदि पुण्यभाव से धर्म होना मानता है, वह आत्मा दर्शन से भ्रष्ट है, उसे मोक्ष नहीं होता; क्योंकि जो दर्शन से भ्रष्ट है, वह ज्ञान व चारित्र से भी भ्रष्ट है। मिथ्यादृष्टि को आत्मा की रुचि, ज्ञान व चारित्र में से एक भी नहीं होता। समकिती यद्यपि चारित्र से रहित है, तथापि उसे सम्यग्दर्शन है। वर्तमान पुरुषार्थ की कमी के कारण उसमें अस्थिरता का दोष है, किन्तु वह उसे हेयपने जानता है। तथा अन्तर के उग्रपुरुषार्थ द्वारा क्रम-क्रम से उस कमजोरीजनित दोष को दूर करने में सतत प्रयत्नशील रहता है तथा अल्पकाल में नष्ट कर देता है।

भाई ! व्यवहार व्रत-तप-भक्ति-पूजा के परिणाम शुभभाव हैं, अतः आत्मा के दोष हैं। समयसार में भी आत्म-आलोचन के प्रकरण में जहाँ शुभभाव का उल्लेख है, वहाँ उसे वर्तमान पर्याय का दोष कहा है। इसी कारण तो आत्मा के माध्यम से उसकी आलोचना करते हैं।

भाई ! भगवान केवली परमात्मा का मार्ग वीतरागता का मार्ग है और वह वीतराग पर्याय से उत्पन्न होता है। राग की पर्याय से वीतराग मार्ग कभी भी उत्पन्न नहीं होता। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का जो अंश है, वह वीतराग पर्याय है। वह वीतराग पर्याय राग के आश्रय से उत्पन्न नहीं होती, किन्तु अपने त्रिकाली वीतरागी स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न होती है।

जिसके उपदेश में ऐसा कथन आता है कि व्रत तप आदि शुभभाव करते-करते कल्याण हो जाएगा, उसकी तो दृष्टि ही मिथ्या है। जिसका श्रद्धान ही विपरीत है, उसके व्रत व तप सच्चे कैसे हो सकते हैं ? अज्ञानी की तो बात-बात में फेर होता है।

यहाँ तो यह कहते हैं कि ज्ञानी के नवीन बन्ध नहीं है, क्योंकि जो राग-द्वेष व मोह बन्ध के कारण हैं, ज्ञानी के संभव नहीं हैं।

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥१७७॥
हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
तेसिं पि य रागादि तेसिमभावे ण वज्झंति ॥१७८॥

रागो द्वेषो मोहश्च आस्रवा न संति सम्यग्दृष्टेः ।
तस्मादास्रवभावेन विना हेतवो न प्रत्यया भवंति ॥१७७॥
हेतुश्चतुर्विकल्पः अष्टविकल्पस्य कारणं भणितम् ।
तेषामपि च रागादयस्तेषामभावे न बध्यंते ॥१७८॥

रागद्वेषमोहा न संति सम्यग्दृष्टेः सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेः । तदभावे न तस्य द्रव्यप्रत्ययाः पुद्गलकर्महेतुत्वं बिभ्रति, द्रव्यप्रत्ययानां

अब इस अर्थ को समर्थक दो गाथाएँ कहते हैं :—

नहिं राग-द्वेष, न मोह वे आस्रव नहीं सदृष्टिके ।
इससे हि आस्रवभाव बिन, प्रत्यय नहीं हेतू बने ॥१७७॥
हेतू चतुर्विध कर्म अष्ट प्रकार का कारण कहा ।
उनका हि रागादिक कहा, रागादि नहिं वहाँ बंध ना ॥१७८॥

गाथार्थ :—[रागः] राग, [द्वेषः] द्वेष [च मोहः] और मोह [आस्रवाः] यह आस्रव [सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टि के [न संति] नहीं होते, [तस्मात्] इसलिये [आस्रवभावेन विना] आस्रवभाव के बिना [प्रत्ययाः] द्रव्यप्रत्यय [हेतवः] कर्मबन्ध के कारण [न भवंति] नहीं होते ।

[चतुर्विकल्पः हेतुः] (मिथ्यात्वादि) चार प्रकार के हेतु [अष्टविकल्पस्य] आठ प्रकार के कर्मों को [कारणं] कारण [भणितम्] कहे गये हैं [च] और [तेषाम् अपि] उनके भी [रागादयः] (जीव के) रागादि भाव कारण हैं; [तेषाम् अभावे] इसलिये उनके अभाव में [न बध्यंते] कर्म नहीं बँधते । (इसलिये सम्यग्दृष्टि के बन्ध नहीं है ।)

पुद्‌गलकर्महेतुत्वस्य रागादिहेतुत्वात् । ततो हेतुहेत्वभावे हेतुमदभावस्य प्रसिद्धत्वात् ज्ञानिनो नास्ति बंधः ।

टीका :—सम्यग्दृष्टि के राग-द्वेष-मोह नहीं हैं, क्योंकि सम्यग्दृष्टित्व की अन्यथा अनुपपत्ति है (अर्थात् राग-द्वेष-मोह के अभाव के बिना सम्यक्-दृष्टित्व नहीं हो सकता)। राग-द्वेष-मोह के अभाव में उसे (सम्यग्दृष्टि को) द्रव्यप्रत्यय पुद्‌गलकर्म का (अर्थात् पुद्‌गलकर्म के बन्धन का) हेतुत्व धारण नहीं करते; क्योंकि द्रव्यप्रत्ययों के पुद्‌गलकर्म के हेतुत्व के हेतु के अभाव में हेतुमान् का (अर्थात् कारण का जो कारण है, उसके अभाव में कार्य का) अभाव प्रसिद्ध है, इसलिये ज्ञानी के वन्ध नहीं है।

भावार्थ :—यहाँ, राग-द्वेष-मोह के अभाव के बिना सम्यग्दृष्टित्व नहीं हो सकता, ऐसा अविनाभावी नियम वताया है, सो यहाँ मिथ्यात्व-सम्बन्धी रागादि का अभाव समझना चाहिये। यहाँ मिथ्यात्वसम्वन्धी रागादि को ही रागादि माना गया है। सम्यग्दृष्टि होने के वाद जो कुछ चारित्रमोहसम्वन्धी राग रह जाता है, उसे यहाँ नहीं लिया है; वह गौण है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के भावास्रव का अर्थात् राग-द्वेष-मोह का अभाव है। द्रव्यास्रवों को बन्ध का हेतु होने में हेतुभूत जो राग-द्वेष-मोह हैं, उनका सम्यग्दृष्टि के अभाव होने से द्रव्यास्रव बन्ध के हेतु नहीं होते और द्रव्यास्रव बन्ध के हेतु नहीं होते, इसलिये सम्यग्दृष्टि के – ज्ञानी के बन्ध नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा जाता है, वह योग्य ही है। 'ज्ञानी' शब्द मुख्यतया तीन अपेक्षाओं को लेकर प्रयुक्त होता है :—(१) प्रथम तो, जिसे ज्ञान हो वह ज्ञानी कहलाता है; इसप्रकार सामान्य ज्ञान की अपेक्षा से सभी जीव ज्ञानी हैं। (२) यदि सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान की अपेक्षा से विचार किया जाये तो सम्यग्दृष्टि को सम्यग्ज्ञान होता है, इसलिए उस अपेक्षा से वह ज्ञानी है, और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। (३) सम्पूर्ण ज्ञान और अपूर्ण ज्ञान की अपेक्षा से विचार किया जाये तो केवली भगवान ज्ञानी हैं और छद्‌मस्थ अज्ञानी हैं, क्योंकि सिद्धान्त में पाँच भावों का कथन करने पर वारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है। इसप्रकार अनेकान्त से अपेक्षा के द्वारा विधि-निषेध निर्बाधरूप से सिद्ध होता है; सर्वथा एकान्त से कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

गाथा १७७-१७८ एवं उसकी टीका पर प्रवचन

ये दो गाथायें पूर्वोक्त गाथाओं के अभिप्राय को दृढ़ करने के लिए ही कही गई हैं। पूर्व गाथाओं में यह कहा था कि जो राग-द्वेष-मोह करते हैं अथवा जिनके वर्तमान में अज्ञानतावश राग-द्वेष-मोहरूप भावास्रव हैं, उनके ही पूर्ववद्ध द्रव्यकर्म का उदय नवीन कर्मवन्ध का कारण होता है तथा सम्यग्दृष्टि जीवों को मोह-राग-द्वेषरूप भावास्रव नहीं है; अतः उनको पूर्ववद्ध द्रव्यकर्म का उदय अर्थात् द्रव्यास्रव नवीन कर्मबन्ध का कारण नहीं है।

यही वात इन १७७ व १७८ गाथाओं में कहकर पूर्वोक्त बात का समर्थन किया गया है। यहाँ कहते हैं कि – "सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष-मोह नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टिपने की अन्यथा अनुपपत्ति है।" जिसने अपने को रागादि से भिन्न जानकर उनसे भेदज्ञान प्रगट कर लिया है तथा सच्चिदानन्दमय भगवान आत्मा का अनुभव कर लिया है, उस सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष-मोह नहीं है। जिसे रागादि के कर्तृत्व का अभिप्राय नहीं है और "शुद्धचैतन्य के आश्रय से प्रगट हुई वीतराग-पर्याय ही धर्मरूप है" – ऐसी जिसकी मान्यता है, वह सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि के उपदेश में शुभराग से शुद्धता प्रगट होने की बात नहीं आती। अहा ! निर्मल विज्ञानघनस्वरूप भगवान आत्मा को रागादि से भिन्न अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है और यहीं से मोक्षमार्ग का शुभारंभ होता है।

यहाँ यह सव कथन मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय की अपेक्षा से समझना चाहिये। सम्यदृष्टि को रागादि नहीं हैं, इसका अर्थ इतना ही है कि उसके अनन्तानुवंधी राग-द्वेष-मोह नहीं है। जो अनन्त संसार का कारण है – उस मिथ्यात्व व राग-द्वेष को ही यहाँ आस्रव कहा है। वह आस्रव सम्यग्दृष्टि के नहीं है। इस कथन को सुनकर या पढ़कर कोई अपनी स्वच्छन्दता का बचाव करे कि हममें जितनी अस्थिरता है, उतना राग होता है, इससे हमें क्या ? तो उसकी यह बात चलने जैसी नहीं है। ऐसा वचाव करनेवाला वास्तव में सम्यग्दृष्टि ही नहीं है। सम्यग्दृष्टि को जो किंचित् अस्थिरता है, वह चारित्र का दोष है तथा उसका उसे अल्प बन्ध भी है। ठेठ दसवें गुणस्थान तक जहाँ अबुद्धिपूर्वक राग है, वहाँ भी मोह व आयुकर्म के सिवाय छः कर्मों का बन्धन पड़ता है। समकिती को जहाँ-तक शुभराग है, वहाँतक यह दोष है; परन्तु यह मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी राग-द्वेष जैसा महादोष नहीं है।

अरे ! जगत में अज्ञानी जीव ऐसा मानते हैं कि शास्त्र पढ़ने से, भगवान की प्रतिमा के दर्शन करने से, भगवान की भक्ति करने से सम्यक्-दर्शन हो जावेगा तथा शुभराग करते-करते सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाएगा। परस्पर आचार्यत्व भी ऐसा ही करते हैं अर्थात् परस्पर में एक-दूसरे को ऐसा ही समझाते हैं। वे यह भी कहते हैं कि वर्तमान में पंचमकाल है, इसमें बस यही करने की योग्यता रह गई है, अतः यही करने योग्य है।

उनसे यहाँ आचार्य स्पष्ट कहते हैं कि जो राग से भेदज्ञान करके आत्मानुभव करता है, उसे सम्यग्दर्शन होता है तथा समकिती को राग-द्वेष-मोह का अभिप्राय नहीं रहता है। भाई ! परमार्थ का यही एक रास्ता है। पंचमकाल में राग से धर्म होता हो व चौथे काल में भेदज्ञान से एवं वीतरागता से धर्म होता हो – ऐसा नहीं है। भाई ! निर्मलानंद का नाथ शुद्ध चैतन्यमय भगवान आत्मा स्व अन्दर में सदा राग से भिन्न ही पड़ा है, अज्ञानी को उसकी खबर नहीं है। एकबार अन्दर झांककर इसकी श्रद्धा तो कर ! इससे तुझे अवश्य लाभ होगा, सम्यग्दर्शन हो जायगा।

आचार्य ऐसी करुणा करके समझाते हैं, तथापि अज्ञानी को समझने की फुरसत ही कहाँ है ? विचारा सारा दिन चौबीसों घटे सांसारिक कार्यों में – व्यापार-धंधा में तथा स्त्री बच्चों के संभालने में लगा रहता है। पाप में ही सारा समय व्यतीत हो रहा है। धर्म तो बहुत दूर की बात है, पुण्य का भी ठिकाना नहीं है। जो पूरा समय पाप ही पाप उत्पन्न करता हो, उसकी धर्म में बुद्धि कैसे हो ?

आत्मा का व्यापार तो रागरहित होना है। जिसे मोक्षमार्ग में गमन करना हो, उस मोक्षार्थी को तो केवलज्ञान उत्पन्न करनेवाली भेद-ज्ञान ज्योति प्रगट करना चाहिये। जिससे भिन्न होना हो, क्या उस राग को रखकर भेदज्ञान हो सकता है ? नहीं हो सकता। वीतराग की वाणी में तो राग से भिन्न होकर – भेदज्ञान करके वीतराग दशा प्रगट करने की बात है। बापू ! जन्म-मरण का अन्त लाना हो तो यही एक करने योग्य कार्य है। बाकी तो सभी जाति का पुण्य भी अनंतबार किया है और उसके फल में स्वर्ग भी अनेकबार गया है। भगवान के समवशरण में भी अनंत-बार गया और वहाँ यह भेदज्ञान की बात भी अनेक बार सुनी, परन्तु राग से भिन्न पड़ने की बात उसे आजतक रुचि नहीं, इसीकारण तो कहा है

कि जो केवली के समक्ष भी कोरा रह गया। द्रव्यसंयम से नवग्रैवेयक तक जाकर आत्मा के भान विना वहाँ से मनुष्य होकर पशुपर्याय में जाकर जीव नरक निगोद में चला जाता है।

कुन्दकुन्दाचार्य के शास्त्र पढ़ने का अर्थ है सीधी साक्षात् सीमंधर भगवान की वाणी का लाभ तथा उस महान दिगम्बर संत ने भगवान से सुनकर एवं उसे अपने जीवन में उतारकर अपने निज वैभव से वह बात कही है। समयसार गाथा ४ में वे कहते हैं कि परमगुरु सर्वज्ञदेव अर्थात् भगवान महावीर आदि सर्वज्ञदेव से प्रारम्भ करके हमारे गुरुपर्यन्त सभी निर्मल विज्ञानघन स्वभाव में मग्न थे। देखो, यह नहीं कहा कि वे महाव्रत पालते थे अथवा नग्न दिगम्बर थे, वल्कि यह कहा कि वे स्वभाव में मग्न रहते थे। केवली सबको जानते हैं, ऐसा भी वहाँ नहीं कहा, वल्कि यह कहा कि वे सब अपने निर्मल विज्ञानघन स्वभाव में मग्न थे। अहो! क्या शैली है? तथा वहीं यह भी कहा है कि उन्होंने हम पामरोंपर कृपा करके शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश दिया।

आ० कुन्दकुन्ददेव ने अपने समयसार गाथा ५ में यह नहीं कहा कि जो भगवान ने कहा है तथा मैंने सुना है, मैं उसे ही कहूँगा; बल्कि यह कहा कि मैं अपने निज वैभव से कहूँगा और तुम अपने निज वैभव से उसे ग्रहण करना। अहा! यह तो शैली ही कोई जुदी है! इसमें तो अन्तर निमग्नतापूर्वक स्वानुभव की ही प्रधानता है। स्वानुभव विना अज्ञानी ने भगवान की वाणी साक्षात् भगवान के पास से भी सुनी हो तो भी भगवान के कथन का आशय उसके ध्यान में एवं कथन में नहीं आता। इसीलिए ज्ञानी के उपदेश को ही निमित्त कहा गया है। ऐसा प्रसंग प्राप्त होनेपर मुमुक्षु जीवों को सर्वप्रथम स्वानुभव सहित सम्यग्दर्शन प्रगट करना योग्य है। जीवन में एक यही मुख्य कार्य है। मोक्षमार्गप्रकाशक में भी कहा है कि अज्ञानी का उपदेश सम्यग्दर्शन प्राप्त होने में निमित्त नहीं होता, क्योंकि उसके उपदेश में कारणविपरीतता, भेदाभेदविपरीतता एवं स्वरूप-विपरीतता आये विना नहीं रहती। भले ही वह जिनवाणी की बात क्यों न कहता हो, किन्तु उसका झुकाव बहिर्मुखी होता है। इसीकारण तो आचार्यदेव ने कहा है कि मैं अपने निज वैभव से कहता हूँ और तू अपने निजवैभव से अर्थात् स्वानुभव से प्रमाण करना। श्रोता व वक्ता दोनों में स्वानुभव को ख्यता है।

देखो, यहाँ क्या कहा है कि सम्यग्दृष्टि के राग-द्वेष-मोह के अभाव बिना सम्यग्दृष्टिपना संभव नहीं है। सम्यग्दृष्टि के राग-द्वेष-मोह नहीं है – इसका अर्थ केवल इतना है कि अनन्तानुबंधी राग-द्वेष का तो सर्वथा अभाव ही है। शेष जो किंचित् चारित्रमोह सम्बन्धी राग है, उसका उन्हें स्वामित्व नहीं है। सम्यग्दृष्टि ने तो रागरहित सम्पूर्ण आत्मा पर्याय में प्रसिद्ध कर लिया है। क्षणिक कृत्रिम अवस्था से अपना सहज त्रिकाली चैतन्यतत्त्व भिन्न है – ऐसा उसके परिचय में और वेदन में आ गया है। सम्यग्दृष्टि ने यह नहीं सुना कि राग से लाभ होता है तथा मिथ्यादृष्टि ने आजतक यह नहीं सुना – जाना कि पर से आत्मा भिन्न है।

जहाँ राग-द्वेष-मोह नहीं होता, वहाँ सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है अर्थात् जहाँ मिथ्यात्वरूप मोह व अनन्तानुबंधी राग-द्वेष नहीं होते, वहीं सम्यग्दृष्टिपना संभव है। सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष-मोह नहीं है – इसका अर्थ यह है कि सम्यग्दृष्टि को जो किंचित् रागादि हैं, उनका भी उसके स्वामित्व नहीं है। उसने तो रागरहित सम्पूर्ण भगवान आत्मा को पर्याय में प्रसिद्ध कर लिया है। अनन्तानुबंधी सम्बन्धी रागादि तो हैं ही नहीं तथा क्षणिक कृत्रिम अवस्था से अपना सहज त्रिकाली चैतन्यतत्त्व भिन्न है – ऐसा उसके परिचय में व वेदन में आ गया है। तथा मिथ्यादृष्टि को राग के स्वामित्व का ही अनादि से परिचय है, क्योंकि उसी का उसे निरन्तर वेदन है।

अब कहते हैं कि जब जीव स्वयं राग-द्वेष-मोह भाव से परिणमता है, तब जड़कर्म का उदय नवीन बन्ध का कारण होता है; किन्तु ज्ञानी के तो राग-द्वेष-मोह भाव हैं ही नहीं, अतः उसको पूर्व के द्रव्यकर्म का उदय नवीन कर्मबन्ध का हेतु नहीं बनता। यद्यपि नवीन बन्ध के हेतु का निमित्त द्रव्यकर्म का उदय ज्ञानी के भी विद्यमान है, किन्तु जब ज्ञानी जीव द्रव्यकर्म के उदय में अपने योग-उपयोग को जोड़कर रागादि करे, तभी तो वे द्रव्यकर्म नवीन कर्मबन्ध में हेतु बन सकते हैं और ज्ञानी के वह राग-द्वेष-मोह है नहीं, अतः वह अबंध ही है।

अस्थिरताजनित जो बंध होता है, उसकी यहाँ गिनती नहीं है; क्योंकि यह दर्शनमोह व अनन्तानुबंधी राग-द्वेष की बात है। जो चारित्रमोहजनित अल्प राग है, उससे अल्प बन्ध होता है, जो अल्प काल में ही स्थिरता प्राप्त होने पर स्वतः क्षीण हो जाता है। अतः अनन्त संसार के

अभाव की अपेक्षा ज्ञानी के दर्शनमोहजन्य राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से उसके अनन्त संसार का कारणभूत नवीन कर्मबन्ध नहीं होता।

भाई ! संसार के इस भ्रमजाल से छूटकर यह तत्त्व सुनने-समझने एवं परिचय करने का अवसर निकालना चाहिये। लौकिक में कदाचित् पुण्योदय से बाहर की सब सुविधायें प्राप्त हो गई हों तो इसमें खुश होने की जरूरत नहीं है। भाई ! यह सब तो धूल का ढेर है। तथा स्त्री-पुत्रादि भी अपने कहाँ हैं ? अरे ! पर को अपना मानना ही महामूर्खता है, क्योंकि आत्मा तो परद्रव्य का स्पर्श भी नहीं करता। अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक पुद्गल पिण्ड को कैसे छुवे ? फिर भी जो इन्हें अपनी मानता है, उसकी वह मान्यता मिथ्यात्वभाव है। इस मिथ्यात्वभाव के गर्भ में अनन्त जन्म-मरण के दुःख पड़े हैं।

अरे भाई ! यह स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब-कबीला तो तेरा है ही नहीं; किन्तु इसके प्रति जो तुझमें आसक्ति है, एकत्व-ममत्व है, वह भाव भी तेरा नहीं है। बात कुछ कड़क है, पर यथार्थ है। किसी वृद्ध व अस्वस्थ माँ का इकलौता पुत्र हो तथा अच्छी खानदानी, रूपवती, सर्वगुणसम्पन्न कन्या के साथ उसकी शादी का प्रसंग प्राप्त हुआ हो, तो उसकी माँ उत्साहित होकर खूब ऊँचे स्वर ताल से गावे, थिरक-थिरक कर नाचे और दौड़-दौड़कर मेहमानों की खातिरदारी करे, उत्सव में पैसा पानी की तरह बहावे। यह सब देखकर यदि कोई उसका हितैषी कहे कि इसतरह तुम्हारी सांस बैठ जावेगी, हार्ट का दौरा आ जावेगा, तबियत खराब हो जावेगी, तो वह कहती है कि यह अवसर क्या बारंबार आनेवाला है ? हमारा तो यही पहला व यही आखिरी अवसर है। उसकी इस अज्ञान व मोहजनित प्रवृत्ति को देखकर ज्ञानी कहते हैं कि अरे तेरा यह कैसा पागलपन है ? पागलों के कहीं अलग गाँव थोड़े ही बसे हैं। इसी मोह-ममता का दूसरा नाम पागलपन है। तेरी बुद्धि कहाँ चली गई है ? तुझे यह क्या हो गया है ? यह राग-द्वेष-मोह का भाव ही तुझे अनन्त जन्म-मरण करायेगा। तू अपने स्वभाव को देख, जो कि रागरहित चैतन्यस्वरूप है। उसकी प्रतीति करके, उसे दृष्टि में लेकर रागरहित हो जा ! राग-द्वेष-मोहरहित होनेपर फिर तुझे नवीन बन्ध नहीं होगा।

गाथा १७७-१७८ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, यहाँ "राग-द्वेष-मोह के अभाव बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता" ऐसा जो सम्यग्दर्शन राग-द्वेष-मोह के अभाव के साथ अविनाभावी नियम कहा है, वह मिथ्यात्वसम्बन्धी राग-द्वेष-मोह का अभाव समझना। इसी अपेक्षा यहाँ कहा है कि सम्यग्दृष्टि के राग-द्वेष-मोह का अभाव है, क्योंकि उसे राग-द्वेष से भिन्न निज चैतन्यस्वरूप के आश्रय से स्वावलम्बी दृष्टि प्रगट हो गई है। जहाँ सम्यग्दृष्टिपना होता है, वहाँ राग-द्वेष-मोह नहीं होता तथा जहाँ राग-द्वेष-मोह नहीं होता, वहीं सम्यक्-दृष्टिपना होता है – ऐसा अविनाभावी नियम है।

जहाँ स्वभाव की रुचि नहीं है तथा राग की रुचि है, वहाँ मिथ्यात्व-सम्बन्धी राग-द्वेष-मोह ही समझना चाहिये। चारित्रमोहजनित अस्थिरता की बात यहाँ गौण है। जबतक पुण्य-पाप के विकल्प में अपना स्वरूप माना है, तबतक अपना स्वरूप दृष्टि में नहीं आता; किन्तु जब विकार को "पर" जानकर उसमें से स्वामित्व का त्याग करके निज को दृष्टि में शुद्ध चैतन्यस्वरूपपने ग्रहण करता है, तब उसे मिथ्यात्वसम्बन्धी राग-द्वेष नहीं होता।

शास्त्रों में ऐसा आता है कि छठवें गुणस्थान में जो पंचमहाव्रत के परिणाम हैं, वे आस्रव हैं तथा दसवें गुणस्थान में भी जो अबुद्धिपूर्वक राग है, वह आस्रव है और उससे कर्मों का आस्रव होता है; वह चारित्रमोह जनित अस्थिरता की अपेक्षा कहा गया है और यहाँ दर्शनमोह की अपेक्षा से कहा जा रहा है, अतः उस कथन में परस्पर कोई विरोध नहीं है; दोनों ही कथन अपनी-अपनी अपेक्षा यथार्थ हैं।

यहाँ तो यह कहते हैं कि जिसकी अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द के सागर शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा पर दृष्टि गई, उसके मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी राग-द्वेष-मोह नहीं होते। चारित्रमोह सम्बन्धी जो किंचित् राग होता है, उसमें भी उसकी रुचि व प्रेम नहीं है, स्वामित्व नहीं है; क्योंकि उसे यह भान हो गया है कि राग दुःखरूप है, दुःख का कारण है, इस-कारण धर्मी के उस अल्प राग की यहाँ गिनती ही नहीं की है।

जो राग के एक अंश को भी अपना मानता है एवं जिसे अंशमात्र भी राग की रुचि है, उसके राग-द्वेष को ही राग-द्वेष गिना गया है।

जिसने अपने अनन्त-अनन्त शक्तियों के पुंज चैतन्यमय भगवान आत्मा का आश्रय लेकर अनन्त संसार के कारणरूप मिथ्यात्वभाव को कम्पायमान कर दिया है, समूल उखाड़ फेंका है, वह वर्तमान में अपनी पुरुषार्थ की कमी के कारण भले लड़ाई करता हुआ अशुभराग में दिखे अथवा ९६ हजार रानियों के साथ राग-रंग में मस्त दिखाई देवे; तथापि उसे चारित्रमोह सम्बन्धी अल्प दोष है। यहाँ उस दोष को गौण करके बात कही जा रही है। जिसप्रकार जिस वृक्ष को जड़ उखाड़ फेंकी हो, उसके पत्ते हरे भी दिखें तो उनसे क्या ? अब तो वे सूखने ही वाले हैं; उसीतरह जिसकी मिथ्यात्व की जड़ कट गई है, उसके अल्पराग की कोई गिनती नहीं रही, वह तो अल्पकाल में समाप्त होनेवाला ही है।

मूल पाप मिथ्यात्व है, लोगों को यह खबर नहीं है। अतः वे कषाय की किंचित् मन्दता अथवा बाह्य में त्यागवृत्ति देखकर ऐसा मान लेते हैं कि धर्म हो गया। स्वयं को भी राग की मन्दता व व्यवहार की उज्ज्वलता देखकर ऐसा लगने लगता है कि अब तो मैं धर्मात्मा हो गया। यदि स्त्री, पुत्र, परिवार को छोड़ दे तो ऐसा मानता है कि अब तो मेरा संसार ही छूट गया; परन्तु भाई ! जबतक राग की रुचि, राग का कर्त्तापना अथवा संसार का मूल कारण मिथ्यात्वभाव जीवंत है. तबतक संसार का परिभ्रमण नहीं मिटता। राग तो आग है, अशान्ति है, दुःख है, राग को जबतक लाभदायक या कर्तव्य के रूप में स्वीकार करता रहेगा; तबतक बाहर से चाहे जैसा त्यागी सा दिखे, तथापि संसार परिभ्रमण नहीं मिटेगा।

अब कहते हैं कि अपना भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ ज्ञानानन्दस्वभाव से सर्वांग भरपूर सच्चिदानन्द प्रभु है, उसकी जिसे दृष्टि हुई है, उस ओर जिसका झुकाव हुआ है, वह सम्यग्दृष्टि है। अहा ! सम्यग्दर्शन होनेपर उसे जिस शुद्ध चैतन्यतत्त्व की कीमत करनी थी, वह कीमत (दृष्टि) प्राप्त हो गई तथा दृष्टि में जिस राग की कीमत (महिमा) कम करनी थी, घटानी थी, वह घट गई। उसके बाद भले कुछ काल अस्थिरताजनित किंचित् राग रहे तो रहो, उससे आत्मा को कुछ भी हानि नहीं होती। समय पाकर वह स्वतः समाप्त हो जाता है अर्थात् ज्ञानी बुद्धिपूर्वक उसे धीरे-धीरे शक्त्यनुसार घटाता जाता है, इस अपेक्षा "सम्यग्दृष्टि" को राग-द्वेष-मोह का अभाव है – ऐसा कहा जाता है।

तथा राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से द्रव्यास्रव अर्थात् पूर्वबद्ध जड़कर्म उसे बन्ध के कारण नहीं होते। इसकारण सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के बन्ध नहीं होता।

अहो ! समयसार की एक-एक गाथा चैतन्य-चमत्कार से भरी है। आत्मा स्वयं चैतन्य-चमत्कारमय वस्तु है। अहा ! यह अनुपम अलौकिक चिन्तामणिरत्न है, उसपर दृष्टि डाली नहीं कि तुरन्त अतीन्द्रिय आनन्दमय चैतन्यरत्न "सम्यग्दर्शन" प्रगट होता है। परन्तु अरे ! अज्ञानी ने अनादिकाल से जहाँ नजर करनी थी, वहाँ नजर नहीं की तथा धर्म के नामपर पुण्य व परद्रव्य के ऊपर ही नजर की; इसीकारण अबतक इसका अज्ञान नहीं मिटा। यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी के पुण्यभाव होते हुए भी इसकी दृष्टि चैतन्य चिन्तामणि भगवान आत्मा पर है। ज्ञानी की दृष्टि निमित्त, राग अथवा पर्याय के ऊपर नहीं रहती।

"दृष्टि द्रव्य में निमग्न हो जाती है" यह जो कहा जाता है, उसका अर्थ यह नहीं लेना कि पर्याय द्रव्य में मिल जाती है; बल्कि उसका अर्थ यह है कि पूर्व के जो परिणाम राग में एकाकार थे, उनका व्यय होकर वर्तमान परिणाम निज ज्ञायकभाव की ओर ढलता है। इसे ही दृष्टि का द्रव्य में निमग्न होना कहा जाता है। वर्तमान प्रगट पर्याय में पूर्ण द्रव्य का ज्ञान तथा प्रतीति आती है, परन्तु वह पर्याय द्रव्य में मिल जाती है – ऐसा अर्थ नहीं है।

अब आगे कहते हैं कि चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा जाता है। भले वह नरक का नारकी हो, तिर्यंच हो, मनुष्य हो अथवा देवगति का जीव हो; जिसने अनन्त-अनन्त चैतन्य प्रकाश का पूर, प्रभुस्वरूप निज आत्मा को स्वानुभव में जाना, वह ज्ञानी है। भले ही उसे शास्त्रों का विशेष जानपना न हो, पुण्य व पाप के फल से अधिक – जुदा चैतन्यमय भगवान अन्तर में जैसा है वैसा जिसने जाना है, वह ज्ञानी है।

अब इसी बात का विशेष स्पष्टीकरण करते हैं – "ज्ञानी" शब्द मुख्य रूप से तीन अपेक्षा से उपयोग में आया है, (१) प्रथम तो जिसे ज्ञान हो, उसे ज्ञानी कहते हैं। इस सामान्यज्ञान की अपेक्षा से तो सर्वजीव ज्ञानी हैं, सभी आत्मा ज्ञानी कहलाते हैं। यहाँ सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की अपेक्षा नहीं है। (२) सम्यग्ज्ञान व मिथ्याज्ञान की अपेक्षा से कहें तो

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है एवं मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। अहा! ग्यारह अंग व नौ पूर्व का ज्ञान होते हुए भी जिसके ज्ञानस्वरूप निज भगवान आत्मा का भान (ज्ञान) नहीं है तथा राग की रुचि व अधिकता है, वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। जो जाननेवाले को जानता है, वह ज्ञानी है तथा जो जाननेवाले को न जाने वह अज्ञानी है। अनन्त काल से आजतक जाननेवाले को तो नहीं जाना और दूसरी अनेक प्रकार से माथाकूट की, शास्त्र पढ़े, जगत को उपदेश भी दिया, किन्तु जाननेवाले को जाने विना, देखनेवाले को देखे विना, तथा आनन्द के माननेवाले को माने विना सब जीव मिथ्यादृष्टि अज्ञानी ही हैं।

(३) सम्पूर्णज्ञान व अपूर्ण ज्ञान की अपेक्षा देखें तो केवली भगवान ज्ञानी हैं तथा छद्मस्थ अज्ञानी हैं, क्योंकि सिद्धान्त में पाँच भावों का कथन करते हुए बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है।

अल्पज्ञान की अपेक्षा बारहवें गुणस्थान तक अज्ञान माना जाता है। मिथ्यात्वरूप अज्ञान जुदी वस्तु है तथा ज्ञान की कमी – अपूर्णता जुदी वस्तु है। बारहवें गुणस्थान में मोह का सर्वथा अभाव एवं पूर्ण अकषायभाव होते हुए भी केवलज्ञानी की भाँति ज्ञानी की पूर्णता नहीं है। इस अपेक्षा बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव को अज्ञानी कहा गया है।

एक ओर तो मात्र आत्मा के ज्ञानवाले सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी तथा ग्यारह अंग व नौपूर्व के धारक होते हुए भी मिथ्यादृष्टि को अज्ञानी कहा; तथा दूसरी ओर पूर्णज्ञानी (केवलज्ञानी) को ज्ञानी व ज्ञान की अपूर्णता की अपेक्षा बारहवें गुणस्थानवर्ती पूर्ण वीतरागता प्राप्त करनेवाले अल्पज्ञानी को भी अज्ञानी कहा है। यह सब विवक्षा की विचित्रता है। इन सब अपेक्षाओं को यथार्थ समझना चाहिये। इसप्रकार अनेकान्त से विधि-निषेध निर्बाधपने सिद्ध होता है, सर्वथा एकान्त कुछ भी नहीं होता।

अब, ज्ञानी को बन्ध नहीं होता – यह शुद्धनय का माहात्म्य है, इसलिये शुद्धनय की महिमा दर्शक काव्य कहते हैं :—

(वसन्ततिलका)

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न-
मैकाग्र्यमेव कलयंति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवंतः
पश्यंति बंधविधुरं समयस्य सारम् ॥१२०॥

श्लोकार्थ :—[उद्धतबोधचिह्नम् शुद्धनयम् अध्यास्य] उद्धत ज्ञान (किसी के दबाये नहीं दब सकता ऐसा उन्नत ज्ञान) जिसका लक्षण है, ऐसे शुद्धनय में रहकर अर्थात् शुद्धनय का आश्रय लेकर [ये] जो [सदा एव] सदा ही [एकाग्र्यम् एव] एकाग्रता का [कलयन्ति] अभ्यास करते हैं, [ते] वे [सततं] निरन्तर [रागादिमुक्तमनसः भवन्तः] रागादि से रहित चित्तवाले वर्तते हुए, [बन्धविधुरं समयस्य सारम्] बन्धरहित समय के सार को (अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को) [पश्यन्ति] देखते हैं – अनुभव करते हैं।

भावार्थ :—यहाँ शुद्धनय के द्वारा एकाग्रता का अभ्यास करने को कहा है। 'मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, शुद्ध हूँ' – ऐसा जो आत्मद्रव्य का परिणमन वह शुद्धनय। ऐसे परिणमन के कारण वृत्ति ज्ञान की ओर उन्मुख होती रहे और स्थिरता बढ़ती जाये सो एकाग्रता का अभ्यास।

शुद्धनय श्रुतज्ञान का अंश है और श्रुतज्ञान तो परोक्ष है, इसलिये इस अपेक्षा से शुद्धनय के द्वारा होनेवाला शुद्धस्वरूप का अनुभव भी परोक्ष है और वह अनुभव एकदेश शुद्ध है, इस अपेक्षा से उसे व्यवहार से प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। साक्षात् शुद्धनय तो केवलज्ञान होनेपर होता है।

कलश १२० पर प्रवचन

देखो, जो उन्नतज्ञान प्रगट होता है, वह द्रव्य को ही महत्त्व देता है। जो ज्ञान की पर्याय द्रव्य स्वभाव की ओर झुकी है, वह ग्यारह अंग व नौपूर्व के ज्ञान को भी नहीं गिनती। ज्ञानी की दृष्टि में स्व के ज्ञान से शून्य ज्ञान की कोई कीमत नहीं है। उद्धतज्ञान दो प्रकार का होता है – (१) त्रिकाली ज्ञानस्वरूप वस्तु को भी उद्धतज्ञान कहते हैं तथा (२) त्रिकाली ज्ञानस्वरूप वस्तु को जाननेवाले शुद्धनय के परिणमन को भी उद्धतज्ञान कहते हैं। स्व के आश्रय से प्रगट भेदज्ञान स्व को ही गिनता है। जिस ज्ञान में भगवान आत्मा जानने में नहीं आता, ज्ञानी उस ज्ञान को ज्ञान ही नही कहते।

लोक में जैसे उद्धत लड़के अपने-माँ-बाप को नहीं गिनते, उसीतरह शुद्ध त्रिकाली द्रव्य को ग्रहण करनेवाला शुद्धनय उद्धत है, अतः वह भी किसी को नहीं गिनता। स्व को गिननेवाला ज्ञान पर को नहीं गिनता।

जिसतरह त्रिकाली ज्ञान किसी से दवाया नहीं दवता, उसीतरह त्रिकाली ज्ञान को जाननेवाला – गिननेवाला ज्ञान भी किसी से दवाया नहीं दवता। ज्ञानावरणी कर्म का उदय भी ज्ञान को नहीं दबाता, सम्यग्ज्ञान की पर्याय का नाथ अन्तर में विद्यमान पूर्णानन्द प्रभु आत्मा है, ज्ञानी उसे ही महत्त्व देता है।

अरे ! आत्मा की यह बात अज्ञानियों को नहीं रुचती। जहाँ थोड़ा-बहुत शास्त्रज्ञान हुआ नहीं कि अज्ञानी अपने को दूसरों से अधिक जानकार समझने लगता है। लोक में भी जिसे भले ज्ञान थोड़ा हो और, बोलता अधिक हो तो उसे ज्ञानवान मान लिया जाता है तथा जिसे ज्ञान अधिक हो और बोलता कम हो तो वह दुनिया की दृष्टि में अज्ञानी या अल्पज्ञानी माना जाता है। लोक की दृष्टि ही विपरीत है। उसकी मान्यता में ही बड़ा भारी अन्तर है।

यहाँ कहते हैं कि धर्मी – ज्ञानी शुद्धनय का आश्रय करके सदा एकाग्रपने का ही अभ्यास करते हैं। आत्मा के स्वरूप में एकाग्र होना ही ज्ञानी जीव का प्रथम कर्तव्य है। प्रवचनसार में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने भी यही कहा है कि हमें विशेष-विशेष जानने की जरूरत नहीं है। हमें तो अपने स्वरूप में ही निश्चल – एकाग्र होना है। अतः क्षयोपशमज्ञान से विशेष-विशेष जानने की आकांक्षा मत करो।

भाई ! तू अकेला ज्ञान का पुंज, एवं आनन्द का घनपिण्ड है। अहाहा……! सम्पूर्ण वस्तु ज्ञानस्वरूप ही है। उस ज्ञानस्वरूप का आश्रय करके जो सदा उसी में एकाग्र होने का अभ्यास करते हैं, वे निरन्तर राग से रहित चित्तवाले होते हुए बन्धरहित समय के सार को देखते हैं, अनुभव करते हैं।

जो स्वरूप का आश्रय करके उसी में एकाग्रता का अभ्यास करता है, उसे ही अपना कर्तव्य मानता है, वह रागादिरहित चित्तवाला होता हुआ बन्धरहित समयसार स्वरूप आत्मा को प्राप्त करता है; तथा अन्तर में परिपूर्ण एकाग्र होनेपर पूर्ण केवलज्ञान को प्राप्त करता है।

अहा ! ऐसी अध्यात्म की यह सूक्ष्म बात बहुत लोगों को कठिन प्रतीत होती है, बुद्धिग्राह्य नहीं हो पाती, अतः वे बाह्यव्रत, संयम आदि पालन करने में ही संतुष्ट हो जाते हैं, परन्तु भाई ! ऐसी क्रियाएँ तो

इसने अनन्त बार की हैं। भगवान ! तूने अपने अन्दर रहनेवाले चैतन्य-भगवान की दरकार नहीं की, परवाह नहीं की। अन्तर में चैतन्य हीरा अनन्त-अनन्त शक्ति व गुणों को कान्ति से चमक रहा है, उसे नहीं देखा, यही तेरे दु:ख का मूल कारण है।

अहा ! वह कहाँ है ? कैसा किस हालत में है ? तथा कैसे जाना जा सकता है ? इसप्रकार उसकी कुछ भी खबर नहीं ली। परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की बाह्य क्रियायें करने के बावजूद भी तेरा संसार परिभ्रमण नहीं मिटा।

प्रश्न :—तो क्या अहिंसा आदि पालन करना धर्म नहीं है ?

उत्तर :—भाई ! अहिंसा तो धर्म है, परन्तु भगवान महावीर स्वामी ने जिसे अहिंसा कहा है, उसकी जगत को खबर नहीं है। अरे भाई ! चैतन्यतत्त्व राग से पृथक् जैसा स्वभाव से है, उसे पर्याय में वैसा ही प्रगट करने का नाम अहिंसा है। अन्तर में विद्यमान त्रिकाली वीतराग भाव को पर्याय में प्रगट करने का नाम अहिंसा है और यह अहिंसा ही धर्म है।

पर की दया पालने का भाव तो राग है और राग को शास्त्रों में हिंसा कहा गया है। अरे भाई ! जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति बंधती है अथवा जिस भाव से सर्वार्थसिद्धि की आयु का बंध होता है, वह शुभराग है और राग होने से वह भी आत्मा का अपराध है, क्योंकि वह आत्मा के स्वभाव का घात करनेवाला भाव है। भगवान ने तो राग की अनुत्पत्ति तथा वीतरागता की उत्पत्ति को अहिंसा कहा है। निश्चय से वही अहिंसा है।

वस्तु स्वयं स्वरूप से ही अहिंसा स्वरूप अर्थात् वीतरागस्वरूप है। उसकी दृष्टि व उसी में स्थिरता होने पर पर्याय में जो वीतरागता प्रगट होती है, वह अहिंसा है। सम्यक्त्वादि रूप वीतराग परिणति ही अहिंसा है। ऐसी अहिंसक परिणति अहिंसक स्वरूप त्रिकाली आत्मा में से आती है, राग में से या परनिमित्त में से नहीं आती।

भगवान महावीर ने किसी का भी भला या बुरा नहीं किया, उन्होंने तो अपने आत्मा के अनादि अहिंसक स्वभाव को पर्याय में परिपूर्ण प्रगट किया है, इसीलिये तो भगवान वीतराग अहिंसक हैं। भाई ! भगवान आत्मा का स्वरूप ही वीतराग अहिंसक है, उसे पहचान कर उसके आश्रय

से वीतराग परिणति प्रगट करना अहिंसा है। उस काल में जितना राग कम हुआ, जितने अंश में राग की उत्पत्ति नहीं हुई, उसे ही व्यवहार में राग छोड़ा कहा जाता है।

अहिंसक आत्मा की दृष्टि विना अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना जो व्रत, तप आदि का आचरण है, वह सब अज्ञानता है। व्यवहार के एकान्त आग्रहवालों को यह वात सुनकर दुःख होता होगा, परन्तु क्या करें ? उनके दुःख का कारण उनकी विपरीत मान्यता ही है। ज्ञानी का अभिप्राय दूसरों को दुःख पहुँचाने का नहीं होता।

भाई ! जिसतरह साहूकार खोटा सिक्का स्वयं भी नहीं लेता और उसे वाजार में चलने से भी रोक देता है, उसीतरह यह भी भगवान की पैढ़ी है, इसमें भी तत्त्व का खोटा सिक्का नहीं चल सकता।

भाई ! परिणाम को अन्तर में एकाग्र किये विना वस्तु (चैतन्य आत्मा) हाथ नहीं आती। जहाँ वस्तु है, परिणाम को वहाँ अन्तर्मुख किये विना वस्तु का ज्ञान कैसे हो सकता है ? उसी में एकाग्र हुए विना वस्तु का आचरण भी कैसे हो सकता है ?

वापू ! अनन्त तीर्थंकरों ने दिव्य देशना द्वारा धर्म प्राप्त करने का यही उपाय वताया है तथा वीतरागी मुनिवरों ने भी उनका आड़तिया वनकर वही उपाय जगत को जाहिर किया है।

भगवान की जो वाणी निकलती है, वह बिना इच्छा के स्वतः निकलती है, तथा छद्मस्थ मुनिवरों की जो वाणी होती है, वह विकल्प-पूर्वक होती है। मुनिवरों के चारित्रमोह का इतना दोष है।

यहाँ किसी को प्रश्न हो सकता है कि राग तो हिंसा है, इसके द्वारा ही आप हमें जिनवाणी समझाते हो, सो क्या हिंसा द्वारा अहिंसा का स्वरूप समझाया जा सकता है ? तथा एक ओर तो कहते हो कि निमित्त से कार्य नहीं होता तथा निमित्त द्वारा ही समझाते हो, यह सब कैसे संभव है ?

समाधान :—अरे भाई छद्मस्थ तो राग द्वारा वस्तु के स्वरूप का कथन कर सकता है। समयसार गाथा ८ में आचार्यदेव ने कहा है कि व्यवहार के बिना परमार्थ नहीं समझा जा सकता।

जब ऐसा कथन आता है, तब इसमें से कुछ लोग ऐसा प्रश्न उपस्थित करते हैं कि व्यवहार से समझ सकते हैं या नहीं ? उनसे कहते हैं कि अरे भाई ! इसका ऐसा अर्थ नहीं है, वहाँ उसी गाथा में खुलासा किया है कि निश्चय को समझाते समय कहनेवाले व सुननेवाले के बीच में व्यवहार आता है, किन्तु व्यवहार का अनुसरण नहीं करना । व्यवहार का भेद किये बिना समझ में नहीं आता, इसलिए भेद करके आचार्यदेव ने समझाया है; परन्तु भेद का लक्ष्य करना व भेद में ही अटक जाना – उसका ऐसा अर्थ कहाँ से निकाला ? लक्ष्य तो अभेद का ही करना है । व्यवहार, निश्चय का प्रतिपादक है, इसकारण यह दर्शाया है; परन्तु व्यवहार अनुसरण करने योग्य नहीं है – ऐसा वहाँ स्पष्ट कहा है ।

यहाँ कहते हैं कि स्वरूप का आश्रय करके जो अन्तर में एकाग्रता का निरन्तर अभ्यास करते हैं, वे रागरहित चित्तवाले होते हुए बन्धरहित भगवान समयसार को देखते हैं, अनुभवते हैं । वे अन्तर में एकाग्रता की पूर्णता करके केवलज्ञान को प्राप्त हो जाते हैं ।

कलश १२० के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ "केवलज्ञान" का अर्थ केवलज्ञान पर्याय नहीं करना, क्योंकि यहाँ केवलज्ञान पर्याय की बात नहीं है । मैं केवल ज्ञानस्वरूप अर्थात् मात्र ज्ञान-स्वरूप शुद्ध – पवित्र हूँ । ऐसे आत्मद्रव्य के ज्ञानमय परिणमन होने को शुद्धनय कहते हैं । पर के साथ तो आत्मा का कोई सम्बन्ध है ही नहीं, परन्तु पुण्य-पाप के विकल्प अथवा अल्पज्ञता भी मैं नहीं हूँ – ऐसा निश्चय करने राग से भिन्न होकर शुद्ध चैतन्यमय आत्मा में अन्तर्दृष्टि करके को शुद्धनय कहते हैं । समयसार गाथा ११ में त्रिकाली आत्मतत्त्व को शुद्धनय कहा है । यहाँ आत्मा का जो शुद्ध निर्मल ज्ञानमय परिणमन हुआ, उसे शुद्धनय कहा है, क्योंकि परिणमन हुआ तब जाना कि अपनी चीज तो यह (आत्मा) है ।

प्रचुर अतीन्द्रियआनन्द की मस्ती में वर्तनेवाले नग्न दिगम्बर भावलिंगी संत आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि आत्मा एक शुद्ध विज्ञानघन है, उसमें शरीर व कर्म की तो बात ही क्या ? दया, दान, भक्ति के विकल्प भी प्रवेश नहीं पा सकते । वह तो सदैव चैतन्यस्वरूप एवं वीतरागस्वरूप है । इसका वीतरागतारूप परिणमन होना ही शुद्धनय है और वही मोक्षमार्ग है ।

सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र के परिणमन को शुद्धनय का परिणमन कहते हैं। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, शास्त्र का ज्ञान तथा पंचमहाव्रत के विकल्परूप जो व्यवहार रत्नत्रय है, वह शुद्धनय नहीं है, मोक्षमार्ग नहीं है। वह तो राग है। राग भूमिकानुसार आता है, राग होता तो अवश्य है; परन्तु राग में एकाग्र होकर परिणमना महा दोष है। यहाँ तो सिद्ध समान निज शुद्ध चैतन्य भगवान आत्मा में एकाग्र होकर परिणमना शुद्धनय है। शुद्धनय वीतरागी पर्याय है, उसमें शुद्ध चैतन्य का ग्रहण होता है।

सम्यग्दर्शन में पहले आनन्द का स्वाद आता है, फिर अन्तर में दृष्टि का झुकाव बढ़ते-बढ़ते जितनी-जितनी स्थिरता बढ़ती है, उतने प्रमाण में आनन्द व शुद्धता में वृद्धि होती जाती है। इसे ही एकाग्रता का अभ्यास कहते हैं। अन्तर में एकाग्रता का ऐसा ही अभ्यास निरन्तर करने के लिये प्रेरणा की गई है। व्रतादि के विकल्पों का अभ्यास नहीं, किन्तु अन्तर एकाग्रता का अभ्यास करने को कहा है। इस अभ्यास से व्रतादि का धारण व पालन सहज हो जाता है।

शुद्धनय श्रुतज्ञान का अंश है तथा श्रुतज्ञान स्वयं परोक्ष है। इस अपेक्षा शुद्धनय द्वारा हुआ शुद्धस्वरूप का अनुभव भी परोक्ष है। जिसे आत्मा का अनुभव होता है, सम्यग्दर्शन होता है, उसकी पर्याय में भावश्रुतज्ञान प्रगट होता है। *शुद्धनय उस भावश्रुतज्ञान का एक अंश है।* यहाँ द्रव्यश्रुत की बात नहीं है, क्योंकि वह तो पर है। यहाँ तो भावश्रुतज्ञान के अंश रूप शुद्धनय की बात है, जो आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं जानता। प्रत्यक्ष तो केवलज्ञान प्रगट होने पर ही जाना जा सकता है। ऐसा होते हुए भी अनुभव के काल में आत्मा, आनन्द का प्रत्यक्ष वेदन करता है। "मैं अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप हूँ" – ऐसी दृष्टि होने पर आत्मज्ञानी को पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का प्रत्यक्ष वेदन होता है। इसीलिए उसे स्वानुभव प्रत्यक्ष भी कहते हैं तथा उसे भावश्रुतज्ञान व जैनशासन कहते हैं। (देखो समयसार गाथा १५) इस बीच जो राग आता है, वह भावश्रुतज्ञान या जैनशासन नहीं है।

अहा! यह उपदेश व ऐसी प्ररूपणा ही प्रायः बन्द सी है, इसकारण लोगों को इस बात का परिचय ही नहीं है। देखो, कहा है कि अन्दर में चिदानन्दमय भगवान आत्मा के लक्ष्य से जो आनन्द का वेदन – अनुभूति होती है, वह सम्यग्दर्शन है, धर्म है तथा वही सर्वप्रथम करने योग्य कार्य है।

बिना सम्यग्दर्शन के आचरण में आते हुए व्रत व तप आदि सर्व एकान्त अज्ञानमय भाव हैं, संसार हैं व बन्ध के कारण हैं।

तथा वह अनुभव एकदेश शुद्ध है, इस अपेक्षा उसे व्यवहार से प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। देखो, अनन्त गुणों का पिण्ड असंख्यप्रदेशी आत्मा प्रत्यक्ष तो केवलज्ञान होने पर ही दिखाई देता है, परन्तु सम्यग्दर्शन में परोक्ष श्रुतज्ञान की अपेक्षा से या श्रुतज्ञान के अन्तर्गत शुद्धनय की अपेक्षा से आत्मा का पूर्ण स्वरूप परोक्षरूप से प्रतीति में आ जाता है। इसकारण उसे व्यवहार से प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। ऐसा होने पर भी वेदन की अपेक्षा से चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि निर्विकल्प आनन्द का वेदन प्रत्यक्ष स्वसंवेदन से वेदता है। परिपूर्ण अनुभव तो नहीं है, किन्तु एकदेश शुद्ध होने से उसे व्यवहार से प्रत्यक्ष कहा जाता है। साक्षात् शुद्धनय तो केवलज्ञान होनेपर ही होता है। अर्थात् पूर्ण पवित्रता का परिणमन तो केवलज्ञान होनेपर ही होता है। वस्तुतः केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, शुद्धनय तो परोक्ष श्रुतज्ञान प्रमाण का अंश है।

जब पर्याय में अनन्त गुण व असंख्यात प्रदेश सहित त्रिकाली शुद्ध चैतन्यवस्तु प्रत्यक्ष हुई, तब शुद्धनय साक्षात् पूर्ण हुआ अर्थात् शुद्धनय का फल प्रगट हुआ। इसकारण केवलज्ञान होने पर ही साक्षात् शुद्धनय होता है। अहा ! वस्तु स्वयं की अपेक्षा से तो व्यक्त – प्रगट प्रत्यक्ष ही है; परन्तु जब पर्याय में प्रत्यक्ष भासी, तब पूर्ण शुद्ध होती है।

ऐसा उपदेश सुनकर कुछ लोग ऐसा भी सोचते होंगे कि ये भी कोई उपदेश है ? यह कैसा उपदेश ? हाँ, भक्ति करना चाहिए, व्रत उपवास करना चाहिए, दान देना चाहिए, तीर्थयात्रा आदि करना चाहिए – ऐसा कोई उपदेश हो तो कुछ प्रेरणा मिले। समाज सुधरे – ऐसा उपदेश हो तो कुछ समझ में भी आवे। परन्तु बापू ! यह सब तो राग के प्रकार हैं। हाँ, धर्मी को अशुभभाव से बचने के लिए ऐसे भाव भी आते हैं, आवश्यकता के अनुसार यथासमय वैसे उपदेश भी होते हैं, परन्तु ये क्रियाएँ धर्म नहीं हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम तथा शुद्धनय द्वारा अन्तर एकाग्रता का अभ्यास करना ही धर्म है। भाई ! यह समझे बिना ही इस जीव ने आजतक चौरासी लाख योनियों में अनन्त-अनन्त बार जन्म-मरण धारण किए हैं। अतः इसका अभ्यास करना चाहिए।

अब यह कहते हैं कि जो शुद्धनय से च्युत होते हैं, वे कर्म बांधते हैं :—

(वसन्ततिलका)

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु
रागादियोगमुपयांति विमुक्तबोधाः ।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥१२१॥

श्लोकार्थ :—[इह] जगत में [ये] जो [शुद्धनयतः प्रच्युत्य] शुद्धनय से च्युत होकर [पुनः एव तु] पुनः [रागादियोगम्] रागादि के सम्बन्ध को [उपयान्ति] प्राप्त होते हैं [ते] ऐसे जीव, [विमुक्तबोधाः] जिन्होंने ज्ञान को छोड़ा है ऐसे होते हुए, [पूर्वबद्धद्रव्यास्रवैः] पूर्वबद्ध द्रव्यास्रव के द्वारा [कर्मबन्धम्] कर्मबन्ध को [बिभ्रति] धारण करते हैं, (कर्मों को बाँधते हैं) [कृत-विचित्र-विकल्प-जालम्] जो कि कर्मबन्ध अनेक प्रकार के विकल्प जाल को करता है (अर्थात् जो कर्मबन्ध अनेक प्रकार का है) ।

भावार्थ :—शुद्धनय से च्युत होना अर्थात् 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसे परिणमन से छूटकर अशुद्धरूप परिणमित होना अर्थात् मिथ्यादृष्टि हो जाना । ऐसा होने पर जीव के मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादिक उत्पन्न होते हैं, जिससे द्रव्यास्रव कर्मबन्ध के कारण होते हैं और उससे अनेक प्रकार के कर्म बँधते हैं । इसप्रकार यहाँ शुद्धनय से च्युत होने का अर्थ शुद्धता की प्रतीति से (सम्यक्त्व से) च्युत होना समझना चाहिए । यहाँ उपयोग की अपेक्षा गौण है, शुद्धनय से च्युत होना अर्थात् शुद्ध उपयोग से च्युत होना ऐसा अर्थ मुख्य नहीं हैं, क्योंकि शुद्धोपयोगरूप रहने का समय अल्प रहता है, इसलिये मात्र अल्प काल शुद्धोपयोगरूप रहकर और फिर उससे छूटकर ज्ञान अन्य ज्ञेयों में उपयुक्त हो तो भी मिथ्यात्व के बिना जो राग का अंश है, वह अभिप्रायपूर्वक नहीं है, इसलिये ज्ञानी के मात्र अल्प बन्ध होता है और अल्प बन्ध संसार का कारण नहीं है, इसलिये यहाँ उपयोग की अपेक्षा मुख्य नहीं है ।

अब यदि उपयोग की अपेक्षा ली जाये तो इसप्रकार अर्थ घटित होता है—यदि जीव शुद्धस्वरूप के निर्विकल्प अनुभव से छूटे, परन्तु

सम्यक्त्व से न छूटे तो उसे चारित्रमोह के राग से कुछ बन्ध होता है। यद्यपि वह बन्ध अज्ञान के पक्ष में नहीं है, तथापि वह बन्ध तो है ही, इसलिये उसे मिटाने के लिये सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को शुद्धनय से न छूटने का अर्थात् शुद्धोपयोग में लीन रहने का उपदेश है। केवलज्ञान होने पर साक्षात् शुद्धनय होता है।

कलश १२१ पर प्रवचन

देखो, इस कलश में जो "शुद्धनय से च्युत होकर" कहा है इसके दो अर्थ हैं– (१) शुद्ध चैतन्यस्वभाव के अनुभव से च्युत होकर अर्थात् सम्यक्-दर्शन की भूमिका में प्राप्त होनेवाले अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव से च्युत होकर (मिथ्यादृष्टि की भूमिका में आना) तथा (२) ज्ञाता, ज्ञेय व ज्ञान के भेद को छोड़कर शुद्धोपयोग में रहनेरूप शुद्धनय से च्युत होकर गुणस्थान के विकल्पों में आना। प्रथम अनन्त संसार के कारणभूत दर्शन मोहनीय कर्म को बाँधता है तथा दूसरा भी किंचित् कर्मों को बाँधता है।

जगत में जो शुद्धनय से च्युत होकर पुनः रागादि के सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, वे जीव ज्ञानरहित होते हुए पूर्वबद्ध द्रव्यास्रव के द्वारा कर्म-बन्ध को प्राप्त होते हैं।

देखो, "पुनः" जो कहा है न? इसका अर्थ यह है कि पहले जो शुद्धनय में आया था अर्थात् सम्यग्दर्शन होने से चौथे गुणस्थान में राग का सम्बन्ध छूटकर स्वभाव का सम्बन्ध हुआ था, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन हुआ था। तथा वहाँ से जो च्युत होकर पुनः राग के सम्बन्ध को प्राप्त हुआ, उसके दो प्रकार हैं :—

(१) सम्यग्दर्शन से च्युत होकर मिथ्यादृष्टि हो जाना।

(२) शुद्धोपयोग से च्युत होकर रागादि विकल्पों में आ जाना अर्थात् सम्यग्दर्शन तो विद्यमान रहता है, किन्तु केवल शुद्धोपयोग से च्युत होता है।

अब कहते हैं कि ऐसे जीव जो आनन्दकंद स्वरूप भगवान आत्मा से च्युत हो गये हैं तथा राग में रुचि करने लगे हैं, वे पूर्व में बँधे हुए द्रव्यास्रव से कर्मों को बाँधते हैं।

सम्यग्दृष्टि धर्मी ने व्यवहार रत्नत्रयरूप समस्त राग को (अभिप्राय-पूर्वक) छोड़ा है तथा स्वभाव को पुरुषार्थपूर्वक ग्रहण किया है। इसकारण उनके द्रव्यास्रव होते हुए भी राग का सम्बन्ध नहीं है तथा स्वरूप से च्युत हुए अज्ञानी जीवों को राग के सम्बन्ध में आने से पूर्वबद्ध कर्म नये कर्मबन्धन में कारण होते हैं, अर्थात् अज्ञानी को अनेक प्रकार के नवीन कर्मों का बन्ध होता है। जहाँ अबन्धस्वभावी आत्मद्रव्य पर से दृष्टि छूटी एव राग के संसर्ग में आई कि वहीं ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अन्तराय आदि आठों कर्म अनेक प्रकार से बँधते हैं। भाई! यहाँ तो मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय की बात है और सम्यग्दृष्टि को तो इस-प्रकार का राग ही नहीं है।

भाई! इस तत्त्व की बात का परिचय करके खूब अभ्यास करना चाहिये। शेष तो सभी धार्मिक क्रियायें अनेकबार कीं। खूब व्रत पाले, मुनि हुए, यात्रायें की, कठोर साधना की, परीषह सहे; परन्तु इन सबसे क्या? जबतक सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं किया, सब क्रियायें की, परन्तु इनसे आत्मा का किंचित् भी लाभ नहीं हुआ। जन्म-मरण के दुःख का अन्त नहीं आया। अतः आत्मतत्त्व को जानने-पहचानने का प्रयत्न करना ही सुखी होने का एकमात्र उपाय है। एतदर्थ जो भी साधन अनुकूल हों, उनके द्वारा आत्मा को जानो।

कलश १२१ के भावार्थ पर प्रवचन

शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव होना शुद्धनय है। उससे च्युत होने का अर्थ पूर्णानन्द के नाथ भगवान आत्मा की दृष्टि छूट जाना है तथा "मैं रागी-द्वेषी हूँ, पण्डित-मूर्ख हूँ, काला-गोरा हूँ तथा धनी-निर्धन हूँ" – आदि रूप से पर और पर्याय में एकत्व ममत्व करके मिथ्यादृष्टि बन जाना है।

जिसे शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप महाप्रभु भगवान आत्मा का अन्तर्दृष्टि पूर्वक अनुभव हुआ है, उसे शुद्धनय का ग्रहण हुआ है तथा जो उस परम पदार्थ भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव से भ्रष्ट होकर पर व रागादि विकारी पर्यायों में एकत्व-ममत्वरूप अशुद्ध परिणमन करता है, उसे शुद्धनय से भ्रष्ट होना कहते हैं। ऐसा होनेपर जीव को मिथ्यात्व सम्बन्धी रागादि भाव उत्पन्न होते हैं और उन भावों से कर्मबन्ध के कारण रूप द्रव्यास्रव होता है। तथा उस राग-द्वेष से द्रव्यास्रव नवीन

कर्मबन्ध का कारण होता है और उससे अनेक प्रकार के आठों ही प्रकार का कर्मबन्ध होता है।

अहा ! जब सम्यक्‌रुचि थी, तब तो राग की उत्पत्ति हिंसा व राग की अनुत्पत्ति अहिंसा ऐसा मानता था। उस रुचि के पलटने पर अर्थात् मिथ्यारुचि के उत्पन्न होने पर पुनः ऐसा मानने लगा कि राग की उत्पत्ति भी अहिंसा है अर्थात् पर की दया का भाव, पर को सुखी करने का भाव, पर की सहायता करने का भाव करना धर्म है। अरे ! शुद्धनय से भ्रष्ट होने पर जिससे आत्मा की हिंसा होती है, उसमें अहिंसा मानने लगा है।

इसप्रकार यहाँ शुद्धनय से च्युत होने का अर्थ शुद्धता के भान से सम्यक्त्व से च्युत होना किया है। देखो, पण्डित जयचन्दजी ने कैसा सरस स्पष्टीकरण किया है। शुद्धनय से च्युत होना अर्थात् मैं शुद्ध चिदानन्द-घनस्वरूप हूँ – ऐसे विश्वास के परिणाम से पतित होकर "मैं रागी हूँ व अल्पज्ञ हूँ" – ऐसा मानने लगना ही मिथ्यादृष्टि हो जाना है। शुद्धनय से च्युत होने का मुख्य अर्थ शुद्धस्वरूप की प्रतीति से च्युत होना है।

यहाँ उपयोग की अपेक्षा गौण है। अर्थात् शुद्ध से च्युत होने का अर्थ शुद्धोपयोग से च्युत होना मुख्य नहीं है। शुद्धोपयोग अर्थात् अन्तर में ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के भेदों का लक्ष्य छोड़कर ज्ञायक के अनुभव में उपयोग की जमावट होना शुद्धोपयोग है। ऐसे शुद्धोपयोग से छूटकर विकल्प में आने की – राग में आने की बात यहाँ गौण है।

सम्यग्दृष्टि शुद्धोपयोग में से छूटकर अशुद्धोपयोग में आवे ऐसा अर्थ यहाँ मुख्य नहीं है, किन्तु शुद्धस्वभाव से भ्रष्ट होकर राग की रुचि में आवे यही अर्थ यहाँ मुख्य है, क्योंकि निज परमात्म द्रव्य के अनुभव की स्थिरता-रूप व शुद्धोपयोगरूप ध्यान की दशा अल्पकाल ही रहती है। इसलिये ज्ञान शुद्धोपयोगरूप अल्पकाल रहकर अन्य ज्ञेयों में चला जाता है। शुद्धो-प्रयोग में लम्बेकाल तक नहीं रह सकता, इसकारण ज्ञान राग को जानने की दशा में आ तो जाता है; किन्तु 'राग करने लायक है' – ऐसा अभिप्राय नहीं होने से ज्ञानी को राग को जानने की दशा में भी अल्पबन्ध होता है। समकिती के अभिप्राय में राग उपादेय नहीं होने से जो राग का अंश उत्पन्न होता है, उससे अल्पबन्ध होता है और वह अल्पबन्ध संसार का कारण नहीं है। अतः यहाँ उपयोग से च्युत होनेवाली बात मुख्य नहीं है।

अहा ! जो शास्त्र की एक बात भी यथार्थ समझ ले वे तो उसके ख्याल में वस्तु का यथार्थ स्वरूप आ सकता है। भाई ! वस्तुस्वरूप की दृष्टि हुए बिना कोई लाभ नहीं होता। भले शास्त्रों का बहुत अध्ययन किया हो और लाखों लोगों को समझाने की शक्ति भी हो तो भी इससे अपने प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। अपने आत्मा को ग्रहण करने की अन्तर्दृष्टि होना ही सारी जिनवाणी का सार है, अतः उसे ही धीरज व शान्ति से प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। अरे ! लौकिक कार्यों के लिये बरसों लगा देता है और इस तत्त्व के अभ्यास के लिये समय नहीं निकालता – यह कैसा आश्चर्य है ?

कोई कहे कि लौकिक कार्य करने से पैसा आता है न ? और पैसे बिना दुनिया का कोई भी काम नहीं होता, उससे कहते हैं कि भाई ! पैसा (लक्ष्मी) तो पुण्य के कारण आता है, तेरे प्रयत्नों से नहीं। दुनिया में जो खूब चतुर हैं, दिनरात मेहनत करते हैं, नाना प्रयत्न करते हैं, फिर भी उन्हें पैसा उपलब्ध नहीं होता और जो बुद्धि के बारदाने हैं, मेहनत भी नहीं करते, प्रयत्न भी नहीं करते, फिर भी उनके पास ढेरों पैसा आते हमने प्रत्यक्ष देखा है। धन मिलने में किंचित् भी पुरुषार्थ की जरूरत नहीं है। हाँ धर्म की प्राप्ति करना प्रयत्न व पुरुषार्थसाध्य है। एकमात्र धर्म ही कर्तव्य है।

अब उपयोग की अपेक्षा अर्थ घटित करते हैं – जीव शुद्ध स्वरूप के निर्विकल्प अनुभव से छूटे, परन्तु सम्यक्त्व से न छूटे तो उसे चारित्रमोह के राग से किंचित् बन्ध तो होगा; किन्तु मिथ्यात्व न होने से अनन्त संसार का कारणभूत बन्ध नहीं होता. क्योंकि एक मिथ्यात्व ही वस्तुतः संसार का कारण है। फिर भी बन्ध तो आखिर बन्ध ही होता है, भले अनन्त ससार का कारण न हो, ज्ञानी ऐसा जानता है अतः उसे नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। तथा उपदेश शुद्धोपयोग से न छूटने का ही है। अन्तर में निर्विकल्प होने का उपदेश है।

केवलज्ञान होनेपर साक्षात् शुद्धनय होता है। वास्तव में तो त्रिकाली शुद्ध वस्तु ही शुद्धनय है, किन्तु इसका आश्रय केवलज्ञान प्रगट होने पर ही पूर्ण होता है। फिर आश्रय लेने के लिए कुछ शेष नहीं रहता। इस अपेक्षा केवलज्ञान होने पर ही साक्षात् शुद्धनय होता है। शुद्धनय के आश्रय का

अभाव हुआ, तब साक्षात् शुद्धनय होता है – ऐसा कहा है। वस्तुतः केवलज्ञान में नय है ही कहाँ ? वहाँ तो ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण हो गया है। अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति, अनन्त स्वच्छता एवं अनन्त प्रभुता पर्याय में प्रगट हो गई है, अतः वहाँ नय का प्रयोजन ही कहाँ रहा ? अतः वहाँ शुद्धनय का आश्रय नहीं रहा।

बापू ! तू अपनी जाति को छोड़कर कुजात (राग) का सेवन कर रहा है। तुझे असली व नकली धर्म की खबर नहीं है। दया, दान व्रतादि के विकल्पों को धर्म मानना तो नकली धर्म है तथा अन्दर में जो चिदानन्दघनस्वरूप निज भगवान विराज रहा है, उसकी प्रतीति करना – अनुभव करना असली धर्म है। व्यवहारधर्म को भी धर्म का नाम तो है, परन्तु वह परमार्थ नहीं है।

समयसार के निर्जरा अधिकार में ऐसा कहा है कि ज्ञानी धर्म को इच्छता नहीं है। वहाँ धर्म का अर्थ पुण्य ही किया है। समकिती (धर्मी) को जबतक पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति नहीं हुई, तबतक व्यवहार (शुभभाव) होता है तथा उपचार से उसे धर्म का कारण भी कहा है; किन्तु वह कोई वास्तविक कारण नहीं है। निमित्त का ज्ञान कराने के लिये उपचार से उसे कारण कहा है। दया, दान, भक्ति आदि के परिणाम धर्मी को आते हैं, किन्तु उसकी इनके ऊपर दृष्टि नहीं रहती। धर्मी तो इनका भी ज्ञाता रहता है। जिसतरह किसान की दृष्टि अनाज पर होती है, भुसा पर नहीं; उसीतरह धर्मी की दृष्टि चैतन्यस्वरूप पर होती है, पुण्यभाव पर नहीं। चौथे गुणस्थान में कोई समकिती है, वह भले छह खण्ड के राज्य के वैभव में हो, ९६ हजार रानियों के समूह में रहता हो तो भी वह श्रद्धा में उस राज्य वैभव को या उन रानियों को अपनी नहीं मानता, उसकी दृष्टि उन पर नहीं है, इसीलिए तो कहा है कि "भरतजी घर में ही वैरागी।" यह वस्तुस्थिति है, इसे यथार्थ जानना चाहिए।

समयसार गाथा १७९-१८०

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं ।
मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो ॥१७९॥
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं ।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा दु ते जीवा ॥१८०॥

यथा पुरुषेणाहारो गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधम् ।
मांसवसारुधिरादीन् भावान् उदराग्निसंयुक्तः ॥१७९॥
तथा ज्ञानिनस्तु पूर्वं ये बद्धाः प्रत्यया बहुविकल्पम् ।
बध्नंति कर्म ते नयपरिहीनास्तु ते जीवाः ॥१८०॥

यदा तु शुद्धनयात् परिहीणो भवति ज्ञानी तदा तस्य रागादिसद्भावात् पूर्वबद्धाः द्रव्यप्रत्ययाः स्वस्य *हेतुत्वहेतुसद्भावे हेतुमद्भावस्यानिवार्यत्वात् ज्ञानावरणादिभावैः पुद्गलकर्म बंधं परिणमयंति ।

अब इसी अर्थ को दृष्टान्तद्वारा दृढ़ करते हैं :—

जन से ग्रहित आहार ज्यों, उदराग्नि के संयोग से ।
बहुभेद मांस, वसा अरु, रुधिरादि भावों परिणमे ॥१७९॥
त्यों ज्ञानी के भी पूर्वकालनिबद्ध जो प्रत्यय रहे ।
बहुभेद बांधे कर्म, जो जीव शुद्धनयपरिच्युत बने ॥१८०॥

गाथार्थ :—[यथा] जैसे [पुरुषेण] पुरुष के द्वारा [गृहीतः] ग्रहण किया हुआ [आहारः] जो आहार है [सः] वह [उदराग्निसंयुक्तः] उदराग्नि से संयुक्त होता हुआ [अनेकविधम्] अनेक प्रकार [मांसवसारुधिरादीन्] मांस, चर्बी, रुधिर आदि [भावान्] भावरूप [परिणमति] परिणमन करता है, [तथा तु] इसीप्रकार [ज्ञानिनः] ज्ञानियों के [पूर्वं बद्धाः] पूर्वबद्ध [ये प्रत्ययाः] जो द्रव्यास्रव हैं, [ते] वे [बहुविकल्पम्]

---

*रागादिसद्भावे ।

न चैतदप्रसिद्धं, पुरुषगृहीताहारस्योदराग्निना रसरुधिरमांसादिभावैः परिणामकारणस्य दर्शनात् ।

अनेक प्रकार के [कर्म] कर्म [बध्नंति] बाँधते हैं; [ते जीवाः] ऐसे जीव [नयपरिहीनाः तु] शुद्धनय से च्युत होवे तो उसके कर्म बँधते हैं ।)

टीका :—जब ज्ञानी शुद्धनय से च्युत हो तब उसके रागादिभावों का सद्भाव होता है, इसलिये पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय, अपने (द्रव्यप्रत्ययों के) कर्म-बन्ध के हेतुत्व के हेतु का सद्भाव होने पर हेतुमानभाव का (कार्यभाव का) अनिवार्यत्व होने से, ज्ञानावरणादि भाव से पुद्गलकर्म को बंधरूप परिणमित करते हैं । और यह अप्रसिद्ध भी नहीं है (अर्थात् इसका दृष्टान्त जगत् में प्रसिद्ध है – सर्व ज्ञात है) ; क्योंकि मनुष्य के द्वारा ग्रहण किये गये आहार-को जठराग्नि रस, रुधिर, माँस इत्यादिरूप में परिणमित करती है यह देखा जाता है ।

भावार्थ:—जब ज्ञानी शुद्धनय से च्युत हो, तब उसके रागादिभावों का सद्भाव होता है, रागादिभावों के निमित्त से द्रव्यास्रव अवश्य कर्मबन्ध के कारण होते हैं और इसलिये कार्माणवर्गणा बन्धरूप परिणमित होती है । टीका में जो यह कहा है कि "द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्म को बन्धरूप परिणमित कराते हैं" सो निमित्त की अपेक्षा से कहा है । वहाँ यह समझना चाहिये कि "द्रव्यप्रत्ययों के निमित्तभूत होनेपर कार्माणवर्गणा स्वयं बन्धरूप परिणमित होती है ।"

गाथा १७६-१८० एवं उसकी टीका पर प्रवचन

देखो, गाथा १८० में "नयपरिहीणा" कहकर आचार्यदेव ने शुद्धनय को ही वास्तविक नय कहा है तथा व्यवहारनय को उपचरित होने से व्यवहार कहा है ।

शुद्ध चैतन्यपिण्ड प्रभु आत्मा का अनुभव होना या दृष्टि होना ही शुद्धनय है । तथा इसे छोड़कर दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभभाव में एकताबुद्धि होना "नयपरिहीना" अर्थात् नय से भ्रष्ट होना है, क्योंकि वह शुद्धनय से परिभ्रष्ट हो गया है । दूसरे प्रकार से कहें तो जो आनन्द के नाथ भगवान ज्ञायक के स्वरूप में से च्युत होकर राग की रुचि में चला

गया है, वह "नयपरिहीण" हो गया है अर्थात् वास्तविक नय से परिभ्रष्ट हो गया है।

'जब ज्ञानी शुद्धनय से च्युत होता है, तब उसे मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी सम्बन्धी रागादिभाव का सद्भाव होता है।' अहा! जहाँ स्वभाव की रुचि छूटी व राग की रुचि हुई, वहाँ फिर उसे मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी राग-द्वेष हो जाता है। रागादिभाव के सद्भाव का अर्थ यहाँ मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी राग-द्वेष का उत्पन्न होना है, केवल अस्थिरता के राग की बात यहाँ नहीं है। अहाहा! भले बाह्य में धर्मी को व्रत, संयम, तप आदि एवं निर्दोष आहारादि की क्रिया शास्त्रानुरूप भी दिखाई दे, तथापि जो अन्दर में विराजमान परमात्मस्वरूप चैतन्य भगवान आत्मा के वेदन से च्युत होकर दया, दान, व्रत, तप आदि के शुभराग की रुचि में आ जाय तो वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है तथा उसे अनन्तानुबंधी राग-द्वेष का सद्भाव हो जाता है।

इसप्रकार ज्ञानी के रागादि भावों का सद्भाव होने से 'पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय, अपने कर्मबन्धन के हेतुत्व के हेतु का सद्भाव होनेपर हेतुमान भावों का अनिवार्यत्व होने से, ज्ञानावरणादि भाव से पुद्गल कर्म को बन्धरूप से परिणमाते हैं।'

अहा! देखो, पुराने कर्म तो ज्ञानी व अज्ञानी दोनों की सत्ता में पड़े हैं, परन्तु ज्ञानी को इसके उदयकाल में दृष्टि के वेदन में आत्मा के आनन्द का वेदन है। इसकारण उसको मिथ्यात्व सम्बन्धी राग-द्वेष नहीं होता और उससे उसका वह उदय खिर जाता है एवं नवीन कर्मबन्ध का कारण नहीं होता; परन्तु जब वही आत्मा चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से भ्रष्ट होकर पर्यायबुद्धि हो जाता है एवं उसको राग में रुचि हो जाती है, तब मिथ्यात्व सम्बन्धी राग-द्वेष के सद्भाव के कारण तथा द्रव्यप्रत्यय (पूर्वबद्ध कर्म) नवीन कर्मबन्ध के निमित्त होने के कारण उसको बन्धन होता ही है। अज्ञानी होने पर दृष्टि पलट जाने से रागादिभावों का सद्भाव होता है। तथा वे नवीन कर्मबन्धन के निमित्त होने से उसे ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध तो होगा ही। यह बात अप्रसिद्ध भी नहीं है अर्थात् इसका दृष्टान्त जगत में प्रसिद्ध है, जिसतरह पुरुष के द्वारा ग्रहण किये गये आहार को उदराग्नि रस-रुधिर-मांस आदि भाव से परिणमित कराती ही है, उसीप्रकार अज्ञानी को जो राग-द्वेष-मोह हुआ है, वह पुद्गल कर्म

को ज्ञानावरणादि भाव से बन्धरूप परिणमित कराता है। राग-द्वेष-मोह कर्मबन्ध के निमित्त हैं न ? इसकारण कर्मबन्ध रूपसे परिणमाते हैं – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

भाई ! बात सूक्ष्म है, अतः समझने में थोड़ी कठिन अवश्य पड़ती है, परन्तु इसके समझे बिना सुखी होने का अन्य कोई उपाय नहीं है। भले कठिन लगे, दुर्लभ लगे अथवा कड़क लगे तो भी सुख का मार्ग तो एक मात्र यही है। इसके बिना जन्म-मरण से मुक्ति मिलना संभव नहीं है। बापू ! तेरी मान्यता के अनुसार तू बाह्य व्रतादि तो अनन्त बार कर चुका है, किन्तु उनसे तेरा आत्मा अपने स्वभाव में आजतक नहीं बस पाया।

अरे भाई ! वीतराग मार्ग में पुण्य-पाप के परिणाम से भिन्न होकर भेदज्ञान करके निज चैतन्य की दृष्टि व इसी का अनुभव करना धर्म है। तथा शुद्ध चैतन्य का आदर व दृष्टि छोड़कर राग का आदर व सत्कार करना ही अधर्म है।

अज्ञानी कहता है कि आगे आप कुछ भी कहो, परन्तु उपवास को तो तपश्चर्या माननो ही पड़ेगी और तपश्चर्या से निर्जरा एवं निर्जरा मोक्ष-मार्ग है। अपनी बात की पुष्टि में वह कहता है कि शास्त्रों में भी तप की व्याख्या करते हुए अनशन-उनोदर को तप कहा है।

उत्तर में कहते हैं कि हाँ भाई ! बात तो तुम ठीक कहते हो, परन्तु यह सब तो निमित्त का कथन है। भगवान आत्मा, जो आनन्द का नाथ चैतन्य महाप्रभु है, उसमें स्थिरता होनेपर शरीर-कुटुम्ब आदि के प्रति जब ममता छूटकर अन्दर में कषाय रहित परिणति हाती है, शुद्ध निर्विकल्प चैतन्यस्वरूप में लीनतारूप प्रतपन होता है, तो उसे निश्चय से तप कहते हैं तथा उस काल में जो सयोगरूप से अनशन यानि भोजन का त्याग होता है, उसे व्यवहार से अनशन आदि तप कहा जाता है।

लोक में तो कोई बाह्य में केवल उपवास आदि क्रिया करे, या वर्षों तपादि करे तो उसे तप कहा जाता है तथा उसकी खूब प्रशंसा की जाती है, सन्मान किया जाता है; परन्तु उसमें किंचित् भी तप नहीं है। भाई ! यह तो स्थूल राग है और इसे करके ऐसा माने कि मैंने उपवास किया तो वह मान्यता मिथ्यात्व है।

यहाँ तो "मैं चैतन्यमय हूँ" ऐसे अभिप्राय से च्युत होकर "मैं राग हूँ" ऐसा अभिप्राय हुआ, वहाँ शुद्धनय से भ्रष्ट हो गया। भले व्यवहार में कठोर क्रियाकाण्ड दिखाई दे, किन्तु यदि अन्तर से भ्रष्ट हो गया तो उसे नवीन कर्मबन्ध अवश्य ही होता है।

गाथा १७६-१८० के भावार्थ पर प्रवचन

वीतरागी सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में ऐसा आया है कि जो आत्मा निमित्त, राग व एक समय की पर्याय की दृष्टि छोड़कर अनन्त अकषाय शान्ति के पिण्ड, चैतन्यप्रकाश के पुंज भगवान आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करता है, वह ज्ञानी है, धर्मी है। ऐसा धर्मी अपने शुद्ध चैतन्य स्वभाव की महिमा से च्युत होकर एक समय की ज्ञान की वर्तमान अवस्था में अथवा दया, दान, व्रत आदि शुभराग की अवस्था की रुचि में आ जावे तो वह शुद्धनय से च्युत है। आत्मा सदा ज्ञानानन्दस्वभावी वस्तु है। उसके स्वभाव की दृष्टि मे रहना ही शुद्धनय में रहना है तथा उससे छूटकर दया, दान आदि पर्याय की रुचि हो जाना शुद्धनय से भ्रष्ट होना है।

जिसप्रकार नारियल में ऊपर की नरेटी एवं उसके अन्दर की कांचली अर्थात् गोले के ऊपर की लाली नारियल नहीं है, बल्कि अन्दर में जो सफेद गोला है, वह नारियल है; उसीप्रकार आत्मा के सयोग में विद्यमान शरीर व कर्मरूप शुभाशुभभाव आत्मा नहीं है, बल्कि अन्दर में विद्यमान जो निर्मलानन्द का नाथ शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा विराज रहा है, वह आत्मा है। शरीर की अवस्था बाल हो, युवा हो या वृद्ध हो, देह पुरुष का हो या स्त्री का हो, आबाल गोपाल सभी का आत्मा वस्तु के स्वभाव की अपेक्षा देखें तो त्रिकाल निर्मल ज्ञानानन्द स्वभावी ही है। ऐसे आत्मा की दृष्टि किये बिना जो कुछ दया, दान, व्रतादि किये जाते हैं, वह सब आत्मा का कार्य नहीं है, क्योंकि वह तो सब राग है। आत्मा का कार्य तो दृष्टि का चिदानन्दघन भगवान आत्मा में जाना तथा स्वभाव सन्मुख दृष्टि के होनेपर वर्तमान ज्ञान पर्याय में परिपूर्ण स्वज्ञेय का ज्ञान होना, अनुभव होना है। उसे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहते हैं। अहा! ऐसे सुख के पंथ में आ गया हो और फिर वहाँ से भ्रष्ट होकर पुनः राग की रुचि हो जाये, बाह्य व्रत, तप आदि के राग में रुक जावे तो वह शुद्धनय से भ्रष्ट होना है।

यह शरीर-मन-वाणी-वस्तु (मकान) आदि तो जड़ व नाशवान है तथा अन्दर में जो पुण्य व पाप का परिणाम होता है, वह भी क्षणिक व नाशवान है, उसके राग में फसना दुःख का ही पंथ है। भाई ! भगवान तो ऐसा कहते हैं कि जो राग का भाव है, वह व्यभिचारी भाव है। जो शुद्ध आत्मा की रुचि छोड़कर राग की रुचि में फंसता है, वह व्यभिचारी है। पद्मनंदि-पंचविंशतिका में कहा है कि अपने शुद्ध चैतन्य स्वभाव से च्युत होकर शास्त्र में जो बुद्धि जाती है, वह बुद्धि व्यभिचारिणी है। अहाहा ! एकबार सुन तो सही ! कि तू कौन है ? प्रभु ! तू पूर्णानंद का नाथ सच्चिदानंद स्वरूप भगवान आत्मा है। ऐसे स्वरूप से च्युत होना एवं शुभराग में फंसना – ये व्यभिचार है। गजब बात है, प्रभु ! यहाँ आचार्य कहते हैं कि यदि तू अपने स्वरूप के प्रेम से च्युत हो जाता है तो तुझे रागादि भाव का सद्भाव होता है, अर्थात् मिथ्यात्व सहित रागादि की उत्पत्ति होती है।

अब कहते हैं कि रागादि भावों के निमित्त से द्रव्यास्रव अवश्य ही कर्मबन्ध का कारण होता है और उससे कार्माणवर्गणा बन्धरूप परिणमती है। अन्तर आत्मा में तो शुद्ध ज्ञानानंद का मीठा-मधुर अमृतमय आनन्द उछल ही रहा है, किन्तु जब जीव उसकी रुचि से च्युत होकर राग की रुचि में आता है तो जो पूर्वबद्ध कर्म है, वह नवीन कर्मबन्ध में निमित्त होता है।

बापू ! इस जीव ने स्वरूप की समझ बिना दुःख में ही अनन्त काल बिताया है। इस शरीर की जवानी तथा पांच-पचास लाख रुपयों की होंश हो तो यह सब जहर की ही होंश है। अरे ! आत्मा जो अमृत का सागर है, इसने उसकी तो पहचान नहीं की और बाहर में ही अटका है, यही इसके दुःख का मूल है।

यहाँ कहते हैं कि ऐसे अमृत के सागर भगवान आत्मा की एकबार रुचि आये और फिर उसकी रुचि छोड़कर राग की महिमा में चला जाय तो रागादि का सद्भाव होने से नवीन कर्मबन्ध अवश्य होता है। यहाँ मिथ्यात्वसहित राग की बात है।

टीका में जो यह कहा है कि द्रव्यप्रत्यय पुद्गल कर्म को बन्धरूप से परिणमाता है, वह निमित्त की मुख्यता से कहा गया है। वहाँ यह

समझना कि द्रव्यप्रत्यय निमित्तभूत होने पर कार्माणवर्गणा स्वयं बन्ध-रूप से परिणमित होती है। तात्पर्य यह है कि नवीन कर्म जब स्वयं अपनी तत्समय की योग्यता से बँधते है, परिणमते हैं, तब पुराने कर्मों को निमित्त कहा जाता है।

यद्यपि ये सब बातें सुनने-समझने जेसी हैं, इनके यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान से भव का अभाव होता है, परन्तु इन्हें सुनने-समझने की फुरसत किसे है? लड़के लौकिक पढ़ाई में मशगूल (व्यस्त) हैं, व्यापारी माँ-बाप अपने-अपने व्यापारों में मशगूल हैं तथा नौकरीवाले अपनी नौकरी में मशगूल हैं, किन्तु भाई! इस तत्त्व को समझे बिना जीवन यो ही चला जायगा। अनन्तकाल में एकाधवार मनुष्यभव मिलता है, ऐसा अवसर बार-बार मिलना मुश्किल है। यह भव, भव बढ़ाने को नहीं, बल्कि भव का अभाव करने को मिला है। अतः जैसे भी भव का अभाव हो, वह उपाय करना चाहिए।

जिसमें भव व भव का भाव नहीं है, उस निज चैतन्यमय आत्मा का आश्रय लेने से भव का अभाव होता है। अतः उसका आश्रय लेना योग्य है।

अब इस सर्व कथन का तात्पर्यरूप श्लोक कहते हैं :—

(अनुष्टुप)

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बंधस्तदत्यागात्तत्यागाद्बंध एव हि ॥१२२॥

श्लोकार्थ —[अत्र] यहाँ [इदम् एव तात्पर्यं] यही तात्पर्य है कि [शुद्धनयः न हि हेयः] शुद्धनय त्यागनेयोग्य नहीं है; [हि] क्योंकि [तत् अत्यागत् बन्धः नास्ति] उसके अत्याग से (कर्म का) बन्ध नहीं होता और [तत् त्यागात् बन्धः एव] उसके त्याग से बन्ध ही होता है।

कलश १२२ पर प्रवचन

भाई! इस कलश में तो मक्खन ही मक्खन भरा है। यहाँ सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि शुद्धनय अर्थात् शुद्धनय का विषयभूत शुद्धतत्त्व त्यागनें योग्य नहीं है। परमानन्दमय शुद्ध चैतन्य भगवान आत्मा त्रिकाली उपादेय है, वही तेरी असली सम्पत्ति है। किसी के पास दो-पाँच करोड़

की लौकिक सम्पत्ति इकट्ठी हो भी जावे तो उससे क्या ? उसमें कुछ तथ्य नहीं है। जिसे तू अपनी सम्पत्ति समझता है, वह तो विपत्ति है। यह शरीर भी धूल-धानी ही है, इसमें भी तेरा चैतन्यस्वरूप नहीं है। अन्तर में विद्यमान पुण्य-पाप का भाव भी तेरी वस्तु नहीं है, क्योंकि ये आस्रव-भाव हैं। इसमें चैतन्य का अंश नहीं है, अतः ये भी जड़ ही हैं। इसप्रकार सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि का सार यह है कि शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप भगवान आत्मा ही एकमात्र उपादेय है। यह किसी भी कारण से छोड़ने योग्य नहीं है तथा जिस राग को अनादि से पर्याय में उपादेय मान रखा है, वह एक क्षण को भी ग्रहण करने योग्य नहीं है।

एक भाई ने प्रश्न किया कि शास्त्र में बारह प्रकार के तपों का वर्णन आता है, उन तपों में प्रथम अनशन तप है। अनशन अर्थात् आहार का त्याग। आगम में इन तपों से निर्जरा कही गई है और निर्जरा को मोक्षमार्ग कहा है, धर्म कहा है, अतः व्रत, उपवास आदि को तो धर्म कहना ही होगा ? उसके समाधान में कहा था – अरे भाई ! यह शुद्धनय का प्रकरण है, अतः यहाँ जो अपेक्षा है, उसे समझना चाहिये। यहाँ तो यह कहते हैं कि 'मैं आहार का त्याग करता हूँ तथा उपवास को ग्रहण करता हूँ' – ऐसे भाव का नाम उपवास नहीं है, यह तो अपवास है। आत्मा में एक "त्यागोपादानशून्यत्व" नाम की शक्ति है। उसके कारण आत्मा किसी भी परद्रव्य का ग्रहण-त्याग नहीं करता। भगवान आत्मा तो अनादि से परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित ही है। अज्ञानी ने मात्र पर्याय में राग को पकड़ रखा है उसे त्यागना है व शुद्ध चैतन्यभाव को ग्रहण करना है। अहो ! सन्तों ने परमात्मा की वाणी के रहस्य का कैसा उद्घाटन किया है ? इस कलश का मूल तात्पर्य वीतरागता है। पंचास्तिकाय की १७२वीं गाथा में भी सर्व शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है – ऐसा कहा है।

यहाँ भी यही कहा है कि जिसे पूर्णानन्द का नाथ चैतन्य महाप्रभु भगवान आत्मा अनुभव में आया है, वह आत्मा त्यागने योग्य नहीं है। सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के त्याग से नहीं, बल्कि अनादर व अरुचि करने से ही आजतक बन्धन व दुःख हुआ है। स्वभाव का त्याग ही बन्धन एवं इसका अत्याग ही अबंधन अर्थात् मुक्ति है।

कुछ लोग कहते हैं कि इसमें समझने को है ही क्या ? जान लिया कि आत्मा है, बस इससे अधिक आत्मा में और जानने को क्या है ?

दया, दान, व्रत, तप आदि की क्रियाओं की बात करो कि इन क्रियाओं को कैसे करना चाहिए ? इनका क्या फल है ? आदि तो बात जुदी है। बस एक आत्मा-आत्मा……इससे क्या होगा ?

उनसे कहते हैं कि भाई ! एक आत्मा के जानने-समझने एवं श्रद्धा-ज्ञान व उसमें ही स्थिर होनेरूप आचरण करने से कल्याण होगा। इसके सिवाय सुखी होने का अन्य कोई उपाय नहीं है। इसके सिवाय सभी संसार के ही उपाय हैं। आज भी जगत के जिन जीवों ने आत्मा को जाना-पहचाना नहीं है, ऐसे अनन्ते जीव निगोद में हैं। यदि तूने भी आत्मा के जानने में अरुचि दिखाई तो निगोद के भव धर-धर के तेरा कचूमर निकल जायगा। वहाँ अक्षर का अनन्तवाँ भाग ज्ञान रह जायगा, अतः समय रहते आत्मा को जान लेना चाहिए।

छहढाला में भी यही कहा है –

"लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ,
तोरि सकल जग दन्द-फन्द, नित आतम ध्याओ।"

अर्थात् करोड़ों ग्रन्थों का एक यही सार है कि जग के समस्त दन्द-फन्दों को त्याग कर एक निज आत्मा का अनुभव करो।

अहाहा……! शुद्ध चिदानन्दघन परमात्मस्वरूप भगवान आत्मा अन्दर विराज रहा है, जिसने उसको उपादेय माना है और उसका आश्रय किया है, अब वह त्यागने योग्य नहीं है; क्योंकि इसके आश्रय से बन्ध नहीं होता। देखो, यह त्याग व अत्याग की कैसी गजब की व्याख्या है।

आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का और शुद्ध चैतन्य का घनपिण्ड है। भले उसकी पर्याय में पुण्य-पाप आदि विकार हों, किन्तु वस्तु के स्वभाव में वह विकार नहीं है। जिस सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ने ऐसी पुण्य-पापरहित निर्विकार वस्तु का अनुभव किया है, उपादेय रूप से ग्रहण किया है, उसे कर्मबन्ध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि निज चैतन्य के अत्याग से कर्म-बन्धन नहीं होता।

भाई ! यहाँ तो एक आत्मा की ही बात है। दुनिया को रुचे, वह माने न माने, उसके लिए वह स्वतंत्र है। तीर्थंकर के जीव ने भी अपनी पूर्व पर्यायों में मिथ्यात्वादि के अनन्त पाप किये थे, वे भी अनादि से

एकेन्द्रियादि की पर्यायों में रहे थे। उन्होंने भी जब अपने आत्मा को उपादेय बनाया और उसी में स्थिर हुए तभी तिरे थे।

अहा ! यहाँ विदेह क्षेत्र में त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा की जिस वाणी को सुनने एक भवावतारी इन्द्र स्वर्ग से आते हैं तथा जगल में से भी सकड़ों सिंह, बाघ तथा नाग आते हैं। वह वाणी कैसी होती होगी ? क्या उस वाणी में दुनियादारी के छोटे-मोटे कार्य करने की बातें आती होंगी ? नहीं, भगवान की वाणी में तो यह आया है कि आत्मा राग रहित परिपूर्ण चैतन्यस्वभाव से भरपूर वस्तु है, जिसमें एक समय की पर्याय की भी नास्ति है। ऐसी अपनी वस्तु को जिसने स्वीकार किया है, आश्रय किया है, उसे कर्मबन्धन नहीं होता तथा जिसने अपनी वस्तु का अनादर करके त्याग किया है, उसे अवश्य ही कर्मबन्धन होता है।

बाह्यत्याग करके ऐसा माने कि इससे कर्मबन्धन नहीं होगा तो ऐसा मानना मिथ्या है। तथा बाह्य त्याग नहीं किया, इसलिये कर्मबन्ध होगा ही ऐसा भी नहीं है। बाह्य में स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब-परिवार, दुकान-धंधा आदि छोड़कर ऐसा माने कि मैंने बड़ा भारी त्याग कर दिया है, दुनिया भी उसे बड़ा त्यागी मानती है, परन्तु विचारणीय बात यह है कि उसने किसका त्याग किया ? जब परद्रव्य को कोई ग्रहण ही नहीं करता तो त्याग कैसा ?

यहाँ तो त्रिकाली शुद्धनय का ग्रहण व राग का त्याग ही वास्तविक त्याग है, यही अबन्ध का कारण है एवं त्रिकाली स्वरूप का त्याग व राग का ग्रहण बन्ध का कारण है। इसके साथ भूमिकानुसार वस्तुओं के प्रति भी ममत्व का त्याग होने से संयोग का त्याग होता है, परमेश्वर का ऐसा वीतराग-मार्ग है। यही बात वीतराग वाणी में आती है।

त्रिलोकीनाथ परमात्मा कहते हैं कि जो अन्दर में विराजमान शुद्ध चैतन्यमूर्ति आनन्दघन भगवान आत्मा की रुचि – दृष्टि छोड़कर शुभराग के प्रति प्रेम व उसका आदर करता है, वह अज्ञानी बहिरात्मा बालक है। तथा जिसने दृष्टि में से राग की रुचि छोड़कर या राग का त्याग करके निज शुद्ध चैतन्यतत्त्व का आदर किया है, वह अन्तरात्मा युवा है और अन्तरात्मा ही जब परमात्मा हो जाते हैं तो वे वृद्ध अर्थात् वर्द्धमान हो जाते हैं। अरे ! इस शरीर का बालपन, युवावस्था या बुढ़ापा तो जड़ का परिणमन है, उससे आत्मा को क्या ?

'शुद्धनय त्याग करनेयोग्य नहीं है' – इस अर्थ को दृढ़ करनेवाला काव्य पुनः कहते हैं :–

(शार्दूलविक्रीडित)

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन्धृतिं
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम् ।
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः
पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यंति शांतं महः ।।१२३।।

श्लोकार्थ :—[धीर उदार महिम्नि अनादिनिधने बोधे धृतिं निबध्नन् शुद्धनयः] धीर (चलाचलता रहित) और उदार (सर्व पदार्थों में विस्तार युक्त) जिसकी महिमा है, ऐसे अनादिनिधन ज्ञान में स्थिरता को बांधता हुआ (अर्थात् ज्ञान में परिणति को स्थिर रखता हुआ) शुद्धनय, [कर्मणाम् सर्वंकषः] जो कि कर्मों का समूल नाश करनेवाला है, [कृतिभिः] पवित्र धर्मात्मा (सम्यग्दृष्टि) पुरुषों के द्वारा [जातु] कभी भी [न त्याज्यः] छोड़नेयोग्य नही है । [तत्रस्थाः] शुद्धनय में स्थित वे पुरुष, [बहिः निर्यत् स्वमरीचि-चक्रम्-अचिरात् संहृत्य] बाहर निकलती हुई अपनी ज्ञानकिरणों के समूह को (अर्थात् कर्म के निमित्त से परोन्मुख जानेवाली ज्ञान की विशेष व्यक्तियों को) अल्पकाल में ही समेटकर, [पूर्णं ज्ञान-घन-ओघम् एकम् अचलं शान्तं महः] पूर्ण, ज्ञानघन के पुञ्जरूप, एक, अचल, शान्त तेज को – तेजः पुञ्ज को [पश्यन्ति] देखते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं ।

भावार्थ :—शुद्धनय, ज्ञान के समस्त विशेषों को गौण करके तथा परनिमित्त से होनेवाले समस्त भावों को गौण करके, आत्मा को शुद्ध, नित्य, अभेदरूप, एक चैतन्यमात्र ग्रहण करता है और इसलिये परिणति शुद्धनय के विषयस्वरूप चैतन्यमात्र शुद्ध आत्मा में एकाग्र – स्थिर होती जाती है । इसप्रकार शुद्धनय का आश्रय लेनेवाले जीव बाहर निकलती हुई ज्ञान की विशेष व्यक्तताओं को अल्पकाल में ही समेटकर, शुद्धनय में (आत्मा की शुद्धता के अनुभव में) निर्विकल्पतया स्थिर होनेपर अपने आत्मा को सर्व कर्मों से भिन्न, केवलज्ञानस्वरूप, अमूर्तिक पुरुषाकार, वीतराग ज्ञानमूर्तिस्वरूप देखते हैं और शुक्लध्यान में प्रवृत्ति करके अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट करते हैं । शुद्धनय का ऐसा माहात्म्य है । इसलिए

श्री गुरुओं का यह उपदेश है कि जबतक शुद्धनय के अवलम्बन से केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तबतक सम्यग्दृष्टि जीवों को शुद्धनय का त्याग नहीं करना चाहिए।

कलश १२३ पर प्रवचन

देखो, भगवान आत्मा धीर एवं उदार है। धीर यानि शाश्वत्, स्थिर एवं चलाचलता रहित तथा उदार अर्थात् विश्व के समस्त ज्ञेयों को एक साथ जानने की सामर्थ्य से सहित है तथा विशेष बात यह है कि वह सबको एक साथ जाने तो, किन्तु उनका करे कुछ भी नहीं ऐसी गजब की उदारता उस ज्ञानस्वभाव में है। यहाँ उदार का अर्थ लौकिक अर्थ से भिन्न है। लोक में उदार उसे कहते हैं जो दानादि द्वारा लोकोपकार के काम करता है, किन्तु यहाँ लोकोत्तर मार्ग में आत्मा की उदारता ज्ञान-स्वभाव से लोकालोक को जानने एवं अकर्तृत्व की अपेक्षा कही गई है; अर्थात् ज्ञान-स्वभाव से आत्मा में ऐसी उदारता है कि वह जानता तो सबको है, किन्तु किसी का भला-बुरा कुछ भी नहीं करता।

यहाँ कोई कह सकता है कि सिद्धभगवान किसी का भला-बुरा करते हैं या नहीं अर्थात् सज्जनों की सहायता व दुर्जनों को दण्ड देते हैं या नहीं ?

उनसे कहते हैं कि भाई ! सिद्धपरमात्मा पर का कुछ भी कार्य नहीं करते। वे तो मात्र अपने अतीन्द्रिय आनन्द का एवं वीतरागी शान्ति का अनुभव करते हैं, निजानन्दरस में लीन रहते हैं। इस पर पुनः प्रश्न हो सकता है कि जिनके भक्त दुःखी होते रहें और वे केवल जानते-देखते रहें, कुछ भी मदद ही न करें तो वे कैसे भगवान होंगे ? जब हम-तुम जैसे साधारण मनुष्य भी अपनी शक्ति अनुसार दूसरों का भला करते हैं और भगवान किसी का भला न करें यह कैसे हो सकता है ? भगवान तो संकटमोचन होते हैं न ?

उनसे कहते हैं कि भाई ! यह तो तुम्हारी भूल भरी मान्यता है, एक तो यही अज्ञानभाव है कि हम पर का कार्य कर सकते हैं, क्योंकि जब वस्तु का स्वरूप ही नहीं है कि वह पर का कुछ करे तो फिर वीतरागी सिद्धभगवान पर में कुछ करें यह तो बात ही कहाँ रही ?

अहो ! ज्ञान की ऐसी उदारता है कि वह तीन लोक व तीन काल केवल जान सकता है। अरे ! इसके श्रुतज्ञान में भी परोक्षरूप से

लोकालोक को जानने की ताकत है। शक्तिरूप से तो उदार है ही, ज्ञान की निर्मल पर्याय की भी ऐसी उदारता है कि उसमें लोकालोक ज्ञात हो।

लोक में जिसतरह हम लोग किसी के द्वारा दी गई गाली को सुनकर ऐसी गांठ बाँध लेते हैं कि पचास-पचास वर्ष तक नहीं भूलते और समय-समय पर उसे बराबर याद करके अपनी कषाय को पुष्ट करते रहते हैं, इसीतरह हम आत्मा के गीत सुनकर उसकी गाँठ बाँध लें और उसीको बारम्बार याद करें, समय-समय पर उसकी पुनरावृत्ति करके विचार करे कि "मैं तो ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ चिदानन्द चैतन्यस्वभावी हूँ।" आचार्य कहते हैं कि हे भाई! तू अपनी परिणति को एकबार तो अपने आत्मस्वभाव में स्थिर कर!

यहाँ कहते हैं कि धीर व उदार जिसकी महिमा है ऐसे अनादि-निधन ज्ञान में स्थिरता करानेवाला तथा कर्मों का नाश करनेवाला शुद्धनय धर्मात्मा पुरुषों के द्वारा कभी भी छोड़ने योग्य नहीं है। अर्थात् त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक स्वरूप आत्मा का आश्रय करानेवाला एवं उसी में स्थिर करानेवाला शुद्धनय धर्मी पुरुषों के दारा कभी भी छोड़ने योग्य नहीं है।

अहाहा! जिसे अपनी पूर्ण वस्तु का आश्रय लेने से परिणति में पवित्रता व शुद्धता प्रगट हुई, सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हुआ, वह समकिती जीव कर्मों का मूल से नाश करनेवाला है, अर्थात् राग की उत्पत्ति करने-वाला नहीं है।

प्रश्न :—तो क्या धर्मात्मा को राग आता ही नहीं है?

उत्तर :—नहीं, ऐसी बात तो नहीं है। धर्मी जीवों को भी किंचित् राग होता है, परन्तु उस राग के वे कर्ता नहीं हैं, क्योंकि उनके राग करने का अभिप्राय नहीं है। वे तो निरन्तर स्वरूप में स्थिर होने का उद्यम करके क्रमशः राग का अभाव करने का ही प्रयत्न करते हैं।

प्रश्न :—क्या दया पालना, व्रत धारण करना, तपश्चरण करना आदि सत्कार्य नहीं हैं?

उत्तर :—जिसमें आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है, वे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सत्कार्य हैं। इसके सिवाय केवल बाह्य व्रतादि का राग सदाचरण नहीं है। धर्मी के व्रतादि को व्यवहार से सदाचरण कहते हैं यह बात जुदी है।

जो मिथ्यात्व दशा में है एवं अबतक अपने चैतन्य भगवान को जिसने स्वीकार ही नहीं किया है, उसके व्रतादि रूप आचरण को तो उपचार से भी सदाचरण कहना सभव नहीं है, क्योंकि उनके मूल सामायिक आदि को निरुपचार चारित्र कहा है ?

जिसने वीतरागमूर्ति ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा को स्वीकार करके उसका अनुभव किया है, वह वीतरागता के लाभ को प्राप्त करता है। सम्+आय=सामायिक, अर्थात् जिसमें समता का लाभ यानि वीतरागता का लाभ प्राप्त हो वह यथार्थ सामायिक है। आत्मा के भान बिना स्वानुभव बिना यथार्थ सामायिक नहीं होता। इसीप्रकार आनन्द के नाथ भगवान आत्मा को पुष्ट करने का नाम प्रोषध है। राग का पोषण छोड़कर निर्मलानंद के नाथ को दृष्टि में लेकर इसी में स्थिर होना आत्मा का ही पोषण करना पोसह (प्रोषध) है। जैसे चना पानी में डालने पर फूल जाता है, उसी तरह आनन्द के नाथ को दृष्टि में लेने से तथा उसमें स्थिर होने से जो आत्मा पुष्ट होता है, उसे ही पोसह कहते हैं। इस दृष्टि से अज्ञानी को न सच्चा सामायिक होता है और न प्रोषध।

बापू ! जिसे वीतरागता की यह बात पचती नहीं है, चित्त में बैठती नहीं है, जँचती नहीं है, उनको विरोध सा लगता है, परन्तु भाई ! मार्ग तो एकमात्र यही है। जब भी सुख के सच्चे मार्ग में जाना होगा, तब इसी मार्ग से जाना होगा।

"कृतिभिः" अर्थात् सुकृतवाले पवित्र धर्मी सम्यग्दृष्टि पुरुषों के द्वारा अन्तर में विराजमान निज चैतन्यमय परमात्मा का जो आदर किया गया, वह कुछ भी छोड़ने योग्य नहीं है। अहा ! व्रत-तप-भक्ति आदि के विकल्प भी उठते हैं, किन्तु अपने चैतन्यमय-निजात्मतत्त्व का आश्रय छोड़ने लायक नहीं है। जो विकल्प आते हैं, वे मात्र जानने लायक हैं अर्थात् वे मात्र ज्ञान के ज्ञेय हैं। चाहे जैसी प्रतिकूलता का प्रसंग बने, तो भी जिन्हें आत्म-कल्याण करना है तथा जन्म-मरण का अभाव करना है, उन्हें स्व का आश्रय छोड़ने योग्य नहीं है। दुःख के सागर में तो भगवान आत्मा अनादि से पड़ा ही है, अब जो आत्मदृष्टि प्राप्त करने का अवसर मिला है, वह चूकने जैसा नहीं है। आत्मस्वरूप में ही दृष्टि स्थिर करके अपना प्रयोजन साध ही लेना चाहिए। फिर बारम्बार यह अवसर पाना संभव नहीं है। 'ज्ञान में स्थिरता करने का नाम शुद्धनय है' – ऐसा जो कहा है

उसका तो अर्थ ही यह है कि अन्दर में शुद्ध चैतन्यस्वरूप का आश्रय ग्रहण किया है। शुद्धनय शुद्ध स्वरूप में ही स्थिरता करता है, वह स्वरूप से च्युत नहीं होता।

भाई ! यह तो अध्यात्मशास्त्र है, कोई कथा-वार्ता नहीं है। यह तो भगवान आत्मा-परमात्मा की कथा है। चिदानन्द चैतन्यमय भगवान आत्मा में प्राप्त हुई अन्तर की स्थिरता को छोड़कर व्यवहार के विकल्प की दशा में लाभ मानना, अटकना व उसीकी चर्चा करना विकथा है। शास्त्र में चार प्रकार की विकथा कही गई है स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा व चोरकथा। इसी का विस्तार करते हुए "भावदीपिका" में पच्चीस प्रकार की विकथा कही है। वहाँ राग के विकल्प से धर्म होता है, यह वार्ता भी विकथा है – ऐसा लिखा है।

अरे भगवान ! तुझे अपने ऊपर जरा भी दया नहीं आती, जो चैतन्य का आदर छोड़कर राग के आदर में अटक गया है ? प्रभु ! तूने अबतक अपनी हिंसा ही की है, आत्मघात ही किया है; क्योंकि तूने अपने त्रिकाली पवित्र प्रभु आत्मा के स्वरूप को स्वीकार न करके "मैं राग हूँ" ऐसा माना है। इसतरह तूने अपने सहजानन्दस्वरूप चैतन्यमूर्ति निज भगवान आत्मा से इन्कार करके एवं क्षणिक पुण्य-पाप के विकल्पों को निजपने स्वीकार करके अपनी जीवती-जागती ज्योतिस्वरूप निज चैतन्यज्योति का नाश किया है। हे भाई ! यदि तुझे दुःख से निर्वृत्त होने की इच्छा है तो राग की दृष्टि छोड़कर निज चैतन्य स्वरूप की दृष्टि कर, तथा शुद्ध चैतन्य-स्वरूप में ही स्थिर हो जा।

अब कहते हैं कि शुद्धनय में स्थित पुरुष बाहर में निकलती हुई अपनी ज्ञानकिरणों को अल्पकाल में ही समेटकर पूर्ण ज्ञानघन होता हुआ एक अचल, शान्त तेज को ही देखता है, उसी का अनुभव करता है।

देखो, कहते हैं कि शुद्धनय में स्थित अर्थात् चैतन्यमूर्ति निज ज्ञायक भाव में स्थित पुरुष बाहर निकलती हुई अपनी ज्ञानकिरणों के समूह को समेटकर अन्दर ज्ञानघन के पुंजरूप अविचल एक निज आत्मस्वरूप को अनुभवता है। ज्ञानकिरणों के समूह को समेटकर अर्थात् जो ज्ञान की पर्याय, पर तथा व्यवहार रत्नत्रय के आलम्बन से बाहर निकलती थी, उन्हें संकोच कर – रोककर शुद्ध चैतन्यघन निज परमात्मद्रव्य में विलीन

कर देता है । अहाहा······यहाँ कहते हैं कि ज्ञान की किरणें अर्थात् ज्ञान की पर्याय जो शुभाशुभभाव में बाहर जाती हैं, उन्हें समेट ले, रोक ले तथा अपने स्वरूप में मग्न कर दे, क्योंकि वे दोनों ही भाव आत्मा के हित के अनुकूल नहीं हैं । यदि तुझे आत्मशान्ति चाहिये हो तो विकल्पों में जाती हुई ज्ञान की पर्याय को शुभराग से भी समेटकर अपने में लानी होगी । और तो ठीक, किन्तु यदि तेरा उपयोग भेद के सूक्ष्म विकल्पों में भी अटक गया, तो भी आत्मा की शान्ति उपलब्ध नहीं होगी, क्योंकि अपने भगवान आत्मा में से वाहर निकलती हुई ज्ञान की पर्याय परावलम्बी होती है । स्वावलम्बन छोड़कर परावलम्बी होने में अपनी हानि ही हानि है, दुःख ही दुःख है ।

भाई ! यह वात तेरे अन्दर में भलीभांति समा जाना चाहिये । तुझे अपने निज आनन्द घर से वाहर निकलना कैसे पुसाता है ? अहा ! देव-शास्त्र-गुरु में जाती हुई पर्याय भी परावलम्बी है । दृष्टि के तो इसका निषेध वर्त ही रहा है, किन्तु यहाँ तो यह कहते हैं कि तू अन्दर में स्थिर होकर इस राग के परावलम्बन की प्रवृति को भी छोड़ दे । शीघ्रता कर विकल्प मत कर ! भगवन् ! तू अचिरात् अर्थात् अल्पकाल में ही तत्काल ही राग – विकल्प से पीछे हट जा ।

अरे भाई ! पहले इसका निर्णय तो कर कि मार्ग तो एकमात्र यही है ।

अहा ! वाहर निकलती हुई अपनी ज्ञानकिरणों के समूह को समेट ! ज्ञान की पर्याय स्वयं वाहर निकलती है, पर का अवलम्बन लेकर परावलम्बी होती है, वह किसी कर्म के कारण परावलम्बी नहीं होती । कर्म क्या करे ? कर्म तो निमित्त मात्र है, वह उपादान में कुछ करता नहीं है । यदि निमित्त उपादान का कुछ करे तो वह निमित्त ही नहीं कहलाएगा । निमित्त नहीं है ऐसी वात नहीं है, निमित्त है अवश्य; परन्तु वह पर में कुछ करता नहीं है – ऐसी वस्तु की व्यवस्था है ।

अव कहते हैं कि वह अनुभूतिस्वरूप भगवान शुद्धात्मा कैसा है ? यह भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से भरा "एक" है अर्थात् अभेद है तथा अपने चैतन्यस्वरूप से कभी चलायमान नहीं होता – ऐसा "अचल" है तथा अविकारी शान्तिस्वरूप तेजपुंज है ।

वह आत्मा अर्थात् धीर, उदार एक एवं ज्ञान का घनपिन्ड है। अहा ! ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान सामान्य अभेद एक है। उसमें जो विशेष भेद पड़ते हैं, तू उन भेदों में न उलझ, भेद के लक्ष्य से पीछे हटकर त्रिकाली ज्ञानघन एक सामान्य भगवान आत्मा में समा जा। त्रिकाली ज्ञानघन भगवान आत्मा अनादि से एक समय की पर्याय में रमण कर रहा है, इस वृत्ति को पलट दे तथा अपने निजानन्दघन स्वरूप में एकाग्र हो जा। इससे तुझे अपने पूर्ण ज्ञानघन के पुंज परमात्मा का स्वरूप दिखाई देगा।

अहाहा...... बाहर जाती हुई पर्याय को अन्तर्मुख करके देखने से तुझे निज भगवान के दर्शन होंगे। भाई ! यह भगवान की वाणी है, कुन्दकुन्द तो इसके आड़तिया हैं। हे भाई ! तू अपने हित की बात सुनकर उत्साहित हो जा। हां करना, ना नहीं करना। यदि ना करेगा तो कहीं नरक निगोद में जा पड़ेगा और हां करेगा तो तेरी हालत सुधर जावेगी। यदि तू अस्थिरता छोड़कर स्वभाव में स्थिर हो जावेगा तो परम शान्त अकषाय तेज का अनुभव करेगा, आत्मा का प्रत्यक्ष वेदन करेगा।

भाई ! तेरी जीवन नौका भवसमुद्र में न डूबे, एतदर्थ तू भव के भाव का अभाव करके अपने चैतन्यस्वरूप के तट पर आ जा। राग ने तुझे भवसमुद्र में डाल रखा है। चाहे शुभ राग हो या अशुभ दोनों ही संसार समुद्र में डूबने वाले मगरमच्छ हैं। यदि तू चेतेगा नहीं तो ये तुझे भवसागर में डुबोकर ही रहेंगे, अतः राग के फन्दे में से निकल जा और अपने अन्तःस्वरूप में लीन हो जा।

एक डाक्टर कहता था कि जैसा ये महाराज (श्री कानजी स्वामी) कहते हैं, यदि इन्हें वैसा ही मान लें तो फिर संसार में कुछ करने-कराने को रह ही क्या जाता है ? इस तरह तो सभी निकम्मे हो जावेंगे ? उनसे कहते हैं कि भाई ! संसार में कौन किसका क्या कर सकता है ? बापू ! ये जड़ की क्रियायें तो स्वयं जड़ से होती हैं। यह आँख में दवा की बूंद डाले और आँख ऊँची नीची हो तो ये क्रिया जड़ की अर्थात् आँख के परमाणुओं की है, किन्तु अज्ञानी को ऐसा लगता है कि यह क्रिया आत्मा स्वयं करता है, जबकि वह आत्मा का कार्य नहीं है। बापू ! तुझे खबर नहीं है कि इस क्रिया में तुझे जो कर्तृत्व का अभिमान है, वह मिथ्यात्वभाव है। यह मिथ्यात्वभाव तुझे चार गति में रुलायेगा। तुझे इस चतुर्गति

संसार से बाहर निकलना अति कठिन पडेगा। भाई! इस मिथ्यात्व का परम्परा फल निगोद है।

एक अठारह वर्ष की रूपवती विवाहिता लड़की थी, उसे एकवार शीतला (चेचक) निकली। सारे शरीर में रोम-रोम में फुंसियाँ फूट पड़ीं। अहा! प्रत्येक फुंसी के दाने में कीड़े पड़ गये। पारावार वेदना, वेचारी बिलख-बिलखकर रोये, चीख मार-मारकर चिल्लाए, भारी आक्रन्दन करे। अपनी माँ से कहे, माँ! मैंने इस भव में तो ऐसा कोई काम किया नहीं है, फिर ऐसी असहाय पीड़ा क्यों? मुझे कोई मार दे तो मैं इस दु.ख से मुक्त हो जाऊँ। मुझसे यह यह पीड़ा सही नहीं जाती। इसीतरह बिलखते-बिलखते ४८ घंटे में मर गई।

भाई! आनन्द का नाथ भगवान आत्मा जब तक अपने को नहीं जानेगा, तवतक इसकी पर्याय में ऐसे ही भयानक दु ख उत्पन्न होते रहेंगे। भाई! ऐसे दुःख तूने अनन्तबार सहे हैं, परन्तु तू उन्हें भूल गया है। आचार्य यहाँ तुझे उन दुःखों का स्मरण कराके उन्हें नष्ट करने का उपाय बताते हैं, तू उन्हें ग्रहण कर और सदा के लिए इन असह्य दुःखों से मुक्त हो जा।

कलश १२३ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, शुद्धनय मतिश्रुतज्ञान के समस्त विषयों को गौण करके तथा कर्म के निमित्त से हुए समस्त पुण्य-पाप के विकारी भावों को गौण करके अर्थात् भेद व विकार पर से लक्ष्य हटाकर एक चैतन्य मात्र शुद्ध ज्ञायक को ही ग्रहण करता है। तथा शुद्ध द्रव्य के लक्ष्य से शुद्धता के अंश को वृद्धिंगत करता जाता है। इसप्रकार बढ़ता हुआ शुद्धता का अंश एक अभेद का ही अभिनन्दन करता है।

देखो, उन भावों को "गौण करके" कहा है, अभाव करके नहीं कहा। समयसार की ग्यारहवीं गाथा में भी व्यवहारनय को गौण करके अभूतार्थ कहा है, अभाव करके नहीं कहा। मुख्य व गौण ऐसे दो भेद तो ज्ञान में पड़ते हैं, श्रद्धा में नहीं। धर्मी की तो सदैव अपनी शुद्ध चैतन्यमय वस्तु पर ही दृष्टि होती है।

दूसरी बात यह है कि मुख्य सो निश्चय व गौण सो व्यवहार ऐसा वस्तु का स्वरूप है, निश्चय सो मुख्य व व्यवहार सो गौण ऐसा नहीं है।

यदि ऐसा मानेगें तो पर की अपेक्षा से पर्याय भी निश्चय का विषय है, इस कारण पर्याय भी आश्रयरूप मुख्य बन जावेगी। उक्त दोनों कथनों में भारी अन्तर है, इसे ध्यान से समझ लेना चाहिए।

अहाहा........जिसे यहाँ शुद्ध, नित्य, अभेद, एक एवं चैतन्यमात्र कहा है, इसी को समयसार गाथा १४-१५ में अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नित्य, अविशेष एवं असंयुक्त कहा है। तथा इसी को समयसार की गाथा ७ में ज्ञानदर्शन व चारित्र के भेद को गौण करके एक शुद्ध ज्ञायकभाव कहा है, क्योंकि छद्मस्थ रागी जीवों को भेद के ऊपर दृष्टि जाने पर राग – विकल्प हुए बिना नहीं रहता। इसी से भेद को गौण करके शुद्धनय त्रिकाली अभेद द्रव्य को ग्रहण करता है। गाथा ११ में इसी को भूतार्थ कहा है। भाई! यह एकरूप ज्ञायक भाव ही मुख्य है, इसी की महत्ता है।

अज्ञानी जीव ने व्यवहार में तो अनन्तवार हजारों रानियों का भी त्याग किया एवं दिगम्बर साधु भी हुआ, पंचमहाव्रतादि सभी मूलगुण भी यथार्थ पाले, परन्तु एकबार भी द्रव्यस्वभाव में ध्रुवतत्त्व की शरण में नहीं आया। चैतन्य के सागर में डुबकी भी नहीं लगाई तो स्थिरता प्राप्त करने का तो अभी प्रश्न ही कहाँ है?

यद्यपि जबतक पूर्णानन्द की प्राप्ति नहीं हुई, तबतक भेद तो उत्पन्न होंगे ही; किन्तु शुद्धनय इन भेदों को गौण करके एक, अभेद चैतन्यमात्र को ग्रहण करता है। एक का अर्थ वेदान्त की भांति अद्वैत नहीं है, बल्कि यहाँ तो भेद या विशेषों को गौण करके अभेद सामान्य को एक कहा है। प्रवचनसार की १७२वीं गाथा में अलिंगग्रहण के १५वें बोल में वेदान्त की भांति आत्मा को सब मिलकर एक सर्वव्यापक मानने वालों को पाखण्डी कहा है।

यहाँ कहते हैं कि शुद्धनय एक अभेदरूप चैतन्यमात्र वस्तु को ग्रहण करता है, इसलिए परिणति शुद्धनय के विषयस्वरूप चैतन्यमात्र शुद्ध आत्मा में एकाग्र स्थिर होती जाती है। अहाहा........जिसने अपनी ज्ञान की पर्याय अभेद की ओर झुकाई है, वह क्रम-क्रम से अभेद में एकाग्र होती जाती है। राग की एकाग्रता छूटकर जहाँ स्वभाव की एकाग्रता हुई, वहाँ परिणति शुद्ध होकर सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानरूप हो जाती है, फिर विशेष एकाग्रता होने पर चारित्र होता है।

इसप्रकार शुद्धनय का आश्रय करनेवाले जीव अल्पकाल में बाहर निकलती हुई ज्ञान की पर्यायों को समेट कर, शुद्धनय में अर्थात् आत्मा की शुद्धता के अनुभव में निर्विकल्प रूप से ठहरकर सर्वकर्मों से भिन्न, केवलज्ञानस्वरूप अमूर्तिक पुरुषाकार, वीतराग ज्ञानमूर्तिस्वरूप अपने आत्मा को देखते हैं तथा शुक्लध्यान में प्रवृत्ति करके अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट करते हैं। शुद्धनय का ऐसा माहात्म्य है। अतः शुद्धनय के अवलम्बन से जबतक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हो जाता, तबतक सम्यग्दृष्टि जीवों को शुद्धनय छोड़ने योग्य नहीं है – ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।

पहले विकल्प में निर्णय तो कर कि मार्ग तो एकमात्र यह है। पहले विकल्प में यह निर्णय होता है कि भेद को लक्ष्य में से छोडकर अभेद की दृष्टि होनेपर जो अनुभव होता है, वह सम्यक्चारित्र है तथा उस चारित्र में अन्तर्मुहूर्त शुक्लध्यान में प्रवर्तन करने से केवलज्ञान होता है। सुखी होने की यही रीत है।

अब, आस्रवों का सर्वथा नाश करने से जो ज्ञान प्रगट हुआ, उस ज्ञान की महिमा का सूचक काव्य कहते हैं :—

(मन्दाक्रान्ता)

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽन्तः।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा-
नालोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥१२४॥

इति आस्रवो निष्क्रांतः।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ आस्रवप्ररूपकः चतुर्थोंकः॥

श्लोकार्थ :—[**नित्य-उद्योतं**] जिसका उद्योत (प्रकाश) नित्य है ऐसी [**किम् अपि परमं वस्तु**] किसी परम वस्तु को [**अन्तः सम्पश्यतः**] अन्तरंग में देखनेवाले पुरुष को, [**रागादीनां आस्रवाणां**] रागादि आस्रवों का [**झगिति**] शीघ्र ही [**सर्वतः अपि**] सर्व प्रकार [**विगमात्**] नाश होने से, [**एतत् ज्ञानम्**] यह ज्ञान [**उन्मग्नम्**] प्रगट हुआ, [**स्फारस्फारैः**] कि जो ज्ञान अत्यन्तात्यन्त (अनन्तानन्त) विस्तार को प्राप्त [**स्वरस-विसरैः**] निजरस के प्रसार से [**आ-लोक-अन्तात्**] लोक के अन्ततक के

[सर्वभावान्] सर्व भावों को [प्लावयत्] व्याप्त कर देता है अर्थात् सर्व पदार्थों को जानता है, [अचलम्] वह ज्ञान प्रगट हुआ तभी से सदाकाल अचल है अर्थात् प्रगट होने के पश्चात् सदा ज्यों का त्यों ही बना रहता है, चलायमान नहीं होता और [अतुलं] वह ज्ञान अतुल है अर्थात् उसके समान दूसरा कोई नही है।

भावार्थ :—जो पुरुष अंतरंग में चैतन्यमात्र परम वस्तु को देखता है और शुद्धनय के आलम्बन द्वारा उसमें एकाग्र होता जाता है, उस पुरुष को तत्काल सर्व रागादिक आस्रवभावों का सर्वथा अभाव होकर सर्व अतीत, अनागत और वर्तमान पदार्थों को जाननेवाला निश्चल, अतुल केवलज्ञान प्रगट होता है। वह ज्ञान सबसे महान् है, उसके समान दूसरा कोई नहीं है।

टीका :—इसप्रकार आस्रव (रंगभूमि में से) बाहर निकल गया।

भावार्थ :—रंगभूमि में आस्रव का स्वांग आया था, उसे ज्ञान ने उसके यथार्थ स्वरूप में जान लिया, इसलिए वह बाहर निकल गया।

कलश १२४ पर प्रवचन

देखो, जिसका ज्ञानप्रकाश नित्य है – ऐसे ज्ञानपुंज अभेद एकरूप आत्मद्रव्य को अन्तरंग में यथार्थ देखनेवाले पुरुषों के रागादि आस्रवों का शीघ्र नाश होने से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

उस केवलज्ञान की महिमा बताते हुए आचार्य कहते हैं कि वह प्रगट हुआ केवलज्ञान अचल है, अर्थात् प्रगट होने के बाद वह केवलज्ञान जैसे का तैसा रहता है, घटता-बढ़ता नहीं है, नष्ट भी नहीं होता। तथा वह ज्ञान अतुल है अर्थात् इस जैसा पूर्ण व निर्मल अन्य कोई ज्ञान नहीं है। उपमा रहित निरुपम है। अहाहा⋯! केवलज्ञान होनेपर परमात्मा जाने सब कुछ और करें कुछ भी नहीं। ऐसी बातें और ऐसा धर्म! एक वीतरागी दिगम्बर धर्म के सिवाय यह बात अन्यत्र कहीं भी नहीं है। अतः यह अनुपम है, अतुलनीय है। अन्य कोई वस्तु ही नहीं है, जिससे तुलना की जाय।

अहो! यह है भगवान की दिव्यध्वनि का मधुर नाद! वे कहते हैं कि हे भाई! तू अपने स्वरूप में जा तो सही! तुझे अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होगा। इसी में विशेष एकाग्र होने पर तुझे शान्तिस्वरूप

चारित्र की प्राप्ति होगी तथा परिपूर्ण एकाग्र होने पर केवलज्ञान प्रगट होगा, जो कि अचल व अनुपम है।

अब कहते हैं कि इस अज्ञानी जीव ने अपने ऐसे अनुपम, अचल, आत्मा को पामर मानकर मरणतुल्य कर रखा है। पर से सुख मानना ही इसकी पामरता है। पाँच-पचास लाख रुपया हो, पत्नी अनुकूल व रूपवान सुन्दर हो, लड़के-लड़कियाँ बुद्धिमान, सुन्दर व कमाऊ हों तो बस उनमें ही अपने को सुखी मान लेता है। उनसे कहते हैं कि भाई! तुझे यह क्या हो गया है? जो तू अपनी अनन्ती महत्ता भूलकर पर की महत्ता व ममता में मूर्छित हो गया है। बापू! इससे तो चैतन्य का घात हो रहा है।

अरे भाई! जिसका जीवन यों ही चला जायगा, वह मरकर पशु-पर्याय में जाकर जन्म लेगा। तथा क्रम-क्रम से पुण्य क्षीण होकर नरक-निगोद में जा पड़ेगा। तत्त्व का विरोध करनेवाले तो निश्चय से कालान्तर में निगोद ही जावेंगे, क्योंकि उन्हें आत्मा के हित करने का अवसर ही नहीं रहेगा तथा तत्त्व की आराधना करनेवाले नियम से अल्पकाल में अविचल मुक्तिदशा को प्राप्त करेंगे। नरक व स्वर्ग की गतियाँ तो शुभाशुभ भावों के फल हैं। वास्तव में तो दो ही गतियाँ हैं एक पंचमगति और दूसरी निगोद। जीव अनादि से निगोद में ही था और यदि यह अवसर चूक गया, पंचमगति में नहीं जा सका तो अनन्त कालतक फिर निगोद में ही रहना पड़ेगा। धर्म की आराधना से पंचमगति रूप मोक्ष व धर्म की विराधना से निगोदगति प्राप्त होती है।

व्यापारादि से जो पैसा की कमाई होती है, वह सब तो पाप की कमाई है। अन्तर में निज चैतन्यभगवान की शरण लेने पर ही पवित्रता की कमाई होती है। अहो! अन्दर में पूरा का पूरा चैतन्य का निधान पड़ा है न? अनन्त सत् का तत्त्व एवं अनन्त गुण-स्वभाव की खान अन्दर में पड़ी है। अहा.......! भगवान आत्मा अनन्त गुणों का गोदाम अनन्त शक्तियों का सग्रहालय है। इसकी पर्याय में राग का होना ही इसका बड़ा भारी नुकसान है। ज्ञानी को बीच-बीच में व्रतादि का व्यवहार – राग आता है, किन्तु है वह नुकसान ही। ज्ञानी उसे अन्तः एकाग्रता के अभ्यास से दूर करता हुआ अन्तर में परिपूर्ण एकाग्रता करके केवलज्ञान उत्पन्न करता है। ऐसा केवलज्ञान सदा अचल व अतुल है – ऐसा यहाँ कहा है।

कलश १२४ के भावार्थ पर प्रवचन

जो पुरुष अन्तरंग में चैतन्यमात्र परमवस्तु को देखता है तथा शुद्धनय के अवलम्बन से उसी में एकाग्र होता जाता है, उस पुरुष के तत्काल सर्व रागादिक आस्रवभावों का सर्वथा अभाव होकर समस्त अतीत-अनागत व वर्तमान पदार्थों को जाननेवाला निश्चल अतुल केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। वह ज्ञान सबसे महान है, उससे महान लोक में अन्य कुछ भी नहीं है।

ऐसे केवलज्ञान का स्वरूप व महिमा सुनकर कोई पूछ सकता है कि केवलज्ञान के अनुसार तो जिस द्रव्य की जो पर्याय जिस समय होनी होगी, वह तभी होगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमबद्ध है, क्या ऐसी श्रद्धा से पुरुषार्थ का अभाव नहीं हो जायगा ? जब सबकुछ निश्चित हो तो उसमें किसी को करने का अवसर ही कहाँ रहा ?

समाधान यह है कि यद्यपि प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमबद्ध है तथा जिस समय जो पर्याय होनी हो, उस समय वही होती है; तथापि पुरुषार्थ का लोप नहीं होता, क्योंकि ऐसी क्रमबद्ध पर्याय के सिद्धान्त का जिसे निर्णय हुआ है, उसे तो स्वभाव की अन्तर्दृष्टिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट हो गया है और आत्मा का दर्शन हो जाना ही यथार्थ पुरुषार्थ है। जिसे पर्यायबुद्धि या पर्यायदृष्टि दूर होकर अन्तर्दृष्टि या द्रव्यदृष्टि प्राप्त हो, उसे ही क्रमबद्ध का यथार्थ निर्णय होता है तथा क्रमबद्ध का निर्णय ही अपने आप में यथार्थ पुरुषार्थ है, क्योंकि क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में जीव का अज्ञानजनित समस्त कर्तृत्व एवं कर्तृत्व का अहंकार छूट जाता है एवं अकर्तृत्व एव ज्ञाता-दृष्टापना प्रगट हो जाता है।

"इसप्रकार आस्रव रंगभूमि से बाहर निकल गया" अर्थात् जीव आस्रव का स्वांग लेकर रंगभूमि में आया था, किन्तु जब ज्ञान ने उसका यथार्थ रूप पहचान लिया तो बाहर निकल गया। पुण्य-पाप का भाव दुःख-रूप है – ऐसा भेदज्ञान होनेपर आत्मा आत्मा में ठहर गया, स्थित हो गया तो अपनी नियति के अनुसार आस्रव नाश को प्राप्त हो गया। तब आस्रव का स्वांग भी रंगभूमि से बाहर चला गया।

योग कषाय मिथ्यात्व असंयम आस्रव द्रव्यत आगम गाये,
राग विरोध विमोह विभाव अज्ञानमयी यह भाव जताये;
जे मुनिराज करें इनि पाल सुरिद्धि समाज लये सिव थाये,
काय नवाय नमूं चित लाय कहू जय पाय लहूं मन भाये।

इसप्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव-प्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में आस्रव का प्ररूपक चौथा अंक समाप्त हुआ।

ग्रन्थ के अन्त में पण्डित जयचन्दजी ने अपनी हिन्दी टीका का समापन करते हुए उपरोक्त पद्य रचा है।

पद्य की प्रथम पंक्ति में आगम में उल्लिखित द्रव्यास्रव की बात कही है। अर्थात् मिथ्यात्व-कषाय-असंयम व योग रूप द्रव्यास्रव का उल्लेख किया है तथा द्वितीय पक्ति में भावास्रव को बात कही है। अर्थात् मोह-राग-द्वेष रूप जो आत्मा की अज्ञानमय परिणति रूप भावास्रव है, उसका उल्लेख किया है। तीसरी व चौथी पंक्ति में पण्डित जयचन्दजी उन मुनिराजों को स्मरण करते हुए नमन करते हैं, जिन्होंने निज निर्मल विज्ञानघनस्वभाव में रहकर अपने में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष का मार्ग ही अवरुद्ध कर दिया है। अर्थात् जिनके अतीन्द्रिय आनन्दमय आत्मा के अवलम्बन से राग-द्वेष की उत्पत्ति का अभाव हो गया है एवं आनन्द आदि अनन्त गुणों की वृद्धि करके जो मुक्ति को प्राप्त हो गये हैं, या होवेंगे।

इसप्रकार मुनिवरों की विनयपूर्वक स्मरण एवं नमन करके ग्रन्थ समापन का मंगलाचरण करते हुए स्वयं भी मुनि बन कर मुक्ति प्राप्त करने की कामना की है।